सद्गुरु चरण चञ्चरीकः

सनातन धर्म मार्तण्डः

प्रणेता

दण्डी स्वामी सिद्धेश्वर आश्रमः

प्रकाशक

सिद्धेश्वर आश्रमः

महावीर घाट, कालाकाँकर,

प्रतापगढ (अवध)

प्रकाशक
सिद्धेश्वर आश्रमः
महावीर घाट, कालाकाँकर,
प्रतापगढ (अवध)

पुस्तक प्राप्तिस्थान
वसन्तलाल वैश्य (गुप्त)
कालाकाँकर, प्रतापगढ (उ० प्र०)

प्रथमावृत्ति २०००
भेंट दश रुपये

मुद्रक
भार्गव प्रेस,
१-ए, बाई-का-बाग,
इलाहाबाद २११००३

भूमिका

एकोनदन्त नख-विक्रमीय संवत्सरे पौष शुक्ल पञ्चम्यांभृगौ स्वान्त: करण सुखपूर्वक जनहिताय परोपकाराय मनुधर्मसारभूतं सकल धर्म तत्वं चाहं सिद्धेश्वरः धर्म तत्वनामकं पुस्तकं विरचयामि। को मानवः। मनोर्जाताः मानवाः। मानवायोचित मिदंयत् सः परमेशस्य ज्ञानं लभताम्। धर्मस्य तु मानवे विशेषतास्ति। आहारादयस्तु पशुस्वपिभवन्ति।

आहार निद्राभय मैथुनं च सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषः धर्मेण हीनाः पशुभि: समानाः॥

अर्थ = २०३१ विक्रम संवत्सर पौष महीने की शुक्ल पक्ष की पञ्चमी दिन वृहस्पतिवार को अपने अन्तःकरण के सुख के साथ मनुष्यों के कल्याण तथा परोपकार के लिये मनुस्मृति (आदि) का सारभूत एवं धर्मों का सारभूत तत्व मैं सिद्धेश्वर धर्म तत्व नामक पुस्तक लिख रहा हूँ। इसमें कौन मनुष्य है उसे क्या करना चाहिये (आदि का विवेचन है) क्योंकि मानव का सर्व सम्मत विचार ईश्वर में विश्वास एवं ज्ञान प्राप्त करना ही है यही सभी धर्मों के अन्दर भी निहित है। धर्म ही एक विशेष मानव का गुण है आहार निद्राभय मैथुन आदि तो पशु में भी होते हैं। "आचारः प्रथमो धर्मः" की उक्ति के अनुसार "आचार हीनं न पुनन्ति वेदाः" और आचारः कुलमाख्याति" सद्‌वचनों से आचार का प्रथम मुख्य स्थान है। काल क्रम के प्रभाव से आचार ज्ञान में लोगों का संशय है ऐसा मैंने बहुधा देखा और जाना। विद्वान् लोग तो उसका ज्ञान श्रुतिस्मृत्यादि से कर लेते हैं। अतः सभी-वर्णाश्रमियों को अपने-अपने अधिकारानुसार कर्म करने का सुवसर प्राप्त हो एतदर्थ इस सद् ग्रन्थ का प्रणयन किया जा रहा है। इसमें पक्षपात शून्य शास्त्रीय आधार का ही संग्रह है।

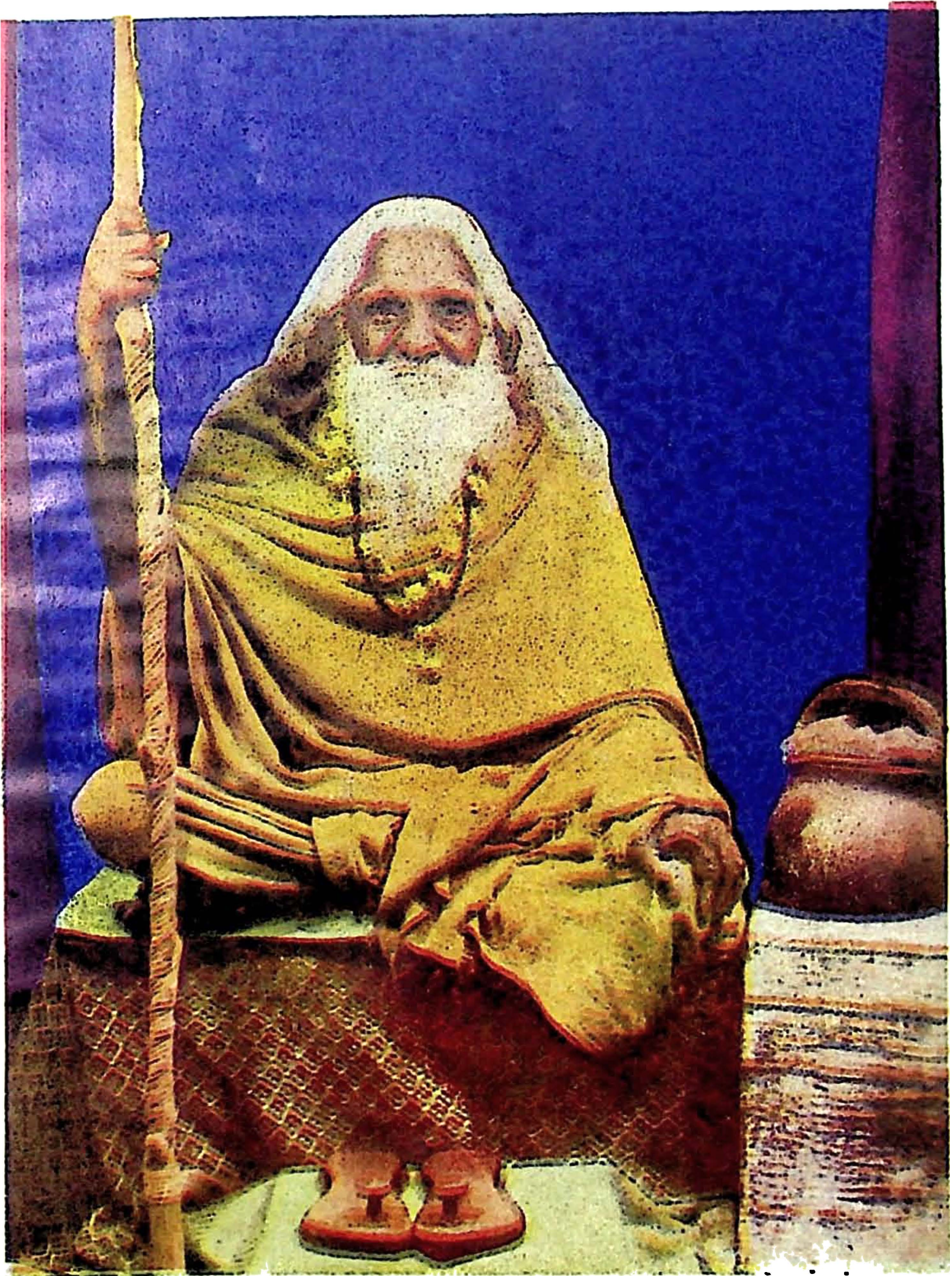
इस ग्रन्थ में अक्षर तथा मात्रावों का शुद्ध स्वरूप व्याकरण के आधार पर सुनियोजित किया गया है।

समर्पण

श्री श्री गुरुदेव तथा श्री श्री विश्वपति की कृपामयी प्रेरणा से ही इस महान् ग्रन्थ के लिखने एवं संग्रह करने की शक्ति प्राप्त हुयी उन्हीं (अनन्त श्री विभूषित श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ परमहंस परिव्राजकाचार्य **श्रीमद् दण्डी स्वामी गुरुदेव जी** सच्चिदानन्द आश्रम जी महाराज सद्गुरु सदन माया कुण्ड हृषीकेश देहरादून) के पवित्र चरण कमलों में सभक्ति सर्मपित ।

ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।
ॐ तत् सत् । ब्रह्मार्पणमस्तु ।

अनन्त श्री विभूषित स्वामी सच्चिदानन्द आश्रम जी महाराज।



ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यादतीतं शुद्धं बुद्धं मुक्तमप्यव्ययं च।
सत्यं ज्ञानं सच्चिदानन्दरूपं ध्यायेदेवं तन्महो भ्राजमानम्॥

श्री-दण्डी स्वामी सच्चिदानन्द आश्रमः

सद्गुरुसदन माया कुण्ड हृषीकेष (उ० प्र०)

श्री-मद्भक्तशिष्यदास्था-सिद्धेश्वराश्रमजी नारायण शुभाशीर्वाद

आपके अत्युत्कट विवेक पूर्ण सनातन धर्म संग्रह देख पढकर ऐसा प्रतीत होता है कि आप धर्म मर्यादा में स्थित आदर्श पुरुष के लिये धर्मादि की परमावश्यकीय अनेक सद्ग्रन्थों से चुन-चुन कर एकत्र करके 'सनातन धर्म मार्तण्ड, नामक ग्रन्थ का संग्रह किया है। इससे धर्म जिज्ञासुवों को परम लाभ प्राप्त होगा। यही दिव्य शुभाशीर्वाद है कि इससे जनता अधिकारानुसार अपने-अपने मलविक्षेप आवरण रूपत्रय दोषों से निवृत्त होकर सदाचारी, धर्मात्मा ज्ञान ज्ञानी भक्त बने। आपका कठिन परिश्रम सुफल होवे।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

यतिचक्रचूडामणि अनन्त श्री विभूषित श्री हरिहरानन्द सरस्वती (स्वामी श्री करपात्री जी महाराज) के प्रमाणित हस्ताक्षर।

श्री गुणेश्वर आश्रम दण्डी स्वामी

शंकर धाम माया कुण्ड हृषी केश (देहरादून)

इस पुस्तक का प्रयोजन है तीनों दुःखों से संतप्त मनुष्यों को शान्ति मिले।

इस पुस्तक के अधिकारी सनातन धर्म प्रेमी दुःख जिज्ञासु सब होंगें। इस पुस्तक का सम्बन्ध स्वधर्म से है। धर्मो रक्षति रक्षितः।

त्रिलोक धर द्विवेदी

नव्य व्याकरण-वेदान्ताचार्यः काव्य तीर्थः एम. ए. हिन्दी साहित्यरत्नः,

प्रधानाचार्यः जय भारत साधु महाविद्यालय हरिद्वार दिनाङ्क १-८-१९७६ श्री दण्डी स्वामी सिद्धेश्वराश्रम जी द्वारा प्रणीत श्री-सनातन धर्म मार्तण्ड नामक ग्रन्थ का प्रकरणशः अवलोकन मैंने किया तथा शास्त्रीय प्रक्रिया से तत्तत्स्थलों का परीक्षण भी किया। यह ग्रन्थ सनातन धर्मावलम्बी जनता के लिये अत्यन्त उपयोगी है। सनातन धर्म के समस्त विषयों का पूर्णतः शास्त्रीय दृष्टि से सप्रमाण विवेचन किया गया है। बहुत से गूढ एवं अप्रसिद्ध तत्वों का पूर्णतः स्पष्टीकरण दिया गया है। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यास आश्रमों की विशेषतायें अच्छी तरह समझायी गयी है यज्ञोपवीत के सूत्रों का महत्व तथा उनमें स्थित देवतावों का सप्रमाण विवेचन देखकर ज्ञात होता है कि श्री स्वामी जी ने कितना गम्भीर अध्ययन कर इस ग्रन्थ का प्रणयन किया है, गुरु दीक्षा के महत्व एवं विधि का विवेचन कर धार्मिक विश्वास दृढ किया है। इस ग्रंथ का प्रत्येक विषय धर्म प्राण जनता के लिये अत्यन्त उपयोगी तथा लाभप्रद है। श्री स्वामी जी ने इस ग्रन्थ के निर्माण द्वारा जनता का अत्यन्त कल्याण किया है। इस ग्रन्थ के प्रचार प्रसार के लिये मैं अत्यन्त अभिलाषी हूँ।

राम वृक्ष पाण्डेयः

व्याकरण वेदान्त साहित्य एम० ए० (संस्कृत) पी-एच० डी०

प्रधानाचार्यः, जय भारत साधु संस्कृत महाविद्यालय हरिद्वार

दिनाङ्क २०-६-१९७६

श्री दण्डी स्वामी जी द्वारा प्रणीत इस ग्रन्थ का निरीक्षण कर मुझे अपार हर्ष हो रहा है, क्योंकि इस युग में नष्ट होती हुयी सदाचार परम्परा का संरक्षण करने में यह ग्रन्थ महान उपयोगी सिद्ध होगा। अनेक धर्म शास्त्रों में विभिन्न रूप से निहित संस्कारों का इस ग्रन्थ में एकत्र वर्णन होने से इस ग्रन्थ की उपादेयता अधिक बढ़ जाती है। जब तक मानव संस्कारों से संस्कृत नहीं होगा तब तक हमारे देश की संस्कृति अक्षुण्ण नहीं रह सकती, अतः मैं तो समझता हूँ कि यह ग्रन्थ संस्कृतानुरागी व्यक्तियों के लिये अपूर्व सिद्ध होगा।

देवनारायण त्रिपाठी
व्याकरणाचार्य साहित्यरत्न
प्राध्यापक, जयभारत साधु महाविद्यालय हरिद्वार

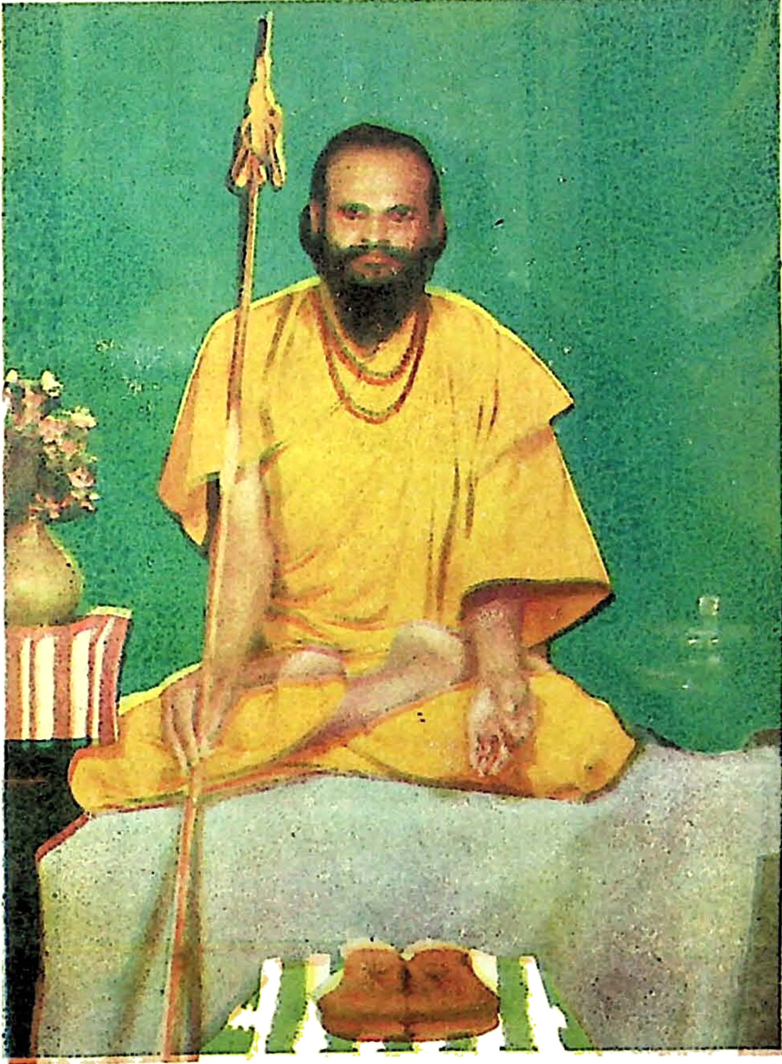
श्रद्धेय स्वामी जी के कर कमलों द्वारा ग्रथित धर्म प्रसूनोपहार मालिका।

"सनातन धर्म मार्तण्ड" रूप देखकर मन प्रसन्न हो उठा।

ऐसी कृति की आवश्यकता चिरकाल से थी जिससे आपामर धर्म तत्वों का अनायास लाभ प्राप्त कर सके। स्वामी जी ने सद्ग्रन्थ समुद्र का मन्थन कर यह सुधा कुम्भ प्रस्तुत किया है। मैं इसका प्रचार प्रसार हृदय से चाहता हूँ। साथ ही यह भी कामना करता हूँ कि भगवान् विश्वनाथ स्वामी जी के द्वारा ऐसी ही परोपकार कृति करवाते रहें।

परिच्छेद–सूची

अनन्त श्री विभूषित स्वामी श्री सिद्धेश्वर आश्रम जी महाराज



संसारस्य असारतां हृदि गुणन्, पतितो भवाब्धि जनान् ।
तत् तीर्णाय कृतप्रयासममलं ग्रन्थस्वरूपं शिवम् ।।
दानं सत्य तपः दयासद् युतम्, सर्वार्थं पूर्णं क्षमम् ।
शुद्धं शान्त सुविग्रहं यति वरं सिद्धेश्वराख्यं भजे ।।

विषय-सूची

प्रथम परिच्छेद

द्वितीय परिच्छेद

तृतीय परिच्छेद

चतुर्थ परिच्छेद

पञ्चम परिच्छेद

षष्ठ परिच्छेद

सप्तम परिच्छेद

॥ ॐ ॥

श्रीगणेशाय नमः

सनातन धर्म मार्तण्डः

प्रथमः परिच्छेदः

मङ्गलाचरणम्

परब्रह्मण नमः श्रीतीर्थराज प्रयागस्थ देवताभ्यो नमः।
शुक्लाम्बरधरं विष्णुं शशिवर्णं चतुर्भुजम्।
प्रसन्नवदनं ध्यायेत् सर्वविघ्नोपशान्तये॥
स जयति सिन्दुरवदनो देवो यत्पाद पंकजस्मरणम्,
वासरमणिरिवतमसां राशिं नाशयति विघ्नानाम्।
ॐ सच्चिदानन्दरूपाय कृष्णायाक्लिष्टकारिणे।
नमोवेदान्त वेद्याय गुरवे बुद्धि साक्षिणे॥

अर्थ=परब्रह्म को नमस्कार है, तीर्थराज प्रयाग में स्थित देवतावों को नमस्कार है। श्वेतवस्त्र धारण करनेवाले, चन्द्रमा के आकृतिवाले चारभुजावों वाले प्रसन्न मुखवाले विष्णु भगवान् को मैं सम्पूर्ण विघ्नों का नाश करने के लिये ध्यान करता हूँ। सिन्दूर से युक्त मुखवाले देवता गणेश की जय हो जिसके कमलरूपी चरणों के स्मरण मात्र से सूर्य के समान अन्धकार-रूपी विघ्नों का समूह ध्वस्त हो जाता है। मैं सत्-चित्-एवं आनन्दस्वरूप क्लेशों को दूर करने वाले वेदान्त के द्वारा जानने योग्य बुद्धि के साक्षीस्वरूप मैं उन गुरु कृष्ण के लिये नमस्कार करता हूँ।

गुरुवन्दना

नमोगुरुभ्यो गुरुपादुकाभ्यो नमः परेभ्यःपरपादुकाभ्यः।
आचार्य सिद्धेश्वरपादुकाभ्यो नमोस्तुनारायणपादुकाभ्यः॥

अर्थ=श्री गुरु चरण एवं उनकी पादुका, तथा पर ब्रह्म से भी परे उस आचार्य सिद्धेश्वर की पादुका तथा नारायण की पादुका को गुरु के सहित मैं नमस्कार करता हूँ।

शास्त्रीय प्रमाण

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधंप्राहुः साक्षाद् धर्मस्य लक्षणम्॥

अर्थ=वेद, स्मृति के अन्तर्गत सदाचार, और अपनी आत्मा की प्रसन्नता—ये चारों, धर्म के परिचायक हैं।

श्रुतिस्मृतिभ्यामुदितं यत् स धर्मः प्रकीर्तितः'—

अर्थ=वेद तथा धर्मशास्त्र में जो बताया गया है उसे धर्म कहते हैं।

श्रुतिस्मृत्युदितंधर्ममनुतिष्ठन् हि मानवः।
इहकीर्तिमवाप्नोति प्रेत्य चानुत्तमं सुखम्॥

अर्थ=श्रुति और स्मृति के द्वारा प्रतिपादित धर्म का अनुष्ठान करने वाला मनुष्य इस लोक में यश को पाता है और मृत्यु के पश्चात् परलोक में उत्तम सुख को पाता है।

आचारः प्रथमो धर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त एव च।
तस्मादस्मिन् सदा युक्तो नित्यं स्यादात्मवान्द्विजः॥

अर्थ=श्रुति एवं स्मृति प्रतिपादित सदाचार, श्रेष्ठ धर्म है अतः आत्मज्ञानी द्विज सदैव सदाचार से युक्त रहे। भगवती श्रुति ने धर्म के तीन स्कन्ध बताये हैं—त्रयोधर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथमस्तप एव द्वितीयो ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन् सर्वएते पुण्य लोका भवन्ति ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति। छा० उ० २-२३-१-धर्म के तीन आधारस्तम्भ हैं—यज्ञ, अध्ययन और दान-यह प्रथम स्कन्ध है। तप ही दूसरा स्कन्ध है। आचार्य कुल में रहनेवाला ब्रह्मचारी जो आचार्यकुल में अपने शरीर को अत्यन्त क्षीण कर लेता है—यह तीसरा स्कन्ध है। ये सभी पुण्य लोक के भागी होते हैं। और संन्यासी अमृतत्व को प्राप्त करता है। इस विवेचन से स्पष्ट है कि भारतीय हिन्दू जनता अपने धर्म को सदा से श्रुति-स्मृति पुराणोक्त मानती चली आ रही है। इसी 'धर्म' शब्द के पूर्व 'स्व' जोड़ने से स्वधर्म शब्द बनता है, जिसका अर्थ अपना वर्णाश्रमधर्म, होता है। उसी के पूर्व 'पर' जोड़ने से परधर्म शब्द बनता है। जिसका अर्थ अपने-अपने वर्णाश्रम धर्म को छोड़कर दूसरे वर्ण आश्रम का धर्म जो भयावह है (परधर्मोभयावहः)।

धर्मेण हन्यते व्याधिः धर्मेण हन्यते ग्रहः।
धर्मेण हन्यते शत्रुर्यतो धर्मस्ततो जयः॥

अर्थ=धर्म से रोग नष्ट होते हैं, धर्म से ग्रहों की पीडा नष्ट होती है, धर्म से ही शत्रुवों का विनाश होता है, और जहाँ धर्म होता है वहाँ विजय होती है। अब उस धर्मस्वरूप नियमसूत्र पर भी थोड़ा सा विचार कर लिया जाय जिसका संकेत पहले किया गया है। यह सृष्टि त्रिगुणात्मिका है अर्थात् सृष्टि के तीन गुण हैं जिन्हें सत्व, रज और तम कहते हैं। सृष्टि, की सभी वस्तुवों में ये तीनों गुण उपलब्ध होते हैं (सृष्टि की उत्पत्ति, रजोगुण से होती है, सत्वगुण से उसकी स्थिति, और तमोगुण से उसका संहार (प्रलय) होता है। यह समस्त विश्व, इन तीन अवस्थावों के वशीभूत है। इसी प्रकार यह जीवदेह भी जन्म लेता है, बढता है और मरता है। इसी अवस्था भेद से जीव देह की सृष्टि स्थिति और मुक्ति समझी जा सकती है।

ब्रह्मचारी प्रकरणम्

प्रथमंतावद्वर्णानाह—

ब्रह्मक्षत्रियविट्शूद्रा वर्णास्त्वाद्यास्त्रयो द्विजाः।
निषेकाद्याः श्मशानान्तास्तेषां वै मन्त्रतः क्रियाः। (याज्ञवल्क्यस्मृतिः)

अर्थ=ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—ये (चार) वर्ण हैं; इनमें आरंभ के तीन द्विज हैं। गर्भाधान से लेकर अन्त्येष्टि तक की इनकी सभी क्रियायें मन्त्रों द्वारा सम्पादित होती हैं।

इदानीं ताः क्रिया अनुक्रामति—

गर्भाधानमृतौपुंसः सवनं स्पन्दनात्पुरा।
षष्ठेऽष्टमे वा सीमन्तो मास्यते जातकर्म च॥
अहन्येकादशे नाम चतुर्थे मासि निष्क्रमः।
षष्ठेऽन्नप्राशनं मासि चूडा कार्या यथाकुलम्॥ (याज्ञ० स्मृ०)

अर्थ=गर्भाधान संस्कार (गर्भधारण के) समय पर होता है और पुंसवन गर्भचलन के पहले होता है; जन्म लेने पर जातकर्म, ग्यारहवें दिन नामकरण, चौथे मास में निष्क्रमण, संस्कार करे। छठें मास में अन्नप्राशन संस्कार करे और चूडाकरण संस्कार कुल की रीति के अनुसार करना चाहिये।

एतेषांनित्यत्वेऽप्यानुषङ्गिकंफलमाह—

एवमेनः शमं याति बीजगर्भ समुद्भवम्।
तूष्णीमेताः क्रियाः स्त्रीणां विवाहस्तु समन्त्रकः॥ (यज्ञ०)

अर्थ=इस प्रकार से (इन संस्कारों द्वारा) शुक्र और गर्भ से संवद्ध पाप शान्त होता है। ये (जातकर्मादि) स्त्रियों के लिये विनामन्त्र के किये जाते हैं और विवाह संस्कार मन्त्रों के साथ होता है।

उपनयनकालमाह—

गर्भाष्टमेऽष्टमेवाऽब्दे ब्राह्मणस्योपनायनम्।
राज्ञामेकादशेसंके विशामेके यथाकुलम्॥ (याज्ञवल्क्यस्मृतिः)

अर्थ=गर्भकाल से आठवें अथवा जन्म से आठवें वर्ष में ब्राह्मण बालक का उपनयन संस्कार होता है। इसी प्रकार कुल के अनुसार क्षत्रिय के लिये ग्यारहवें वर्ष में और वैश्य के लिये बारहवें वर्ष में यह संस्कार बिहित है।

गुरुधर्मानाह—

उपनीयगुरुः शिष्यं महाब्याहृति पूर्वकम्।
वेदमध्यापयेदेनं शौचाचारांश्च शिक्षयेत्॥ (याज्ञवल्क्यस्मृतिः)

अर्थ=गुरु शिष्य का उपनयन संस्कार करके उसे महाव्याहृतियों के साथ वेद पढ़ावे और शौच के नियमों की शिक्षा दे।

शौचाचारानाह—

दिवासंध्यासु कर्णस्थब्रह्मसूत्र उदङ्मुखः ।
कुर्यान्मूत्रपुरीषे च रात्रौ चेद्दक्षिणोमुखः ।। (याज्ञ० स्मृतिः)

अर्थ=यज्ञोपवीतकानपर चढाकर दिन में एवं संध्या को उत्तर की ओर मुख करके तथा रात्रि में दक्षिण की ओर मुख करके मूत्र और पुरीष का त्याग करे ।

गृहीत शिश्नश्चोत्थाय मृद्भिरभ्युद्धृतैर्जलैः ।
गन्धलेपक्षय करं शौचं कुर्यादतन्द्रितः ।।

अर्थ=शिश्न को पकड़ कर और उठाकर, अलग लिये गये जल और मिट्टी द्वारा (मल के) गन्ध एवं लेप को नष्ट करने वाला शौच आलस्यरहित होकर करे ।

अन्तर्जानु शुचौ देश उपविष्ट उदङ्मुखः ।
प्राग्वा ब्राह्मेण तीर्थेन द्विजो नित्यमुपस्पृशेत् ।।

अर्थ=ब्राह्मण प्रतिदिन दोनों घुटनों के बीच हाथ रख कर पवित्र स्थल पर उत्तर या पूर्व की ओर मुख करके बैठे और ब्राह्म तीर्थ से आचमन करे ।

आचमनप्रकारः—

हृत्कण्ठ तालुगाभिस्तु यथासंख्यंद्विजातयः ।
शुध्येरन्स्त्री च शूद्रश्च सकृत्स्पृष्टाभिरन्ततः ।। (याज्ञ०)

अर्थ=द्विजाति अर्थात् ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य क्रमशः हृदय, कण्ठ और तालु तक जल के पहुँचने पर शुद्ध हो जाते हैं । स्त्री और शूद्र तो तालु से एक ही वार जल स्पर्श करने पर शुद्ध हो जाते हैं ।

सावित्रीजपप्रकार :—

प्राणानायम्य संप्रोक्ष्य तृचेनाब्दैव तेनतु ।
जपन्नासीत सावित्रीं प्रत्यगातार कोदयात् ।।
संध्यां प्राक्प्रातरेवं हि तिष्ठेदा सूर्यदर्शनात् ।
अग्नि कार्यं ततः कुर्यात्संध्ययोरुभयोरपि ।। (याज्ञवल्क्यस्मृतिः)

अर्थ=प्राणायाम के उपरान्त मार्जन के मन्त्र से सिर पर जल छिड़क कर (सन्ध्या को) पश्चिम की ओर मुख कर के तारागण का उदय होने तक गायत्री का जप करे । इसी प्रकार प्रातः काल सूर्य के उदय होने तक पूर्व दिशा को मुख करके जप करे इसके उपरान्त दोनों संध्यावों में (शायं एवं प्रातः) अग्निहोत्र करे ।

दण्डादिधारणमाह भैक्षचर्या प्रकारः—

दण्डाजिनोपवीतानि मेखलां चैव धारयेत् ।
ब्राह्मणेषु चरेद् भैक्षमनिन्द्येष्वात्मवृत्तये ।।
आदिमध्यावसानेषु भवच्छब्दोपलक्षिता ।
ब्राह्मणक्षत्रियविशां भैक्षचर्या यथा क्रमम् ।। (याज्ञ० स्मृतिः)

अर्थ=पलाश का दण्ड, कृष्णमृगचर्म, यज्ञोपवीत और मूँज की मेखला धारण करे। जीवन निर्वाह के लिये पवित्र (अर्थात् अपने कर्म में रत रहने वाले) ब्राह्मणों के घर भिक्षायाचन करे। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य क्रमशः आरम्भ, मध्य और अन्त में, भवत् शब्द का प्रयोग करते हुये भिक्षा की याचना करे (ब्राह्मणबालक—भवतिभिक्षांदेहि- क्षत्रिय-भिक्षांभवति देहि- वैश्य-भिक्षांदेहिभवति)।

उपनयनकालस्य परमावधिमाह—

आ षोडशादा द्वाविंशच्चतुर्विंशाच्च वत्सरात्।
ब्रह्मक्षत्रविशां काल औपनायनिकः परः॥
अतऊर्ध्वं पतन्त्येते सर्वधर्म वहिष्कृताः।
सावित्रीपतिता व्रात्या व्रात्यस्तोमादृते क्रतोः॥

अर्थ=सोलह, बाइस और चौबीस वर्ष तक क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य के लिये उपनयन संस्कार की आखिरी अवधि होती है। इस समय के बाद (यज्ञोपवीत न होने पर) ये सभी धर्मों से वहिष्कृत होकर च्युत, सावित्रीदान के अयोग्य और व्रात्यस्तोमयज्ञ के विना व्रात्य अर्थात् संस्कार हीन हो जाते हैं।

उत्तमब्रह्मचारी—

ब्रह्मचारी भवेत् पात्रं वेदस्य पारगः।
पात्राणामुत्तमं पात्रं शूद्रान्नं यस्य नोदरे॥ (बृहस्पति स्मृतिः)

अर्थ=ब्रह्मचारी कहलाने का पात्र वही है जो समस्त वेदों का जाननेवाला हो पात्रों में उत्तमपात्र तथा जिसके पेट में शूद्र का अन्न न हो अर्थात् जो शूद्रान्न भक्षण न करता हो।

ब्रह्मचर्यपालन—

ब्रह्म चर्य्यं सदारक्षेदष्टधा मैथुनं पृथक्।
स्मरणं कीर्त्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्॥
सङ्कल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिष्पत्तिरेव च।
एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः॥ (दक्षसंहिता में)

अर्थ=स्मरण, कीर्त्तन, केलि, दर्शन, गुप्तवात, सङ्कल्प चेष्टा और क्रियासमाप्ति, ये हो मैथुन के आठ अङ्ग हैं, इन से विपरीत ब्रह्मचर्य है जो कि सदा पालन करने योग्य है। इसके पूरे पालन के लिये शरीर मन व बुद्धि तीनों को ही संयत रखना ब्रह्मचारी का कर्त्तव्य है। (इस विषय में मनुजी की भी आज्ञा है और खानपान का भी विचार रखना चाहिये मनुस्मृति गीतादि में देख पढ कर श्रीभगवान् ने गीता जी में त्रिविध आहार के विषय में कहा है सात्विक, राजस, तामस भोजन तीन प्रकार का होता है)

आहार तीन प्रकार का—

आयुः सत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्याआहाराःसात्त्विकप्रियाः॥ (गीता का)

अर्थ--आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और प्रीति को बढ़ानेवाले एवं रसयुक्त, चिकने और स्थिर रहनेवाले (जिस भोजन का सार शरीर में बहुत काल तक रहता है, उसको "स्थिर रहनेवाला" कहते हैं) तथा स्वभाव से ही मन को प्रिय ऐसे आहार अर्थात् भोजन करने के पदार्थ तो सात्त्विक पुरुष को प्रिय होते हैं।

कट्वम्ललवणात्युष्ण तीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ।। (गीता)

अर्थ=और कड़ुवे खट्टे लवणयुक्त और अति गरम तथा तीक्ष्ण, रूखे और दाहकारक एवं दुःख, चिन्ता और रोगों को उत्पन्न करनेवाले आहार अर्थात् भोजन करने के पदार्थ, राजस पुरुष को प्रिय होते हैं।

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत् ।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ।। (गीता)

अर्थ=तथा जो भोजन अधपका, रसरहित और दुर्गन्धयुक्त एवं बासी और उच्छिष्ट है तथा जो अपवित्र भी है, वह भोजन तामस पुरुष को प्रिय होता है।

"मातृ देवो" भव "पितृ देवो भव"
"आचार्य्यदेवो भव" इत्यादि । (श्रुति में लिखा है)

अर्थ=माता, पिता और गुरु की सेवा करनी चाहिये। इस प्रकार माता, पिता व गुरु सेवा के लिये आज्ञा की गयी है।

यथा खनन्खनित्रेण नरो वार्य्यधिगच्छति ।
तथा गुरुगतां विद्यां शुश्रूषुरधिगच्छति ।। (मनुस्यमृतिः)

अर्थ=जिस प्रकार खनित्र (खोदने का यन्त्र) से खोदते रहने पर जल मिलता है उसी प्रकार सेवा के द्वारा गुरु से विद्या मिलती है। इसी प्रकार ब्रह्मचर्याश्रम में गुरु सेवा द्वारा विद्यालाभ के विषय में मनु जी ने बहुत बातें बतायी है।

उपनीय गुरुः शिष्यं शिक्षयेच्छौचमादितः ।
आचारमग्निकार्य्यञ्च सन्ध्योपासनमेव च ।। (मनु०)

अर्थ=गुरु शिष्य का उपनयन कराकर पहले आद्योपान्त शौच, आचार, अग्नि कार्य व सन्ध्योपसना उसे सिखावें।

नित्यं स्नात्वा शुचिः कुर्य्याद्देवर्षिपितृतर्पणम् ।
देवताऽभ्यर्च्चनञ्चैव समिदाधानमेव च ।। (मनुष्यमृतिः)

अर्थ=नित्य स्नान करके पवित्र हो कर देवता, ऋषि व पितरों का तर्पण करें और देवता पूजन व समिध् के द्वारा होम करें।

मातुरग्रे विजननं द्वितीयं मौंजिवन्धनात् ।
ब्राह्मणक्षत्रिय विशास्तस्मादेते द्विजाः स्मृताः ।। (याज्ञवल्क्यस्मृतिः)

अर्थ=ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्यों का प्रथम मातृगर्भ मे और द्वितीय जन्म उपनयन संस्कार द्वारा होता है, इसलिये वे द्विज कहलाते हैं।

उपनयन काल के विषय में ऋतु प्रमाण व आचार्य निर्णय—

'बसन्ते ब्राह्मण ग्रीष्मे राजन्यं शरदि वश्यम् ।
गर्भाष्टमेषु ब्राह्मणं गर्भैकादशे राजन्यं गर्भद्वादशे वैश्यम् ।।
(गृह्य सूत्र तथा धर्म सूत्र में लिखा है)

अर्थ=वसन्त ऋतु में ब्राह्मण वालक का ग्रीष्म ऋतु में क्षत्रिय वालक का और शरद ऋतु में वैश्य वालक का उपनयन कराना चाहिये। गर्भ से आठवें वर्ष में ब्राह्मण वालक का ग्यारहवें वर्ष में क्षत्रिय वालक का और वारहवें वर्ष में वैश्य वालक का उपनयन होना चाहिये (शूद्र वर्ण का इस संस्कार में अधिकार नहीं है।

उपनयन अच्छे आचार्य द्वारा कराना होता है, उसके लक्षण शास्त्र में निम्नलिखित रूप से वताये गये हैं,

यस्माद्धर्मानाचि नोति स आचार्यः ।(धर्म सूत्रे)

अर्थ=जिनसे धर्मोपदेश यथा शास्त्र प्राप्त हो वे ही आचार्य शब्दवाच्य हैं।

आचिनोति च शास्त्राणि आचारे स्थापयत्यपि ।
स्वयमाचरते यस्तु तमाचार्यं प्रचक्षते ।। (महर्षिबृहस्पति ने भी कहा है)

अर्थ=जो वेदादि शास्त्र का उपदेश करे, शिष्य को आचारवान् वनावें तथा स्वयं आचार शील हों उन्हीं को आचार्य कहते हैं।

उपनीय ददद् वेदमाचार्यः स उदाहृतः । (महर्षि याज्ञवल्क्य ने भी कहा है)

अर्थ=द्विजवालक का उपनयन कराकर वेद की शिक्षा देने वाला आचार्य कहलाता है। इस प्रकार आचार्य पद यदि पिता पितामहादि ग्रहण कर सकें तो अच्छा ही है।

पितापितामहो भ्राता ज्ञातयो गोत्रजाग्रजाः ।
उपनायेऽधिकारी स्यात् पूर्वाभावेपरः परः ।।
पितैवोपनयेत् पुत्रं तदभावे पितुः पिता ।
तदभावेपितुर्भ्राता तदभावे तु सोदरः ।। (यथा वृद्धगर्ग जी ने भी कहा है)

अर्थ=पिता, पितामह पितृव्य, ज्ञाति या ज्येष्ठभ्राता ये सव श्रेष्ठानुक्रम से पर पर उपनेता हो सकते हैं पिता ही को पुत्र का उपनयन कराना चाहिये, उनकी अयोग्यता या अभाव में पितामह कर सकते हैं, उनके अभाव में पितृव्य और उनके भी अभाव में सहोदर ज्येष्ठ भ्राता कर सकते हैं। यदि इनमें से कोई भी आचार्य बनने की योग्यता न रखता हो तो।

कुमारस्योपनयनं श्रुताभिजनवृत्तवान् ।
तपसा धूतनिःशेषपाप्मा कुर्याद् द्विजोत्तमः ।। (महर्षि शौनक कहते हैं)

अर्थ=कुलीन, श्रुतिशास्त्रज्ञ, सदाचार सम्पन्न, तपः प्रभाव से निष्पाप ब्राह्मण द्विजकुमार का उपनयन करा सकते हैं। अव इस प्रकार योग्य ब्राह्मण आचार्य द्वारा उपनयन

संस्कार कार्य कैसे अनुष्ठित होना चाहिये उसकी संक्षेप विधि क्रमशः नीचे वतायी जाती है। उपनयन के पूर्व दिन यजमान तथा यजमान पत्नी वालक के साथ मंगल स्नान करके प्रथमतः संकल्प, गोदान और ब्राह्मण द्वारा गायत्री जप करावे, तदनन्तर गणपति पूजन, स्वस्तिपुण्याह वाचन, मातृका पूजन और नान्दी श्राद्धादि विधिपूर्वक करने होते हैं। उसके वाद उपनयन के दिन प्रथमतः वालक का क्षौर कर्म कराकर स्नानानन्तर आचार्य के पास लाना होता है। वहाँ पर ब्राह्मणों के द्वारा आब्रह्मन्, इत्यादि मन्त्रों से आशीर्वाद हो जाने के वाद आचार्य अपनी दक्षिण दिशा में स्थित वालक के ब्रह्मचार्यसानि इस वाक्य को कहलावे और स्वयं ओंयेनेन्द्राय बृहस्पतिर्वासः यर्यदधादमृतम्। तेनत्वा परिदधाभ्यायुषे दीर्घायुत्वाय वलाय वर्च से। इस मन्त्र को पढकर वालक को कटि सूत्र तथा कौपीनादि वस्त्र पहनावे, ब्राह्मण ब्रह्मचारी कोशंण के, क्षत्रिय को अतसी के, और वैश्य को ऊनके वस्त्र देने होते हैं और वे ही वस्त्र ब्रह्मचर्या श्रम में रहते हैं। तदनन्तर आचमन कराके आचार्य ओं इयं दुरुक्तं परिवाधमाना वर्णं पवित्रं पुन तीम आगात्। इत्यादि मन्त्र सो ब्रह्मचारी के जितने प्रवर हों उतनी गाँठ वाली मूज आदि की मेंखला को ब्रह्मचारी के कटिभाग में प्रदक्षिण क्रम से तीन वार लपेटकर वाँधे और तत्पश्चात् देशाचारानुकूल यज्ञोपवीत का एक एक जोड़ा और अन्नादि दक्षिण सहित चौवीस जलपात्र संकल्प करके ब्राह्मणों को देवे। इसके वाद निम्नलिखित प्रकार से यज्ञोपवीत का संस्कार करे प्रथम 'आपोहिष्ठा, आदि तीन मन्त्र से उपवीत पर जल सेचन करके ब्रह्मज-ज्ञानं, इत्यादि तीन मन्त्र पढता हुवा उस पर अङ्गुष्ठ घुमावे, पुनः नवतन्तु वों में ओंकारादि न वदेवतावों का विन्यास करके यज्ञोपवीत को देखता हुवा दश वार तत्सवितुः, आदि गायत्री मन्त्र पढे, और उपयाम मन्त्र पढकर सूर्यनारायण को उपवीत दिखावे। तव आचार्य अपने हाथ से ब्रह्मचारी को यज्ञोपवीत देवे और वालक यज्ञोपवीत को अपने हाथ में लेकर—इस मन्त्र से पहने-ओं-यज्ञोपवीतं—मन्त्र पढ कर पहने। उपनयन संस्कार वहुत ही गूढ रहस्यमय है। इसमें ब्रह्मज्ञान के मूलस्वरूप ब्रह्मचर्य लाभ, सत्यज्ञान तथा सदाचार—लाभ, सत् शिक्षा—लाभ और आध्यात्मिक उन्नति का सारा तत्त्व भरा हुवा है।

यज्ञोपवीत बनाने का प्रमाण—

अङ्गुल्यग्रेतु बिप्राणाम्मध्य पर्वणिभूभुजाम्।
मूलपर्व्वणि वैश्यानां ब्रह्मसूत्र मितिस्मृतम्॥ (गृह्यसूत्रे)

अर्थ=अंगुली के अग्रभाग से ब्राह्मणों का मध्यभाग से क्षत्रियों का तथा मूलभाग से वैश्यों का ब्रह्मसूत्र (यज्ञोपवीत) निर्माण करना चाहिये। यज्ञोपवीत कटि के नीचे का नहीं होना चाहिये तथा हृदय के ऊपर तक का भी नहीं होना चाहिये।

ब्रह्मचारी सूर्य को प्रणाम करे इस मन्त्र से—

ओं—तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्तात्, इत्यादि मन्त्र

पढता हुवा सूर्यनारायण का दर्शन करे।

ओं—प्रजा पतयेत्वा परिददामि। ओं—देवायत्वा सवित्रे परिददामि।

आचार्य शेप कर्म के वाद गायत्री मन्त्र का उपदेश दें शिष्य को और समस्त आचार वान आचार्य क्रियावों की शिक्षा दें।

पुस्तकं यज्ञसूत्रं च भूमौ संस्थापयेन्नरः ।
न भवेद्विप्रयोनौ च तस्य जन्मांतरे जनिः ॥
ब्रह्महत्यासमं पापमिह वै लभते ध्रुवम् ।
ग्रन्थियुक्तं यज्ञसूत्रं पूज्यं च सर्ववर्णकैः ॥ (देवी भागवते)

अर्थ = जो ब्राह्मण पुस्तक तथा यज्ञोपवीत भूमि पर रखता है उसे जन्मान्तर में ब्राह्मण के घर जन्म नहीं मिलता । जो विप्र ग्रन्थि युक्त एवं पूज्य यज्ञोपवीत का पूजन नहीं करता, उसे ब्रह्म हत्या का पाप लगता है ।

यज्ञोपवीत में नव तन्तु तीन दण्ड उनके अतिगूढ तात्पर्य हैं—

ओंकारः प्रथमे तन्तौ द्वितीयेऽग्निस्तथैव च ।
तृतीये नागदैवत्यं चतुर्थे सोमदेवता ॥
पञ्चमेपितृदैवत्यं षष्ठे चैव प्रजापतिः ।
सप्तमे मारुतश्चैव अष्टमे सूर्य एव च ॥
सर्वे देवास्तु नवमे इत्येतास्तन्तुदेवताः ।
ब्रह्मणोत्पादितं सूत्रं विष्णुना त्रिगुणी कृतम् ॥
रुद्रेण दत्तो ग्रन्थिश्चै सावित्र्या चाभिमन्त्रितम् ॥

(हरिहरभाष्य व पाराशर संहिता में)

अर्थ = यज्ञोपवीत के नव तन्तुवों में नव देवतावों का अधिष्ठान है । उनके नव पृथक् पृथक् गुणों के साथ यज्ञोपवीत धारण द्वारा द्विज वालक भूषित हो सकते हैं । प्रथम देवता ओंकार-गुण ब्रह्मज्ञान द्वितीय देवता अग्नि-गुण तेज, तृतीय देवता अनन्त-गुण धैर्य्य, चतुर्थ देवता चन्द्र—गुण सर्व प्रियता पञ्चम देवता पितृ गण-गुण स्नेह शीलता षष्ठ देवता प्रजापति-गुण प्रजापालन, सप्तम देवता वायु-गुण वलशालिता, अष्टम देवता सूर्य-गुण प्रकाश और नवम देवता सर्व देवता-गुण सात्त्विकता । नव तन्तु युक्त यज्ञोपवीत धारण द्वारा इन देवतावों का नित्यस्मरण तथा हृदय में गुणाधान होता है । इसी कारण नव तन्तु धारण विधि है ब्रह्मा ने यज्ञ सूत्र को वनाया है, विष्णु ने त्रिगुणित किया है, रुद्र ने ग्रन्थि दी है और सावित्री देवी ने अभिमन्त्रित किया है, ग्रन्थि देते समय इनके स्मरण द्वारा भी शक्ति लाभ तथा ज्ञान लाभ होता है । इसके सिवाय तीन दण्ड के द्वारा कायदण्ड, वाग् दण्ड और मनोदण्ड, इन तीनों दण्ड अर्थात् संयम की विधि वतायी गयी है । काय-संयम के द्वारा ब्रह्मचर्य धारण तपस्यादि, वाक् संयम द्वारा वृथा वाक्य या मिथ्या वाक्य परिहार और मनः संयम द्वारा विषयों से मनको हटाना यही सब यज्ञोपवीत धारी द्विजमात्र का कर्तव्य है । इस प्रकार उपनयन संस्कार द्वारा द्विजगण को महान् लाभ होते हैं ।

८० असी सहस्र मन्त्र कर्म काण्ड के तथा १६ सोलह सहस्र मन्त्र उपासना काण्ड के, यही ९६ वे चौवा यज्ञोपवीत का प्रमाण है । पितृ ऋण, देव ऋण तथा ऋषि ऋण इत्यादि से मुक्त हो कर अर्थात् श्राद्ध तर्पण आदि करके तथा पुत्रोत्पादन करके पितृ ऋण से मुक्ति यज्ञादिक करके देव ऋण से मुक्ति, वेदाध्ययन तथा तदनुसार कार्य्य लग्नता से ऋषि ऋण से मुक्ति पाकर संन्यासी ४ चार सहस्र मन्त्र ज्ञान काण्ड उपनिषद् भाग को धारण करता है ।

ये ही १०० सौ सहस्र (एकलक्ष) ऋचाये वेद की हैं। इसी आधार पर यज्ञोपवीत विधि मानी जाती है। इस के अधिकारी ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य ही हैं। अन्य वर्ण को धारण करने का अधिकार नहीं है। यज्ञोपवीत भूल में शिर से निकलने पर गोदान करे (प्रायश्चित्त हेतु) तब पहने पांव से निकलने पर मण्डपादि छाजन द्वारा पूर्व की भांति संस्कार कराके तब धारण करे यह विधि है भूल की, नहीं तो दोष लगता है। यज्ञोपवीत धारण करने का मन्त्र पद्धति में देखें वाहुल्य होने से नहीं लिखा गया, जीर्ण यज्ञोपवीत वदलते समय निकालने की विधि नया यज्ञोपवीत धारण करके पुराने यज्ञोपवीत को गले में माला की भाँति कर ले तब वायाँ हाथ यज्ञोपवीत पर रख कर दायें हाथ से सिर में वायाँ हाथ के ऊपर से डाले गले में वायाँ हाथ निकार ले फिर दायें हाथ से खींचले गले से जनेऊ को।

एतावद्दिन पर्यन्तं ब्रह्मत्वं धारितं मया।
जीर्णत्वात् त्वत् परित्यागो गच्छ सूत्र यथा सुखम्॥

अर्थ=हे ब्रह्म इतने दिन तक हमने आप को धारण किया जीर्ण होने से आप का परित्याग है आप यथा सुखगमन करें।

● प्रथम ब्रह्मचारी प्रकरण समाप्त ●

सोडश संस्कार प्रकरणम्

अस्वाभाविक संस्कार द्वारा वन्धन तथा स्वाभाविक संस्कार द्वारा मोक्ष माना गया है। प्रकृत विपय 'पोडश संस्कार इसी स्वाभाविक संस्कार के ही अन्तर्गत हैं। पोडश कलापुष्ट चन्द्र देवकी पूर्णता के सदृश स्वाभाविक पोडश संस्कार द्वारा पूर्णता लाभ करके जीव जीवत्व परिहार द्वारा ब्रह्मत्व पद पर प्रतिष्ठा प्राप्त कर सकता है। इसी कारण आर्य शास्त्र में संस्कारों की भूरि भूरि प्रशंसा की गयी है। (आर्य शास्त्र में)

संस्कार रहित के जन्म निरर्थक—

अतः परं द्विजातीनां संस्कृतिर्नियतोच्यते।
संस्काररहिता ये तु तेषां जन्म निरर्थकम्॥ (महर्षि आश्वलायन ने लिखा है)

अर्थ=द्विजाति अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यों के लिये नियत संस्कारों के अनुष्ठान न करने से द्विज—जन्म ग्रहण निरर्थक होता है।

द्विजातियों के संस्कार मन्त्रों द्वारा—

स्वे स्वे गृह्ये यथा प्रोक्तास्तथा संस्कृतयोऽखिलाः।
कर्त्तव्या भूतिकामेन नान्यथा सिद्धि मृच्छति॥

(महर्षि अङ्गिराने कहा है)

अर्थ=अभ्युदय चाहने वाले द्विजगण को स्वकीय गृह्य विधि अनुसार संस्कारों का आचरण अवश्य करना चाहिये अन्यथा सिद्धि लाभ नहीं होता है।

वैदिकैः कर्मभिः पुण्यैर्निषेकादिर्द्विजन्मनाम् ।
कार्यः शरीर संस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च ॥
गार्भैर्होमैर्जातिकर्म चौडमौञ्जीनिबन्धनैः ।
वैजिकं गार्भिकं चैनो द्विजानामपमृज्यते ॥
स्वाध्यायेन व्रतैर्होमैस्त्रै विद्येनेज्यया सुतैः ।
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनु : ॥ (मनु जी ने कहा है)

अर्थ=वेदोक्त गर्भाधानादि पुण्यकर्म द्वारा द्विजगण का शरीर संस्कार कराना चाहिये, जो कि इह लोक तथा परलोक में पवित्र कारी है। गर्भ समय के तीनों संस्कारों में तथा जातकर्म, चूडा कर्म और उपनयनादि संस्कारों में अनुष्ठित होमों से वीज तथा गर्भवास जन्य प्राप्त अपवित्रता नष्ट हो जाती है और वेद मन्त्रों के प्रभाव से अन्तः करण में शुभ संस्कारों का उदय होता है। वेदारम्भ संस्कार द्वारा प्राप्त वेदों के स्वाध्याय, व्रत तथा होमों से त्रयी विद्या के ज्ञान से, यागानुष्ठान से, विवाह द्वारा सन्तानोत्पत्ति से और पञ्च महायज्ञ तथा अग्निष्टोमादि यज्ञों से द्विज शरीर ब्रह्मप्राप्ति योग्य वनाया जाता है। इस प्रकार के संस्कारों का साधारण फल मन्वादि स्मृतिकारों ने वताया है।

शूद्रों के भी संस्कारस्मार्त मन्त्र से—

शूद्रोऽप्येवं विधः कार्यो विना मन्त्रेण संस्कृतः । (यम संहिता में भी लिखा है)

अर्थ=शूद्र वर्ण के भी ये सव संस्कार विना वैदिक मन्त्र के होने चाहिये। वेद में अधिकार न होने के कारण उनके लिये केवल उपनयन संस्कार का निषेध है।

षोडशसंस्कार की संज्ञागर्भाधान आदि—

**गर्भाधानं पुंसवनं सीमन्तो जातकर्म च ।
नामक्रियानिष्क्रमणेऽन्नाशनं वपनक्रिया ॥
कर्णवेधो व्रतादेशो वेदारम्भक्रिया विधिः ।
केशान्तः स्नानमुद्वाहो विवाहाग्नि परिग्रहः ॥
त्रेताग्निसंग्रहश्चेति संस्काराः षोडशस्मृताः ।
नवैताःकर्णवेधान्ता मन्त्रवर्जंक्रियाः स्त्रियः ॥
विवाहो मन्त्र तस्तस्याः शूद्रस्यामन्त्रतो दश ॥ (व्यासस्मृतिः)**

अर्थ=गर्भाधान पुंसवन सीमन्तोन्नयन जातकर्म नामकरण निष्क्रमण अन्नप्राशन, चूडाकर्म, कर्णवेध यज्ञोपवीत, वेदारम्भ, केशान्त, समावर्त्तन, विवाह आवसथ्याधान, और श्रौताधान, ये सोलह, संस्कार हैं। इनमें से कर्ण वेध पर्यन्त नव संस्कार द्विज कन्यावों के वेदमन्त्र छोड़ स्मार्तमन्त्रों से होने चाहिये और दशम अर्थात् विवाह संस्कार वेदमन्त्रों से होना चाहिये। कर्णवेध पर्यन्त नव और दशवां विवाह ये दश संस्कार शूद्रों के वेद मन्त्र छोड़ केवल स्मार्तमन्त्र से होने चाहिये। (व्यासस्मृति में १६ संस्कार कहे गये हैं) स्त्री के ऋतु-स्नानानन्तर युग्म दिन में गर्भाधान से पुत्र तथा अयुग्म दिन में गर्भाधान से कन्या की उत्पत्ति होती है तदनुसार ज्योतिष शास्त्र की सहायता से शुभ नक्षत्रादि युक्त शुभ दिन में देखकर चौथे,

छठें, आठवें आदि युग्म दिनों में से किसी दिन में पुत्र प्रार्थी को तथा पांचवें, सातवें आदि अयुग्म दिनों में से किसी दिन में कन्या प्रार्थी को गर्भाधान करना चाहिये।

पति का कर्तव्य क्या—

इसके पूर्वाह्णकृत्य में प्रथमतः आचमन प्राणायामादि पूर्वक सङ्कल्प करना चाहिये और सूर्यास्त के समय सूर्य नारायण का दर्शन करना पति का कर्तव्य होता है। मध्याह्न के बाद गणेश पूजन, स्वस्ति वाचन, पुण्याहवाचन, मातृ का पूजन, नान्दी मुखश्राद्ध और वृद्धिश्राद्ध करने होते हैं। गणेश पूजनादि सिद्धि सूचक माङ्गलिक कार्य हैं। वंशवृद्धि के साथ गर्भाधान संस्कार का सम्वन्ध रहने से वंशप्रवर्त्तक नित्य नैमित्तिक पितरों का इसमें स्वतः सम्वन्ध है।

वे सब पितर नान्दीमुख कहलाते हैं। इस कारण उनके सम्वर्द्धनार्थ नान्दीश्राद्ध तथा बृद्धि सूचक बृद्धिश्राद्ध करने योग्य है। तदनन्तर—

ॐ आदित्यं गर्भं पयसा समङ्ग्धि सहस्रस्य प्रतिमां विश्व रूपम्।
परिबृङ्ग्धिहर सामाऽभिमंस्थाः शतायुषं कृणुहि चीयमानः (शुक्ल यजुर्वेद-१३-४१)।

इस मन्त्र को-पढकर पति-पत्नी सूर्य दर्शन तथा सूर्य को प्रणाम करें।

तत्पश्चात् सायंकाल सन्ध्योपासनादि के बाद भोजनोत्तर एक प्रहर रात्रि बीत जाने पर पति पत्नी दोनों शुद्ध वस्त्र पहन कर प्रदीप से आलोकित शयनागार में प्रवेश करें। वहाँ पूर्व शिरशयन की हुयी पत्नी के नाभि देश में दक्षिण हस्त रखकर उत्तराभिमुख पति निम्नलिखित मन्त्र का पाठ करे।

ॐ पूषा भगं सविता में ददातु रुद्रः कल्पयतु ललामगुम्।
ॐ विष्णुर्योनिं कल्पयतु त्वष्टा रूपपाणिपिंशतु।
आसिञ्चतु प्रजापतिर्धाता गर्भं दधातु ते। ऋग् वेद में अ० ८ अ० २०, व, ४२।

अर्थ=पोषणकारी सूर्य तथा रुद्रदेव योनियों की कल्पना करें। विष्णु गर्भग्रहण स्थान को प्रदान करें, देवशिल्पी त्वष्टा रूप संमिश्रण करें। अव्यर्थ सिञ्चनकारी प्रजापति सिञ्चन करें। विधाता गर्भ संगठन करें। तदनन्तर पति पूर्वाभिमुख बैठकर पत्नी की ओर देखते हुवे निम्नलिखित मन्त्र को पढे।

ॐ गर्भं धेहि सिनीवालि। गर्भं धेहि पृथुष्टुके। गर्भं ते अश्विनौ देवावाधत्तां-पुष्करस्रजौ। तेजो वैश्वानरो दद्यादथब्रह्मानुमन्त्रयेत्।

अर्थ=चन्द्रकला की अधिष्ठात्री देवी सिनीवाली गर्भाधान करें, सरस्वती देवी गर्भाधान करें, कमलमाली अश्विनी कुमार द्वय जिनके अधिष्ठान से सन्तान सर्वथा देव कृपा-सम्पन्न, विनीत सत्वगुण युक्त तथा सम्पत्ति सम्पन्न होती है—गर्भाधान करें, वैश्वानर तेजोदान करें, ब्रह्मा अनुमन्त्रित करें तथा गर्भदान करें।

तदनन्तर शुक्ल यजुर्वेदोक्त मन्त्र को—

ॐ गायत्रेणत्वाछन्दसा मन्थामि, और 'ॐ रेतो मूत्रं विजहाति योनिं प्रविशदिन्द्रियं, इत्यादि मन्त्र पढ कर संयोग की आज्ञा है।

ऋतु काल में स्त्री समागम—

ॐ यत्ते सुसीमे हृदयं दिवि चन्द्रमसि श्रितम् ।
वेदाहं तन्मां तद् विद्यात् पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतं
शृणुयाम शरदः शतम् ।।

इस मन्त्र को पढ कर बैठी हुवी पत्नी के हृदय देश को स्पर्श करना चाहिये । और ऐसा ही हृदयस्पर्श प्रत्येक ऋतु समागम में करना होता है । तदनन्तर "मैं इस गर्भाधान कार्य की पूर्ति के लिये यथाशक्ति ब्राह्मण भोजन कराऊंगा, इससे कर्माङ्ग देवता प्रसन्न होवें, ऐसा संकल्प करके ब्राह्मणों को दक्षिणा देकर उनसे आशीर्वाद ग्रहण पूर्वक यान्तु मातृगणाः सर्वे, इस प्रकार मन्त्र पढकर षोडशमातृका का विसर्जन करें । यही सक्षेप से गर्भाधान संस्कार का वर्णन है ।

पुंसवन संस्कार कर्म में मैं और मेरी इस पत्नी के उत्पन्न होने वाले गर्भ के बीज और गर्भ सम्बन्धीय मलिनतादि दोषों की निवृत्ति के लिये तथा पुरुषसन्तानोत्पत्ति और परमात्मा की प्रीति के अर्थ यह पुंसवन कार्य को करूँगा और उसकी निर्विघ्न समाप्ति के हेतु गणपति- पूजन स्वस्तिपुण्याहवाचन तथा नान्दी श्राद्ध करूँगा ऐसा संकल्प । मन्त्र—

ओं सुपर्णोऽसिगरुत्मां स्त्रिवृत्ते शिरो गायत्रं चक्षुर्वृहद्रथन्तरे पक्षौ ।
स्तोम आत्मा छन्दांस्यङ्गानि यजूंषि नाम सामते तनूर्वामदेव्यं
यज्ञा यज्ञियं पुच्छं धिष्ण्याः शफाः सुपर्णोऽसि गरुत्ममान्
दिवं गच्छ स्वः पत । शुक्ल यजुर्वेद अ० १२-४-

अर्थ=इस मन्त्र को पढे । तत्पश्चात् कर्माङ्गपूर्त्ति के लिये दश ब्राह्मण भोजन का संकल्प करके ब्राह्मणों को दक्षिणा देकर उनसे आशीर्वाद लेकर यान्तु मातृगणाः सर्वे ऐसा कह कर मातृगण का विसर्जन करें । यही संक्षेप से पुंसवन संस्कार की विधि है । धर्म शास्त्र में ऐसी व्यवस्था है की इन सभी संस्कारों के करने से संस्कार के द्वारा उपपातक अर्थात् पितृ मातृ शरीरज कई एक दोषों का भी नाश होता है ऐसा धर्म शास्त्र का सिद्धान्त है ।

मेधाजनन क्रिया के अनन्तर आयुष्य करण क्रिया की जाती है ।

उसमें शिशु के दक्षिण कर्ण अथवा नाभि के समीप मुख करके मन्त्र को पढे—

मन्त्र— 'ओं अग्निरायुष्मानस वनस्पतिभिरायुष्मांस्तेन त्वाऽऽयुष्मन्तं करोमि ।'

इत्यादि आठ मन्त्र तीन बार पढ कर—

मन्त्र— ओं त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम् ।
यद्देवेषु त्र्यायुषं तन्नो अस्तु त्र्यायुषम् ।।

अर्थ=इस मन्त्र को तीन वार पढे । तदनन्तर पुत्र की पूर्ण आयु चाहता हुवा । पिता शिशुका हृदय स्पर्श करता हुवा—

मन्त्र— ओं–दिवस्पदि प्रथम जज्ञे अग्निरस्मद् द्वितीयं परिजातवेदाः,

अर्थ=इत्यादि ग्यारह मन्त्रों का पाठ करे । तदनन्तर शिशु के चारों ओर ब्राह्मणों को बिठाकर कुछ कृत्य करने होते हैं और शिशु की माता के द्वारा स्तनपान काल कुछ क्रियायें की जाती हैं ।

० दूसरा षोडश संस्कार प्रकरण समाप्त ०

गृहस्थधर्म प्रकरणम्

तप्तमुद्रानिषेध—

यस्तु संतप्तशङ्खादिलिङ्ग चिह्नतनुर्नरः ।
स सर्वयातनाभोगी चाण्डालो जन्म कोटि षु ॥
द्विजं तु तप्त शङ्खादिलिङ्गाङ्कित तनुर्नरः ।
संभाष्य रौरवं याति यावदिन्द्रश्चतुर्दश ॥
शङ्खचक्राद्यङ्कनं च गीतनृत्यादिकं तथा ।
एक जातेरयं धर्मो न जातु स्याद् द्विजन्मनः ॥
शङ्खचक्र मृदा यस्तु कुर्यात्तप्ताय सेन वा ।
स शूद्रवद् बहिष्कार्यः सर्वस्माद् द्विजकर्मणः ॥
यथाश्मशानजं काष्ठमनर्हं सर्वकर्म सु ।
तथा चक्राङ्कितो विप्रः सर्व कर्मसु गर्हितः ॥ इति ।

(वृहन्नारदीये व पृथ्वी चन्द्रोदय में)

अर्थ=जो व्यक्ति शंख आदि चिह्नों से अपने शरीर को चिह्नित करता है वह सम्पूर्ण यातनावों को भोगने वाला तथा करोड़ों जन्म तक चाण्डाल योनि में रहता है। तप्तशंखादि चिह्नों से अंकित शरीर वाले व्यक्ति से संभाषण करने वाला व्यक्ति भी जब तक चौदह इन्द्र का राज्य न समाप्त हो जाय तब तक वह रौरव नरक में रहता है। शंख चक्रादि से चिह्नित गाने नाचने वाला कर्म यह एक जाति का धर्म है न कि द्विजन्म (ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्यों का) धर्म है। मिट्टी (चन्दन) के द्वारा भी तपाकर जो शंख चक्र का चिह्न शरीर में चिह्नित करवाता है वह ब्राह्मणोचित सभी कर्मों से शूद्र की तरह बहिष्कार करने योग्य है। जिस प्रकार श्मशान (चिता) की लकड़ी सभी कार्यों में निन्द्य है उसी प्रकार चक्र से अंकित ब्राह्मण भी सभी कर्मों में निन्दनीय है। हमारे शास्त्रों में तप्त शंखादि का कहीं भी उल्लेख नहीं है, उसे दग्ध तनु कहा गया है वह भी उल्लिखित नहीं है, केवल-यवाकार-पिपीलिकाकार-चान्द्रायणादि व्रत के द्वारा ही तप्त तनु का ही विधान है यही शास्त्र सम्मत है। युग के अनुसार कलियुग में केवल कार्य करनेवाला व्यक्ति ही दोष का भागी है न कि बोलने वाला। (निषेध वाधय-वृहन्नारदीये व पृथ्वीचन्द्रोदय में)

सायंकाल में निषेधकर्म—

संध्याकाले भोजन निद्रामैथुनाध्ययनवर्जनात् ।
यतिभिरपुत्रविधुरैर्विधवाभिश्च नक्तसायाह्नव्यापन्यां
दिनाष्टमभागे कार्यम् । रात्रौतेषां भोजननिषेधात् । (धर्म सिन्धुः)

अर्थ=सायंकाल में भोजन निद्रा-मैथुन, अध्ययन आदि का निषेध है। संन्यासियों के द्वारा, पुत्र रहित पुरुषों के द्वारा, विधवा के द्वारा रात्रि से युक्त सायंकाल दिन के आठवें भाग में भोजनादि का विधान है उनको रात्रि में भोजनादि का निषेध हैं।

ग्रहणकाल में निषिद्ध कर्म—

ग्रहण काले शयने कृतेरोगो मूत्रे दारिद्रयं पुरीषे।
कृमिर्मैथुने ग्रामशूकरोऽभ्यङ्गे कुष्ठी भोजने नरकम् ॥ (धर्म सिन्धुः)

अर्थ=ग्रहण के समय सोने से रोग मूत्र त्याग करने से दरिद्रता, मलोत्सर्ग करने से नापदान (कृमि) के कीड़े स्त्री संभोग करने से गाँव के शूकर, तैल लगाने से कुष्ठी (कोढ़ी) तथा भोजन करने से नरक होता है अतः ये सभी चीजें ग्रहण काल में निषिद्ध हैं।

भूकम्पे ग्रहणे यो हि करोति खननं भुवः।
जन्मान्तरे महापापो ह्यङ्गहीनो भवेद्ध्रुवम् ॥ (श्रीमद्देवीभागवते)

अर्थ=भूकम्प तथा ग्रहण के अवसर पर जो मनुष्य भूमि खोदता है, जन्मान्तर में वह पापी अंगहीन होता है।

कार्तिकस्नानविधिः—

इदं कार्तिकस्नानं प्रातः स्नानं प्रातः संध्यां च कृत्वा कार्यम्।
ताभ्यां विनेतरकर्मानधि कारात्।
यद्यपि प्रातः सन्ध्यायाः सूर्योदये समाप्तिस्तथाप्यत्र वचनवलादुदयात्पूर्वं सन्ध्यां समाप्य कार्तिक स्नानं कार्यमिति निर्णयसिन्धावुक्तम्।
नैवं ग्रन्थान्तरे दृश्यते। एवंमासस्नानाशक्तौ त्र्यहं स्नायात्। (निर्णय सिन्धुः)

अर्थ=यह कार्तिकस्नान प्रातःस्नान और प्रातः सन्ध्या करके ही करना चाहिये, क्योंकि स्नान संध्या के विना दूसरे कर्म में अधिकार नहीं होता। यद्यपि प्रातः सन्ध्या की समाप्ति सूर्योदय में होती है तथापि वचन वल से उदय के पूर्व ही सन्ध्या समाप्त करके,। कार्तिकस्नान करना चाहिये, यह निर्णय सिन्धु में कहा है। ऐसा दूसरे ग्रन्थों में नहीं देखा जाता है। पूरे महीने भर स्नान में असमर्थ को तीन दिन स्नान करना चाहिये।

माघस्नान आरम्भ—

तत्र पौषस्य शुक्लैकादश्यां पौर्णमास्याममावास्यायां वा माघस्नानारम्भः माघे द्वादशी पूर्णिमादौ समापनम्।
यद्वामकर संक्रमणप्रभृति कुम्भसंक्रमणपर्यन्तंस्नानं कार्यम्।

अर्थ=पौप की शुक्ल एकादशी या पूर्णिमा अथवा अमावस्या में माघ स्नान प्रारम्भ करना चाहिये। माघ की द्वादशी या पूर्णिमा में समाप्त करे या मकर की संक्रान्ति से कुम्भ की संक्रान्ति तक स्नान करे। उत्तम मकर संक्रान्ति है पूप की पूर्णिमा के पहले संक्रांति हो तो पहले प्रयागराज जाय कल्पवास हेतु माघ में हो तो पूप की पूर्णिमा को जाय (प्रयागराज के विसय में निर्णय)।

स्नान का समय और अधिकारी निर्णय—

अरुणोदयमारभ्य प्रातस्नानाऽवधिः भवेत्।
उत्तमं तु सनक्षत्रं लुप्ततारं च मध्यमम्।
सवितर्युदिते भूप ततो हीनं प्रकीर्तितम् ॥

माघमासे रटन्त्याय: किंचिदभ्युदिते रवौ ।
ब्रह्मघ्नं वा सुरार्थं वा कं पतन्तं पुनीमहे ।।

अर्थ=माघस्नान, अरुणोदय से आरम्भ कर प्रातः काल तक करे उत्तमस्नान नक्षत्रों के दिखलाई पड़ने तक और मध्यम स्नान तारों के न होने तक और मध्यम से भी हीन सूर्योदय काल में होता है। कुछ-कुछ सूर्योदय के होने पर माघ मास में जल रटते हैं कि किस ब्राह्मणघाती, शरावी तथा पतित को हम पवित्र करें।

ब्रह्मचारी गृहस्थो वा वानप्रस्थोऽथ भिक्षुक: ।
बालवृद्धयुवानश्च नरनारीनपुंसका: ।।

अर्थ=ब्रह्मचारी, गृहस्थ वानप्रस्थ और संन्यासी तथा बालक, वृद्ध, जवान स्त्री, पुरुष और नपुंसक भी माघस्नान के अधिकारी हैं। तालाब कुंवा बावली नदी सरोवर इत्यादि में भी महान् फल है। (गंगा आदि नदियों में तो कहना ही क्या)

अभिवादन निषेध सवारी आदि से प्रणाम की विधि लड़कियों को भी है—

अश्वारूढंगजारूढं धावन्तं मदगर्वितम् ।
जपन्तं जलमध्यस्थं षड्विप्रान्नाभिवादयेत् ।।

अर्थ=घोड़े पर चढे हुवे हाथी पर चढे हुवे दौड़ते हुवे अहंकार से युक्त, जप करते हुवे जल के बीच खड़े हुवे इन सब प्रकार के ब्राह्मणों को प्रणाम नहीं करना चाहिये।

अशुचिवमन्तमभ्यक्तं स्नानं कुर्वन्तं जपादिरतं पुष्प जलभैक्ष्यादि भारवाहं न नमेत् । तन्नमते उपवास: । शूद्रनतौ त्रिरात्रम् ।
अन्त्जे कृच्छ्रम् । देवतागुरु यतिनमनाकरणे उपवास: । (धर्म सिन्धु): ।

अर्थ=अशुचि, वमन करते हुवे तैल स्नान करते हुवे जपादि में लगे हुवे और पुष्प जल भिक्षा आदि के भार को ढोते हुवे को नमस्कार न करे। उसको प्रणाम करने पर उपवास करे। शूद्र को प्रणाम करने पर त्रिरात्र उपवास करे। अन्त्यज को प्रणाम करने पर कृच्छ्र व्रत करे। देवता गुरु और यति को प्रणाम न करने पर उपवास करे।

अभिवादन शीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविन: ।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयु र्विद्या यशो वलम् ।। (मनुजी)

अर्थ=नित्य बड़ों की सेवा और प्रणाम करने वाले पुरुष का आयु विद्या, यश और बल ये चार पदार्थ बढते हैं।

पिताहि प्रभुरस्माकं दैवतं परमं च स: ।
यस्य नो दास्यति पिता स नो भर्ता भविष्यति ।। (वाल्मीकि रामायणे)

अर्थ=हम लोगों पर हमारे पिता जी का प्रभुत्व है, वे हमारे लिये सर्व श्रेष्ठ देवता हैं। पिता जी हमें जिस के हाथ में दे देंगे, वही हमारा पति होगा (वायुदेवता के छेड़ने पर कन्यावों ने ऐसा कहा तब वायुदेवता ने शाप दे दिया कन्यावों को की तुम सब कुवड़ी हो जावो पिता ने पूछा पुत्रियो यह क्या हुवा बतावो)

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा कुशनाभस्य धीमतः।
शिरोभिश्चरणौ स्पृष्ट्वा कन्याशतमभाषत ॥

अर्थ—बुद्धिमान् महाराज कुशनाभ का वह वचन सुनकर उन सौ कन्यावों ने पिता के चरणों में शिर रख कर प्रणाम किया और इस प्रकार कहा (राजन् वायुदेव अशुभ मार्ग का अवलम्वन करके हम पर वलात्कार करना चाहते थे धर्म पर उनकी दृष्टि नहीं थी।)

राजा जनक ने धनुष के टूटने पर मन्त्रियों को आज्ञा दी कि सीता को यहाँ ले आवो मन्त्रियों ने सीता से कहा जाके राम के पास चलना है—

तन्मंत्रिणां वचः श्रुत्वा सीता नत्वा स्वमातरम्।
सखीभिः करिणीपृष्ठे संस्थितासीन्मुदान्विता ॥ (आनन्द रामायणे)

अर्थ=सीता ने मन्त्रियों के इस वाक्य को सुनकर माता के चरणों में नमस्कार किया और सहर्ष सखियों के साथ हथिनी की पीठ पर सवार हो गयीं।

विवाह एवं अन्य शुभ कार्य में माता पितादि के मृत्यु अशौच निर्णय—

पुरुषत्रयपर्यन्तं प्रतिकूलं स्वगोत्रिणाम्।
प्रवेशान्निर्गमस्तद्वत्तथा मण्डन मुण्डने ॥ (मेधातिथिः)
प्रेतकर्माण्यनिर्वर्त्य चरेन्नाभ्युदयिक्रियाम्।
आचतुर्थं ततः पुंसि पञ्चमे शुभदं भवेत् ॥
कृते तु निश्चये पश्चान्मृत्युर्भवति कस्यचित्।
तदा न मङ्गलं कुर्यात् कृते वैधव्यमाप्नुयात् ॥ (गर्गाचार्यजी)
कृते वाङ्निश्चये पश्चान्मृत्युर्भवति गोत्रिणः।
तदा न मङ्गलं कार्यं नारी वैधव्यदं ध्रुवम् ॥ (स्मति चन्द्रिका)
वाग्दानानन्तरं यत्र कुलयोः कस्य चिन्मृतिः।
तदोद्वाहो नैव कार्यः स्ववंशक्षयदोषत. ॥
प्रमीतौ पितरौ यस्यदेहष्तस्याऽशुचिर्भवेत्।
नादैवं नापि वा पित्र्यं यावत्पूर्णो नवत्सरः ॥ (भृगुः जी ने कहा है)

अर्थ=विवाह के प्रसंग में लिखा गया है कि यदि वाग्दान के निश्चय हो जाने के पश्चात् किसी गोत्री (गोत्र से सम्वन्धित) व्यक्ति की मृत्यु हो जाय तो उस वर्ष कोई भी मंगल कार्य नहीं करना चाहिये क्योंकि उस स्थिति में स्त्री के विधवा होने की (या किसी प्रकार की कमी की) संभावना है। तथा वाग्दान के वाद यदि दोनों कुल में (वर एवं कन्या के किसी का मरण हो जाय तो विवाह नहीं करना चाहिये इस तरह न करने से अपने वंश के नष्ट होने का दोष होता है। जिस व्यक्ति के माता या पिता का स्वर्गवास हो जाय उस का शरीर अपवित्र हो जाता है वह एक वर्ष पर्यन्त दैव कार्य तथा पितरों के कार्य का अधिकारी नहीं है। अर्थात् वह पितृ एवं दैव कार्य नहीं कर सकता किसी भी प्रकार का शुभ कार्य करने पर हानि होगी समय पर फल अवस्य प्राप्त होगा शुभ कार्य हो या अशुभ दोनों का फल निश्चित है।

मातापित्रोर्मरणेवर्षपर्यन्तं परान्नं गन्धमाल्यादिभोगं मैथुनमभ्यङ्गस्नानं च वर्जयेत् । ऋतौ भार्या उपेयादेव । आर्त्विज्यं लक्षहोममहादानादि-काम्यकर्माणि तीर्थ यात्रा विवाहादि बृद्धि श्राद्धयुतं कर्ममात्रंशिवपूजां च वर्जयेत् । सन्ध्योपासनदेवपूजापञ्चमहायज्ञातिरिक्त कर्म मात्रंवर्ज्यम् । प्रमृतौ पितरौ यस्य देहस्तयाशुचिर्भवेत् । न दैवं नापि वा पित्र्यंयावत्पूर्णो न वत्सरः ।। इति केचित् । महातीर्थस्य गमनमुपवासव्रतानि च । सपिण्डी श्राद्धमन्येषां वर्जयेद्वत्सरं बुधः । अस्यापवादः—

अर्थ=माता पिता के मरने में एक वर्ष तक दूसरे का अन्नभक्षण गन्ध-माला आदि का भोग, मैथुन और तेल लगाकर स्नान न करे। ऋतु में पत्नी-संगम अवश्य करे। ऋत्विक् लक्ष होम, महादान आदि काम्य कर्म, का कार्य तीर्थयात्रा, विवाह आदि, बृद्धि श्राद्ध, युक्त सव कर्म और शिवपूजन न करे। सन्ध्योपासन, देव पूजन और पञ्च महायज्ञ के अतिरिक्त सभी कर्म वर्जित हैं। जिसके माता-पिता मर गये हैं उसका शरीर जव तक वर्ष पूरा नहीं हो जाता तब तक अपवित्र रहता है, वह दैव या पितृ कार्य न करे महा तीर्थ यात्रा उपवास और व्रत दूसरों का सपिण्डन श्राद्ध, बुद्धिमान् पुरुष वर्ष पर्यन्त त्याग दें।

मृत्यु के समय रोना निषेध है—

श्लेष्मा श्रुबान्धवैर्मुक्तं प्रेतो भुक्ते यतोऽवशः ।
अतो न रोदितव्यं हि क्रियाः कार्याः स्व शिशक्तितः ।। (याज्ञ० स्मितिः)

अर्थ=वान्धवों द्वारा शोक में गिराये गये श्लेष्मा (खखार) और अश्रु प्रेत को वाध्य होकर (न चाहते हुये भी) खाना पड़ता है अतएव रोना नहीं चाहिये, अपितु (प्रेत के हित के लिये) अपनी शक्ति के अनुसार (श्राद्ध) क्रिया करनी चाहिये।

इति संश्रुत्य गच्छेयुर्गृहं बालपुरः सराः ।
विदश्य निम्बपत्राणि नियता द्वारि बेश्मनः ।।
आचम्याग्न्यादि सलिलं गोमयं गौरसर्षपान् ।
प्रविशेयुः समालभ्य कृत्वाऽश्मनि पदं शनैः ।। (याज्ञवल्क्य)

अर्थ=(कुल वृद्धों के) इस प्रकार के वचन सुनकर (शोक त्यागकर) बालकों को आगे करके घर जावें। घर के द्वार पर खड़े होकर नीम की पत्तियाँ कूँचकर, आचमन करके अग्नि, जल, गोवर और पीले सरसों का स्पर्श करें और पत्थर पर पैर रखकर धीरे से घर में प्रवेश करें।

कन्यादान प्रशंसा—

यथाशक्ति भूषणालंकृतकन्याप्रदाताऽश्वमेधयाजी,
भयेषु प्राणदाता चेति त्रयः समपुण्याः ।
श्रुत्वा कन्याप्रदातारं पितरः सपितामहाः ।
विमुक्ताः सर्वपापेभ्यो ब्रह्मलोकं व्रजन्ति ते ।। (धर्म सिन्धुः)

अर्थ=यथा शक्ति भूषणों से अलंकृत कन्यादान का देने वाला अश्वमेध यज्ञ करने वाला और भय से प्राण वचाने वाला इस प्रकार ये तीनों समान पुण्य वाले हैं। पितामहों के

सहित पितर लोग कन्यादान देने वाले से अपने वंश को सुनकर सब पापों से मुक्त होकर ब्रह्म लोक को जाते हैं। यह कन्यादान की प्रशंसा है। वर्तमान समय में कन्या भार स्वरूप हैं दहेज वृद्धि के कारण श्रद्धा नहीं है कन्यादान देने व लेने में दोनों को अर्थ संकष्ट के कारण व लोभ वश श्रद्धा की कमी।

पुनर्विवाहः —

दुष्टलग्ने यथोक्त ग्रहताराद्यभावेऽन्यत्रापिदुष्ट योगाद्यशुभकाले
कूष्माण्डी घृतहोमादि यथोक्त विधि विना सूतकादौ च विवाहे
जाते तयोरेव दम्पत्योः सुमुहूर्ते पुनर्विवाहः कर्तव्यः। (धर्म सिन्धुः)

अर्थ=दुष्ट लग्न में जैसा कहा गया है, वैसे तारादि के न होने पर अन्यत्र भी दुष्ट योग आदि अशुभ समय में कूष्माण्डी-घृत-होम आदि कही हुयी विधि के विना सूतक आदि में भी विवाह हो जाने पर उन्हीं पति पत्नी को अच्छे मुहूर्त में फिर विवाह करना चाहिये ये शास्त्र की आज्ञा है इसी को पुनः विवाह कहते हैं।

कन्यादिदान एक ही बार—

सकृदंशो नियतति सकृत्कन्या प्रदीयते।
सकृदाह ददानीति त्रीण्येतानि सतां सकृत्॥ (मनुस्मृति)

अर्थ=भाइयों में पैतृक सम्पत्ति का बँटवारा एक ही बार होता है कन्यादान एक ही बार होता है, किसी वस्तु का दान एक ही बार होता है, ये तीनों कार्य सज्जनों के लिये एक ही बार होते हैं ये धर्म शास्त्र की आज्ञा है।

विधवा विवाह निषेध——

नोद्वाहिकेषु मन्त्रेषु नियोगः कीर्त्यते क्वचित्।
न विवाह विधावुक्तं बिधवावेदनं पुनः॥ (मनुः)

अर्थ=विवाह के वेदोक्त मन्त्रों में नियोग कहीं नहीं लिखा हैं। और न तो विवाह के विधायक शास्त्रों में ही कहीं विधवा विवाह का उल्लेख हैं।

अयं द्विजैर्हि विद्वद्भिः पशुधर्मो विगर्हितः।
मनुष्याणामपि प्रोक्तो वेने राज्यं प्रशासति॥

अर्थ=विद्वान् ब्राह्मणों ने इस पशु धर्म की अत्यन्त निन्दा की है मनुष्यों में भी वेन राजा के समय से यह पशु धर्म प्रचलित हुवा है।

यस्या म्रियेत कन्याया वाचा सत्ये कृते पति।
तामनेन विधानेन निजो विन्देत देवरः॥

अर्थ=वाग्दान हो जाने के बाद जिस कन्या का पति मर जावे ऐसी कन्या के साथ आगे कहे हुये विधि के अनुसार उसका देवर विवाह करे।

यथा विध्यधिगम्यैनां शुक्लवस्त्रां शुचिव्रताम्।
मिथोभजेता प्रसवात्सकृत्सकृदृता वृतौ॥

अर्थ=वह देवर यथाविधि) (विवाहोक्त विधि) से नियोग कर उस पवित्र व्रत और सफेद वस्त्र पहनने वाली स्त्री से गर्भधारण काल तक ऋतुकाल में एकवार समागम करे (एक लड़का होने पर त्याग से रहे या शुरू से ही विधवा के नियम का पालन करे यह उत्तम है)।

एक भाई के पुत्र सभी पुत्रवान—

भ्रातृणामेकजातानामेकश्चेत्पुत्रवान् भवेत ।
सर्वास्तांस्तेन पुत्रेण पुत्रिणो मनुरब्रवीत् ।। (मनुजी ने कहा है)

अर्थ=एक ही माता-पिता से उत्पन्न अनेक भाइयों में से यदि एक ही भाई पुत्रवान् हो तो उसी एक ही पुत्र से सभी पुत्रवान् होंगे ऐसा मनु ने कहा है।

आठ प्रकार के विवाहों का लक्षण—

ब्राह्मविवाह–ब्राह्मो विवाह आहूय दीयतेशक्त्यलंकृतः ।
तज्जः पुनात्युभयतः पुरुषानेक विंशतिम् ।। (याज्ञवल्क्यस्मृतिः)

अर्थ=ब्रह्मविवाह वह होता है जिसमें (वर को) बुलाकर (उसे) यथाशक्ति आभूषणादि से अलंकृत कन्या प्रदान की जाती है; ऐसे विवाह से उत्पन्न पुत्र (अपने पूर्व के दश आगे आने वाली दश तथा अपनी पीढी को मिलाकर) इक्कीस पीढीयों को पवित्र करता है।

दैवार्षविवाह—यज्ञस्थ ऋत्विजे दैव आदायार्षस्तु गोद्वयम् ।
चतुर्दश प्रथमजः पुनात्युत्तरजश्च षट् ।।

अर्थ=यज्ञानुष्ठान के समय ऋत्विज को (यथाशक्ति अलंकृत करके) कन्या दी जाय तो वह दैव विवाह होता है जब दो गायें लेकर कन्या दी जाती है तब वह आर्ष विवाह होता है। इनमें दैव विवाह से उत्पन्न पुत्र (सात पहले की ओर सात बाद की इस प्रकार) चौदह पीढ़ीयों को और आर्ष विवाह से उत्पन्न पुत्र (तीन पहले और तीन बाद की) छः पीढीयों को पवित्र करता है।

प्राजापत्यविवाह—इत्युक्त्वा चरतां धर्मं सहया दीयतेऽर्थिने ।
स कायः पावयेत्तज्जः षट् षड् वंश्यान्सहात्मना ।।

अर्थ=साथ रहकर धर्म का आचरण करो ऐसा कहकर जब कन्या विवाहेच्छु पुरुष को प्रदान की जाती है तब काय विवाह होता है; इस से उत्पन्न पुत्र अपनी पीढी को और छः पहले एवं छः बाद की पीढीयों को पवित्र करता है।

आसुर गान्धर्वादि विवाह लक्षणानि—

आसुरोद्र विणादानाद्गन्धर्वः समयान्मिथः ।
राक्षसो युद्धहरणात्पैशाचः कन्यकाछलात् ।।

अर्थ=अधिक धन लेकर कन्या प्रदान की जाय तो वह असुर विवाह होता है, परस्पर प्रेम होने पर जो विवाह होता है वह गान्धर्व कहलाता है। युद्ध में हरी गयी कन्या से विवाह राक्षस विवाह होता है और कन्या को छल पूर्वक फुसलाकर किया गया विवाह पैशाच होता। इन सभी विवाहों में सर्व श्रेष्ठ है ब्राह्म विवाह यथाशक्ति धन देकर व श्रद्धा

पूर्वक उस को लेने वाला लेकर दोनो अपने कुल का उत्थान करते हैं कन्या तथा पुत्रों को बेचने वाले समस्त वर्ण अपने कुल को और स्वयम् को भी ब्राह्मण वर्ग सभी जातियाँ नरकादि योनि की प्राप्ति करेंगे। दहेज की प्रथा सव को नप्ट कर देगी पुत्र तो विक्री हो जाता है उसका दिया पिण्ड दान नहीं मिलेगा। जल दान एवं ओ कोई शुभ कार्य करने का अधिकारी नहीं होता है। इस से ब्राह्मण वर्ग एवं सभी वर्णों को यथा शक्ति जो दे उसे श्रद्धा पूर्वक लें दहेज के धन को शास्त्रों में लिखा है सभी के उपयोगी नहीं होता है। ग्रो कन्या होती उसका अधिकारिणीं।

नारी समादर से फल अनादर से दोप—

यत्र नार्य्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।
यत्रै तास्तु न पूज्यन्ते सर्व्वास्तत्राऽफलाः क्रियाः॥

अर्थ = जिस कुल में स्त्रियों का समादर है वहाँ देवता लोग प्रसन्न रहते हैं और जहाँ ऐसा नहीं है उस परिवार में समस्त यागादि क्रिया वृथा होती हैं। कन्या विक्रय की तरह पुत्र के विवाह में भी कन्या के माता पिता से दवाकर धन लेना एक प्रकार का पुत्र विक्रय है। कन्या के पिता माता का यह कर्त्तव्य है कि कन्या को कुछ अलङ्कारादि देकर वर के हाथ में समर्पण करे कन्यारत्न को अवश्य ही ग्रहण कर लेना चाहिये। श्रद्धा के साथ उस को कभी नाजायत कष्ट न देना चाहिये। धन के लिये पीडा देना ये नीचता है वड़ा पाप है। इसी पाप से आज भारत के वहुत से समाजों का आजकल अधः पतन हो रहा है कुटुम्व में विरोध और आशान्ति उत्पन्न करना अधर्म और अविचारक कार्य है गृहस्थाश्रम में शान्ति कल्पतरु है दाम्पत्य प्रेम उस कल्पतरु का मूल है। विवाह संस्कार के वाद दाम्पत्यप्रेम के साथ पति पत्नी संसार यात्रा को निर्वाह करते हैं। इस संकेत पर सभी लोग ध्यान दें तो सवका कल्याण होगा।

कन्यावस्था का लक्षण—

यावन्न लज्जिताऽङ्गानि कन्या पुरुष सन्निधौ।
योन्या दीनि न गुह्येत तावद्भवति कन्यका॥
यावच्चैलं न गृह्णाति यावत् क्रीडति पांशुभिः।
यावद्दोषं न जानाति तावद्भवति कन्यका॥

अर्थ = जव तक पुरुप के निकट आने में लज्जिता हो कर स्त्री अपने अङ्गों को आवृत न करे तभी तक कन्यावस्था समझनी चाहिये। जव तक स्त्री वस्त्र ग्रहण नहीं करती है धूलि आदि से खेलती रहती है और कामादि विपय दोष कुछ भी नहीं जानती है तभी तक उसकी कन्यावस्था है। इस अवस्था में माता पिता का कर्त्तव्य है कि कन्या को इस प्रकार की शिक्षा देवें जिस से वह भविष्यत् में पतिव्रता, सती, अच्छी माता व धार्म्मिक रमणी वन सके। सकल धर्म शास्त्र में ही स्त्रियों की शिक्षा के लिये आज्ञा देते हैं।

स्त्री कभी स्वतन्त्र नहीं रहे—

पिता रक्षति कौमारे भर्त्ता रक्षति यौवने।
रक्षन्ति स्थविरे पुत्रा न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति॥ (मनुजी ने)

अर्थ=स्त्री कन्यावस्था में पिता के आधीन रहती है। यौवन काल में पति के आधीन रहती है और वृद्धावस्था में पुत्र के आधीन रहती है। कभी भी स्वतन्त्र करने योग्य स्त्री जाति नहीं है। पतिदेवता के साथ स्त्री का उपास्य उपासक भाव है।

पति के द्वारा अपमानित स्त्री की क्या गति—

मान्या चेन्म्रियते पूर्व्वं भार्य्या पतिविमानिता।
त्रीणि जन्मानि सा पुंस्त्वं पुरुषः स्त्रीत्वमर्हति ॥ (कात्यायन संहिता में)

अर्थ=यदि निर्दोषा माननीया भार्य्या पति के द्वारा अवमानिता होकर मरे तो तीन जन्म तक वह स्त्री पुरुष योनि को और पुरुष स्त्री योनि को प्राप्त होते हैं।

अदुष्टाऽपतितां भार्य्यां यौवने यः परित्यजेत्।
स जीवनाऽन्ते स्त्रीत्वञ्च वन्ध्यात्वञ्च समाप्नुयात् ॥ (दक्ष संहिता)

अर्थ=निर्दोषा और निष्पापा भार्य्या को जो गृहस्थ यौवनकाल में परित्याग करता है वह मृत्यु के अनन्तर दूसरे जन्म में वन्ध्या स्त्री होता है।

कन्यादान का समय—

अष्टवर्षा भवेद् गौरी नव वर्षा तु रोहिणी।
दशवर्षा भवेत् कन्या अत ऊर्द्ध्वं रजस्वला ॥ (संवर्त्त संहिता)

अर्थ=आठ वर्ष की अविवाहिता कन्या गौरी नव वर्ष की रोहिणी और दश वर्ष की कन्या कही जाती है। इस से अधिक वर्ष को कन्या रजस्वला कहलाती है। इस प्रकार की रजस्वला कन्या जिस के घर में है वहाँ उस के माता पिता व ज्येष्ठ भ्राता नरक में जाते हैं।

अदृष्टरज से दद्यात्कन्यायै रत्न भूषणम्। (आश्वलायनः)
अप्रयच्छन्समाप्नोति भ्रूणहत्या मृता वृतौ। (याज्ञवल्क्यः)

अर्थ=इन वचनों से सिद्ध है कि रजस्वला होने से पहले ही कन्यादान की आज्ञा दी गयी है। अतः इन सब प्रमाणों से कन्या की आयु के विषय में सामान्यतः आठ वर्ष से लेकर बारह वर्ष तक की आज्ञा और विशेषतः कहीं आठ वर्ष में विवाह होने की प्रशंसा, कहीं दश वर्ष में विवाह होने की प्रशंसा और उस से अधिक वयः क्रम में विवाह होने की निन्दा की गयी है। शास्त्रों में।

स्त्रियों के छः दोष—

पानं दुर्ज्जनसंसर्गः पत्या च विरहोऽटनम्।
स्वप्नोऽन्यगेहवासश्च नारी संदूषणानि षट् ॥ (मनुः)

अर्थ=पान, दुर्ज्जन का सङ्ग पति से विरह, इधर-उधर घूमना, असमय में निद्रा व दूसरे के घर में वास, स्त्रियों के ये स्वाभाविक छः दोष हैं।

तद्वर्षाद्द्वादशात्काले　वर्त्तमानमसृक्　पुनः ।
जरापक्वशरीराणां　याति　पञ्चाशतः　क्षयम् ॥ (सुश्रुत में)

अर्थ=साधारणतः १२ वर्ष की आयु से रजोदर्शन प्रारम्भ होकर ५० वर्ष की आयु मे वार्द्धक्य आने पर समाप्त होना है । बारह वर्ष का काल रजो दर्शन का साधारण काल है । इस से कम आयु में या अधिक आयु में भी विशेष कारण होने पर रजो दर्शन हो शक्ता है ।

ऋतुकाल में गमन न करने से दोष–

भ्रूणहत्यामवाप्नोति　ऋतौ　भार्य्यापराङ्मुखः ।
सा त्ववाप्याऽन्यतो गर्भं त्याज्या भवति पापिनी ॥ (व्याससंहिता)

अर्थ=ऋतुकाल में अपनी स्त्री में गमन न करने से पुरुष को भ्रूण हत्या का पाप होता है और यदि ऋतु मती स्त्री दूसरे पुरुष से गर्भोत्पादन करावे तो वह पापिनी व त्याज्या होती है । स्त्री को ऋतु होना सृष्टि विस्तार के लिये है प्रकृति के ओर से ।

परदा प्रथा सनातन से—

तंतथा　भाषमाणं　वै　पितरं　मितभाषिणी ।
उवाच　वचनं　बाला　ललितं　धर्म्म　संयुतम् ॥
नाऽहं दृष्टि पथे राज्ञां गमिष्यामि पितः किल ।
कामुकानांनरेशानां　गच्छन्त्यन्याश्चयोषितः ॥
धर्म्मशास्त्रे　श्रुतं　तात　मयेदं　वचनंकिल । (देवी भागवते)
एक एव बरो नार्य्या निरीक्ष्यः स्यान्न चाऽपरः ॥

अर्थ=(उस कन्या को उस के पिता महाराजसु बाहुने कहा चलो स्वयम्वर में ले जा रहे थे तो उसने ऐसा कहा) पिता जी के इस प्रकार कहने पर शशिकलाने उन को निम्नलिखित धर्म्म मूलक मधुर वाक्य कहा है । हे पितः मैं राजावों के नेत्रों के सामने नहीं आऊँगी क्योंकि व्यभिचारिणी स्त्रियाँ ही कामुक पुरुषों की दृष्टि के सामने आती हैं । धर्म्म शास्त्र में मैंने सुना है की पतिव्रता स्त्री केवल अपने ही पति को देखेगी और किसी पुरुष की ओर कभी दृष्टिपात नहीं करेगी । जो स्त्री अनेक पुरुषों के दृष्टिपथ में आती है उसका पाति व्रत्य नष्ट होता है क्यों कि उस समय यह स्त्री मेरी भोग्या बन जाय ऐसी कामना सभी पुरुष करने लगते हैं । जो राज कन्या हाथ में वर माला लेकर स्वयम्वर सभा में आती है उस को वेश्या की तरह सभी की स्त्री बनना पड़ता है । जिस प्रकार वाराङ्गना दुकान में जाकर वहाँ समागत पुरुषों को देख कर गुणागुण का विचार करती है धर्मशास्त्रों के अनुसार ब्राह्म विवाह सर्व श्रेष्ठ है ।

अवरोध प्रथा की पुष्टि वेदादि शास्त्रों में भी की गयी है ।

ऋग्वेद के अष्टम मण्डल के चौथे अध्याय के २६ वें सूक्त में लिखा है—

यो वां　यज्ञभिरा　वृतोऽधिवस्त्रावधूखि । (ऋग्वेद)

अर्थ=अवगुण्ठन वस्त्र द्वारा आवृता वधू की तरह यज्ञ के द्वारा जो आवृत है ।

रामायण के कई एक स्थानों में अवरोध प्रथा की बातें लिखी हुवी है——

या न शक्या पुरा द्रष्टुं भूतैराकाशगैरपि।
तामद्य सीतां पश्यन्ति राजमार्गगता जनाः॥

अर्थ=श्रीभगवान् रामचन्द्र जी के साथ सती सीता को वनवास के लिये राजपथ जाती हुवी देखकर अयोध्यावासियों ने कहा कि "पहले जिस सीता देवी को खेचर जीव भी नहीं देखने पाते थे उसी माता को आज राजमार्ग के पथिक लोग भी देखने लगे। मृतपति रावण को देख कर मन्दोदरी विलाप करती हुवी कह रही है कि :——

दृष्ट्वा न खल्वसि क्रुद्धो माहिमाऽनवगुण्ठिताम्।
निर्गतां नगरद्वारात्पद्भ्यामेवाऽऽगतां प्रभो॥

अर्थ=हे स्वामिन्——मैं तुम्हारी महिषी होने पर भी अवगुण्ठनत्याग करके आज नगर से वाहर पैदल यहाँ आयी हूँ इस को देखकर भी क्या तुम्हें क्रोध नहीं होता है यह देखो तुम्हारी सव स्त्रियाँ आज लज्जा व अवगुण्ठन को त्याग कर के वाहर आ गयी हैं ऐसा देख कर भी तुम्हें क्रोध क्यों नहीं हो रहा है।

इन सव प्रमाणों के द्वारा प्राचीन काल में अवरोध प्रथा थी ऐसा निश्चय होता है परदा प्रथा प्राचीन है।

पर स्त्री गमन पुरुष को पर पुरुष गमन स्त्री को क्या फल——

यः स्वनारीं परित्यज्य निर्दोषां कुल सम्भवाम्।
परदाररतो वा स्यादन्यां वा कुरुते स्त्रियम्॥
सोऽन्यजन्मनि देवेशि स्त्रीभूत्वा विधवा भवेत्।
या नारी तु पतिं त्यक्त्वा मनोवाक्काय कर्मभिः॥
रहः करोति वै जारं गत्वा वा पुरुषान्तरम्।
तेन कर्म विपाकेन सा नारी विधवा भवेत्॥

अर्थ=निर्दोषा, कुलीन अपनी सती स्त्री को छोड़कर जो पर स्त्री में रत हो जाता है या पर स्त्री को अपने घर में डाल लेता है उसको इस पाप से परजन्म में स्त्री जन्म तथा वाल वैधव्य मिलता है। इसी प्रकार जो स्त्री अपने पति को छोड़कर एकान्त में पर पुरुष के साथ व्यभिचार करती है, उसको भी आगे जन्म में वाल वैधव्य प्राप्त होता है। स्त्री पुरुष दोनों के सच्चरित वने रहने के लिये इस व्रत में कैसी उत्तम शिक्षा दी गयी है सो पाठक मात्र ही समझेंगे।

ज्येष्ठ मास में अनुष्ठान योग्य वट सावित्री व्रत

सावित्री पतिव्रता का प्रमाण——

तीव्रव्रत में जहाँ पर सत्यवान् को अल्पायु जानकर अश्वपति अपनी पुत्री सावित्री से कहते हैं कि "अन्य किसी को पतिरूप से वरण करो" उस समय सावित्री उत्तर देती है–

नान्यमिच्छाम्यहं तात मनसाऽपि वरं प्रभो।
यो मया च वृतो भर्त्ता स मे नान्यो भविष्यति॥

पतिं मत्वा न मे बुद्धिर्विचलेच्च कथञ्चन।
सगुणो निर्गुणो वापि मूर्खः पण्डित एव वा॥
दीर्घायुरथ चाल्पायुः सवै भर्त्ता जनप्रभो।
नान्यं वृणोमि भर्त्तारं यदि वा स्याच्छचीपतिः॥

अर्थ=पिताजी, मैं मन से भी अन्य पुरुष को वरण नहीं कर सकती, जिनको एक बार पतिरूप से वरण किया, वे ही सदा के लिये पति रहेंगे। सत्यवान् को अल्पायु जानकर मेरी बुद्धि विचलित नहीं होती। वे गुणवान् या गुणहीन हों मूर्ख या पण्डित हों, दीर्घायु या अल्पायु हों, मेरे पति वे हो चुके हैं, यदि साक्षात् इन्द्र भी पतिरूप में आवें मैं उन्हें वरण नहीं करती। इन शब्दों में पातिव्रत्य की कितनी महिमा है और सती स्त्री का कितना तेज तथा अमोघ सत्य संकल्प भरा हुवा है सो विचारवान् व्यक्तिमात्र ही समझ सकते हैं। विपत्ति के समय पतिव्रता स्त्री को किस तरह पति का साथ देना चाहिये इसका ज्वलन्त दृष्टान्त सावित्री देवी ने अपने चरित्र द्वारा संसार को दिखा दिया है। सत्यवान् की मृत्यु एक वर्ष के बाद होगी ऐसा जानकर भी सावित्री ने उन्हें नहीं छोड़ा किन्तु अपनी तपस्या के बल से मृत पति को भी जीवित करा लिया। केवल इतना ही नहीं, सुशीला स्त्री का कर्त्तव्य जो श्वसुर कुल, पितृकुल दोनों की भलाई करनी है, सो भी सावित्री देवी ने पूरा कर दिया। यमराज को सन्तुष्ट करके पहिले अपने श्वसुर मत्सेन का खोया हुवा राज्य दिला दिया तदन्तर अपने अपत्यहीन पिता को पुत्र दिला दिया और अन्त में अपना उद्देश्य पूरा किया। यह सभी गृहस्थ नर नारियों के लिये आदर्श शिक्षाप्रद दृष्टान्त है। परमात्मा घट-घट में विराजमान हैं ऐसा जानकर सभी से प्रीति करनी चाहिये यह उपदेश धर्म शास्त्र में कितने ही स्थानों में दिया गया है।

मित्रदृष्टि से सबसे प्रेम रक्षाबन्धन उत्सव श्रावण में—

अथ मां सर्वभूतेषु भूतात्मानं कृतालयम्।
अर्हयेद् दानमानाभ्यां मैत्र्याभिन्नेन चक्षुषा॥ (श्रीमद्भागवते)

अर्थ=सकलभूतों में जीवात्मारूप से श्रीभगवान् वसे हुवे हैं, इसलिये मित्रदृष्टि से सबसे प्रेम तथा सबका मान करना चाहिये। श्रावण महीने में जो, रक्षाबन्धन त्यौहार आता है उसमें इस विज्ञान की अच्छी स्मृति दिलायी जाती है। क्योंकि विज्ञान जब तक मनुष्य जीवन में कार्यरूप में प्रकट नहीं होता, तब तक उसकी पूरी उपयोगिता सिद्ध नहीं होती। यही कारण है कि श्रावण शुक्ल पूर्णिमा के दिन भाई बहिन, मित्र-मित्र, छोटे बड़े भाई परस्पर के हाथ में राखी बाँधकर हार्दिक मेल तथा प्रेम का परिचय प्रदान करते हैं। और इसका फल भविष्योत्तर पुराण में यही लिखा है कि :—

इन्द्राण्या यत् कृतं पूर्वं शक्रस्य जय वृद्धये। (भविष्य पुराणे)।

अर्थ=इन्द्र की राज्यलक्ष्मी जब असुरों के हाथ चली गयी थी तो इन्द्राणी ने रक्षा-बन्धन द्वारा ही उसे पुनः प्राप्त कर ली थी। वास्तव में भाई-भाई, स्वजन कुटुम्बों की एकता ही राज्य लक्ष्मी को लाती है और भ्रातृविरोध ही राज्यलक्ष्मी को विदेशियों के हाथ में डाल देता है, यही शिक्षा रक्षा बन्धन पर्व से हमें प्राप्त होती है। भगवान् अपने भक्त के लिये क्या

कुछ नहीं करते इसका ज्वलन्त प्रमाण नृसिंहचतुर्दशी व्रत से प्राप्त होता है। भगवान् ने भक्त शिरोमणि प्रह्लाद के लिये षण्डामर्कका बेत खाया, प्राणनाशकारी हलाहल पान किया, अग्निप्रवेश किया, समुद्रप्रवेश किया सर्पदंशन दुःख देखा करिकरनिपीडन प्राप्त किया। अन्त में सत्य कि विजय होती है—

सत्यं विधातुं निजभक्त भाषितं,
व्याप्तिञ्च भूतेष्वखिलेषु चात्मनः।

अर्थ=निराकार होने पर भी भक्त वचन को ही सत्य करने के लिये अद्भुत नृसिंह-रूप धारण कर लिया।

मनुष्य या राजा चाहे कितना ही प्रतापी क्यों न हो, यदि वह अत्याचारी प्रजा पीडक, भगवन्नामनाशक, पापपरायण, सज्जनों को दुःख देने वाला हो जाय तो उसका नाश अवश्यम्भावी है। हिरण्यकशिपु कितना बड़ा प्रतापी था, दैवबर से अजेय अमर था, किन्तु पाप का गुरुभार पूर्ण हो जाने पर समस्त प्रताप मिट्टी में मिल गया और नख से फाड़ कर मार दिया गया। इस कारण संसार में शक्ति का मद, नाश का ही कारण होता है, यह भी शिक्षा इस व्रत से मिलती है।

एक साथ दो शुभ कार्य विवाहादि वर्ष मध्य में निषेध—

सोदराणां तुल्य संस्कारो वर्ष मध्ये निषिद्धः।
गृहनिर्माणविवाहौ वर्षान्तर्नकार्यौ।
गृहप्रवेशस्य निषेधाभावाद्गृहप्रवेशोत्तरं विवाहः कार्यः।
सोदरयोः पुत्रयोः कन्यापुत्रयोर्वा कन्ययोर्वा विवाहौ
षण्मासाभ्यन्तरे विशेषतो निषिद्धौ पुरुषत्रयात्मककुले
विवाहान्मौञ्जी बन्धः षण्मासे निषिद्धः।

अर्थ=सहोदर भाइयों का समान संस्कार साल भीतर निषिद्ध है। मकान का बनाना और विवाह वर्ष के मध्य में न करे।

गृहप्रवेश के निषेध न होने से गृह प्रवेश के बाद विवाह करना चाहिये। सहोदर दो पुत्रों का या कन्या और पुत्र का अथवा दो लड़कियों का विवाह छः महीने के भीतर विशेषतः निषेध है। कुल में तीन पुस्त के भीतर विवाह से उपनयन छः महीने में निषिद्ध है। (ये उत्तम विधान है और विधान हैं परिहाररूप में धर्म सिन्धु निर्णय सिन्धु आदि में देखें)।

पत्नी शुभ कार्य में साथ—

व्रतबन्धे विवाहे च चतुर्थीसहभोजने।
व्रतेदाने मखे श्राद्धे पत्नी तिष्ठति दक्षिणे॥
सर्वेषु धर्मकार्येषु पत्नी दक्षिणतः शुभा।
अभिषेके विप्रपादप्रक्षालने चैव वामतः॥ (गृह्यपरिशिष्टे)

अर्थ=व्रत में, विवाह में, भोजन के समय, दान के समय, यज्ञ में, तथा श्राद्ध में स्त्री पति के दाहिने तरफ रहनी चाहिये। अन्यत् अपि (भी) सम्पूर्ण धर्म के कार्यों में भी

स्त्री को दाहिने तरफ रहना चाहिये। किन्तु अभिषेक (राज्यारोहण) तथा ब्राह्मणादि का पैर धोने के समय स्त्री को वामभाग में शुभ माना गया है।

शुभ कार्य में भस्म का त्रिपुण्ड लगा के——

श्राद्धे यज्ञे जपे होमे वैश्वदेव सुरार्चने।
भस्मत्रिपुण्ड्रैः पूतात्मा मृत्युं जयति मानवः॥ (प्रयोगपारिजात में)

अर्थ=श्राद्ध, यज्ञ, जप, होम, वैश्वदेव और देव पूजा में भस्म के त्रिपुण्ड्र लगाने से पवित्रात्मा मनुष्य मृत्यु को जीतता है।

भस्म लगाने की विधि श्रीमद्देवी भागवते——

ॐ नमः शिवाय। इस मन्त्र से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य को लगाना चाहिये भस्म का बड़ा महत्व एवं फल है।

स्त्री शूद्रादि को भी लगाना चाहिये इस मन्त्र से——

शिवाय नमः।

व्रतादि में दातुन निषेध——

श्राद्धे जन्मदिने चैव विवाहे जीर्ण सम्भवे।
व्रते चैवोपवासे च वर्जयेद्दन्त धावनम्॥

अर्थ=श्राद्ध में जन्म के दिन विवाह में अशक्ति काल में व्रत में एवं उपवास के दिन दातून नहीं करनी चाहिये।

सर्वेषां वरणं कृत्वामधुपर्केण पूजयेत्।
यजमानः सपत्नीको मण्डपं प्रविशेत्ततः॥

इति प्रथमः परिच्छेदः समाप्तः——

अर्थ=यज्ञादि कार्यों में सभी द्विजों के वरण के पश्चात् मधुपर्क (हल्दी एवं अक्षत) से पूजा करके तब यजमान को स्त्री के साथ मण्डप में प्रवेश करना चाहिये।

● ३——तीसरा गृहस्थधर्म प्रकरण एवं प्रथम परिच्छेद समाप्त ●

सनातन धर्म मार्तण्डः

द्वितीयः परिच्छेदः

श्राद्ध प्रकरणम्

श्राद्ध काल निर्णय—

अमावास्याऽष्टका वृद्धिः कृष्णपक्षोऽयनद्वयम् ।
द्रव्यं ब्राह्मण संपत्तिर्विषुवत्सूर्यसंक्रमः ।।
व्यती पातो गजच्छाया ग्रहणं चन्द्रसूर्ययोः ।
श्राद्ध प्रति रुचिश्चैते श्राद्धकालाः प्रकीर्तिताः ।।

अर्थ=अमावस्या अष्टका (हेमन्त और शिशिर ऋतु के कृष्णपक्षों की चारो अष्टमी-तिथियों) को पुत्रजन्म के अवसर पर कृष्णपक्ष में, दोनों (उत्तर एवं दक्षिण) अयनों में, द्रव्य (कृपरमाष) ब्राह्मण सम्पत्ति, मेष और तुला राशि पर सूर्य संक्रमण सूर्य का दूसरी राशि पर गमन व्यतीपात (एक विशेष योग) गजच्छाया, चन्द्रमा और सूर्य के ग्रहण के समय और जब करने की इच्छा हो तब श्राद्ध का काल होता है ।

कर्मनिष्ठास्तपोनिष्ठाः पञ्चाग्निर्ब्रह्मचारिणः ।
पितृमातृपराश्चैव ब्राह्मणाः श्राद्धसंपदः ।।

अर्थ=कर्मनिष्ठ (विहित अनुष्ठान में तत्पर रहने वाले) तपस्वी, पञ्चाग्नि का आधान करने वाले, ब्रह्मचारी, पिता-माता की सेवा करने वाले ब्राह्मण श्राद्ध में अक्षय फल के हेतु होते हैं ।

धर्म शास्त्रों में लिखा है कि स्त्री सहित शुभ कार्य में श्री वृद्धि—

अर्द्धं भार्य्या मनुष्यस्य भार्य्या श्रेष्ठतमः सखा ।
भार्य्यावन्तः क्रियावन्तो भार्य्यावन्तः श्रियाऽन्विताः ।।

अर्थ=संसार में स्त्री पुरुष की अर्द्धाङ्गिनी स्वरूपिणी व परम मित्ररूपा है । जिनके भार्य्या है उन्हीं की सब धर्म कार्यों में सफलता व श्री वृद्धि हुवा करती है ।

अथर्ववेद में यमलोक पितृलोकादि का प्रमाण—

यमलोक, पितृलोक आदि के विषय में वेद में भी प्रमाण मिलते हैं । यथा—अथर्ववेद ६-१२-११८ में यमलोक के विषय में लिखा है—

'ऋणात्नो नर्णमेत्सैमानो यमस्य लोके अधिरज्जुरायात् ।

अर्थ=हम लोगों को ऐसा ऋण न हो जिससे ऋण देने वाला उत्तमर्ण हाथ में रज्जु लेकर यमलोक में हमें बांधने आवे ।

इसी प्रकार बृहदारण्यकोपनिषद् में पितृ लोक के विषय में लिखा है—

'ये शतं मनुष्याणामानन्दाः स एकः पितणां जितलोकानामानन्दः ।

अर्थ=अर्थात् मर्त्य लोक के आनन्द का शत गुण आनन्द पितृ लोक में मिलता है । प्रेत लोक के विषय में श्री भगवान् ने गीता में कहा है कि:—

'भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्या जिनोऽपि माम् ।

अर्थ=प्रेत के उपासक प्रेत लोक को जाते हैं और भगवान् के उपासक भगवान् को ही प्राप्त होते हैं ।

स्वकर्म भ्रष्ट चारो वर्णों के मनुष्यों की चार प्रकार की प्रेतत्व प्राप्ति का वर्णन किया है, मनु जी ने—

वान्ताश्युल्कामुखः प्रेतां विप्रो धर्मात् स्वकाच्च्युतः ।
अमेध्यकुणपाशी च क्षत्रियः कटपूतनः ।।
मैत्राक्षज्योतिकः प्रेतो वैश्यो भवति पूयभुक् ।
चैलाशकश्च भवति शूद्रो धर्मात् स्वकाच्च्युतः ।।

अर्थ=स्वधर्म भ्रष्ट ब्राह्मण वमन भक्षक उल्कामुख प्रेत होता है, कर्मभ्रष्ट क्षत्रिय शव तथा विष्ठाभक्षक कट पूतन नामक प्रेत होता है, कर्मभ्रष्ट वैश्य पूयभक्षक मैत्राक्षज्योतिक नामक प्रेत होता है और कर्मभ्रष्ट शूद्र कीटभक्षक चैलाशक नामक प्रेत होता है ।

अथर्ववेद में भूत प्रेतों के विषय में प्रचुर प्रमाण मिलते हैं वेदों में श्राद्ध का प्रमाण है—

यथा अथर्ववेद ८-३-६ में—

ये सूर्यं न तितिक्षन्त आतपन्तममुं दिवः ।
अरण्यान् वस्तवासिनो दुर्गन्धीं ल्लोहितास्यान् ममकान् नाशयामसि ।।

अर्थ=जो प्रेतगण सूर्य तेज सहन करने में असमर्थ हो कर दिन में छिपे रहते हैं, जो देखने में श्री हीन, मेषचर्म परिधान कारी, रक्त मुख तथा दुर्गन्ध शरीर हैं, उन को मन्त्र-शक्ति तथा द्रव्य शक्ति द्वारा नाश करेंगे ।

और भी २-२-६ में—

दश बृक्ष मुञ्चेमं रक्षसो ग्राह्या अधि यैन जग्राह पर्वसु ।
अथो एनं वनस्पते जीवानां लोकमुत्तम ।।
हे पलाशउदुम्बरादिदशवृक्षशकल निर्मितमणे ।

अर्थ=तुम उस मनुष्य को जो कि, अमावस्या में ब्रह्मराक्षस (एक प्रकार की प्रेत योनि) द्वारा आक्रान्त हुवा है, ब्रह्मराक्षस के आक्रमण से मुक्त करो और उस मुमूर्षु को

पुनर्जीवन दान करो । इत्यादि इत्यादि अनेक प्रमाण वेद में भी प्रेत योनि के विषय में प्राप्त होते हैं।

अथर्ववेद में नित्य नैमित्तिक पितरों के विषय में अनेक प्रमाण मिलते हैं।

यथा——अथर्ववेद के अष्टादश काण्ड में——

'सरस्वतीं पितरो हवन्ते दक्षिणा यज्ञमभिनक्षमाणाः"

अर्थ=दक्षिण भाग में आसीन होकर पितृ गण सरस्वती का आह्वान करते हैं।

"सरस्वती या सरथं यथाथोक्थैः स्वधाभिर्देवि पितृ भिर्मदन्ति"

(१८–१–१–१८–२–२)

अर्थ=आह्वान से सन्तुष्ट सरस्वती देवी स्वधाभोजी पितरों के साथ आनन्द से विराज मान होती हैं।

उदीरतामवर उत परास उन्मध्यमाः पितरः सोम्यासः।
असुम् य ईयुरवृका ऋतज्ञास्ते नोवन्तु पितरो हवेषु ॥

अर्थ=निकृष्ट उत्कृष्ट तथा मध्यम श्रेणी के पितृगण जो सोम सम्पादनकारी हैं, यजमान को प्राण देते हैं, अहिंसक तथा सत्यवित हैं, वे आहूत होकर हमारी रक्षा करें।

इदं पितृभ्यो नमो अस्त्वद्य ये पूर्वासो ये अपरास ईयुः।
ये पार्थिवे रजस्या निषत्ता ये वा नूनं सुवृजनासु दिक्षु ॥

अर्थ=जो पितृगण पहले ही पितृ लोक को चले गये हैं, जो अभी पृथ्वीलोक में हैं और जो दश दिशावों में व्याप्त हैं सब को नमस्कार।

मा त्वा वृक्षः सं बाधिष्ट मा देवी पृथिवी मही।
लोकं पितृषु वित्त्वैधस्व यम राजसु ॥

अर्थ=हे प्रेत। तुम्हें वृक्ष बाधा न देवें, पृथिवी बाधा न देवें, तुम यमराज के लोक में जा कर वहाँ पितृ लोक में सुख से रहो।

"सं विशन्त्विह पितरः स्वा नः स्योनं कृण्वन्तः प्रतिरन्तं आयुः"

अर्थ=इस यज्ञ में हमारे पूर्वज पितृगण आवें और तृप्त होकर हमें सुख तथा आयु प्रदान करें।

ये निखता ये परोप्ता ये दग्धा ये चोद्धिताः।
सर्वांस्तानग्न आवह पितॄन्हविषे अत्तवे ॥

अर्थ=हे अग्नि। हमारे जो पितर भूमि में गाड़े गये हैं, जो दूर देश में फेंके गये हैं, जो जलाये गये हैं और जो संस्कारोत्तर पितृ लोक में स्थित हैं सबको हमारे दिये हुये हविर्भोजन के लिये यहाँ पर लावो।

प्रातः स्नानादि में तैलमर्दन निषिद्ध है——

प्रातः स्नाने व्रते श्राद्धे द्वादश्यां ग्रहणे तथा।
मद्यलेपसमं तैलं तस्मात्तैलं विवर्जयेत् ॥

अर्थ=प्रातः स्नान में व्रत या श्राद्ध के दिन, द्वादशी तथा ग्रहण में तेल लगाना मदिरा लगाने के सदृश। इसलिये इन दिनों में तेल नहीं लगाना चाहिये।

मृतपितरों को पिण्ड कैसे प्राप्त होता है—

देवता ऋषयः सर्वे ब्रह्माणमिदमब्रुवन्।
मृतस्य दीयते पिण्डः कथं गृह्णन्त्यचेतसः॥
भिन्ने पञ्चात्मके देहे गते पञ्चसु पञ्चधा।
हंसस्त्यक्त्वा गतो देहं कस्मिन् स्थाने व्यवस्थितः। (पिण्डोपनिषद्)

अर्थ=देवता तथा ऋषियों ने भगवान् ब्रह्मा से पूछा कि मृतपितरों को जो श्राद्ध में पिण्ड दिया जाता है, वे कैसे उसको ले सकते हैं और पञ्चभूतात्मक देह जब भूतपञ्चक में मिल जाता है, तो जीवात्मा और सूक्ष्मशरीर का निवास कहाँ होता है। इन सब प्रमाणों के द्वारा सिद्ध होता है कि, श्राद्ध कृत्य वेदानुमोदित वैदिक कृत्य है और मृतपितरों के ही श्राद्ध होते हैं, जीवित पितरों के नहीं, जैसा कि, कहीं कहीं भ्रान्ति से कल्पना की जाती है। श्राद्ध के लक्षण के विषय में महर्षि पराशर तथा मरीचिके जो वचन उद्धृत किये गये हैं उससे भी श्राद्ध कृत्य के साथ मृत पितरों का ही स्पष्ट सम्बन्ध प्रमाणित होता है। अथर्ववेद एवं यजुर्वेद में भी प्रमाण मिलते हैं।

यजुर्वेद के १६। ६७ में लिखा है—

ये चेह पितरो ये च नेह यांश्च विद्मयाँ २।
उ च न प्रविद्म त्वं वेत्थ यति ते जातवेदः
स्वधाभिर्यज्ञं सुकृतं जषस्व॥

अर्थ=जो पितर इस लोक में हैं, जो इस लोक में नहीं हैं, जिनको हम जानते हैं और जिनको नहीं जानते हे सर्वज्ञ अग्ने। उनको तुम जानते हो, सो आप पितरों के अन्न से शुभ यज्ञ का सेवन करो। उसी वेद के १८। ५८ में लिखा है—

आयन्तु न पितरस्सोम्यासोऽग्निष्वात्ताः पथिभिर्देवयानैः।
अस्मिन् यज्ञेस्वधया मदन्तोऽधिब्रुवन्तुतेऽवन्त्वस्मान्॥

अर्थ=हमारे पितर देवतावों के गमन योग्य मार्ग से आवें इस यज्ञ में अन्न से प्रसन्न होकर बोलें और हमारी रक्षा करें।

अथर्ववेद के १८। ४८०। ७६ में लिखा है—

स्वधा पितृभ्यः पृथिवीषद्भ्यः स्वधा पितृभ्यः।
अन्तरिक्षषद्भ्यः स्वधा पितृभ्यो दिविषद्भ्यः॥

अर्थ=जो पितर पृथिवी में हैं उनके लिये जो अन्तरिक्ष में हैं उनके लिये और जो स्वर्ग में हैं उनके लिये स्वधा कव्य देता हूं।

और भी अथर्ववेद में—

ये अग्निदग्धा ये अनग्निदग्धामध्ये दिवः स्वधया मादयन्त।
त्वंतान् वेत्थ यति ते जात वेदः स्वधया यज्ञं स्वधितिं जुषन्ताम्॥

अर्थ=जो अग्नि में दग्ध हुये और अग्नि में दग्ध नहीं हुये द्युव लोक के मध्य में अमृव रूप अन्न से प्रसन्न हैं हे अग्ने। तुम उनको जानते हो वे तुम्हारे द्वारा अन्न सेवन करें।

पूर्वाह्णिकास्तु तिथयो देवकार्यो फलप्रदाः।
तथा पराह्णिका ज्ञेयाः पितृ कार्यो शुभप्रदाः॥ (हेमाद्रि में)

अर्थ=पूर्वाह्ण देवकार्य में और अपराह्ण पितृकार्य में शुभ फलदायी होता है।

वृक्षारोहणलोहाद्यैर्विद्युज्ज्वाला विषाग्निभिः।
नखिदंष्ट्रिविपन्नानां तेषां शस्ता चतुर्दशी॥ (महर्षि प्रचेता)

अर्थ=वृक्ष से गिरकर मृत्यु, वज्रपात जन्य मृत्यु व्याघ्र आदि जन्तुवों से मृत्यु इत्यादि अपमृत्यु में चतुर्दशी को श्राद्ध होता है।

अश्वयुजां तु कृष्णा यांत्रयोदश्यां मघासु च।
प्रावृदृतौ यमः प्रेतान् पितृंश्चाथयमालयात्॥
विसर्जयति भूर्लोकं कृत्वा शून्यं स्वकं पुरम्।
ते पुत्रादेः प्रकाङ्क्षंति पायसं मधुसंयुतम्॥
कन्यागते सवितरि पितरो यान्ति वै सुतान्।
अमावास्यादिने प्राप्ते गृहद्वारं समाश्रिताः॥
श्राद्धाभावे स्वभवनं शापं दत्वा व्रजन्तिते।
अतो मूलैः फलैर्वापि तथाप्युदक तर्पणैः।
पितृ तुष्टिं प्रकुर्वीत नैव श्राद्धं विवर्जयेत्॥

अर्थ=आश्विनमास के कृष्णपक्ष में, त्रयोदशी और मघा में, तथा वर्षा ऋतु में यमराजमृत पितरों को यमालय से छोड़ देते हैं। वे पितरपुत्रादिकों से क्षीर और मधुयुक्त पदार्थ मिलने की आशा से इस लोक में आते हैं। जब सूर्य कन्याराशि पर आता है, पितर सभी यहाँ आते हैं और अमावस्या के दिन घर के द्वार पर ठहर कर श्राद्ध न करने वाले लड़कों को शापदेकर पीछे यमलोक को चले जाते हैं। इस कारण कन्द, फल, मूल, आदि से अवश्य ही श्राद्ध करना चाहिये।

अमावास्यादिने प्राप्ते गृहद्वारे समाश्रिताः।
वायुभूताः प्रवाञ्छन्ति श्राद्धं पितृगणा नृणाम्॥
यावदस्तगतं भानोः क्षुत्पिपासा समाकुलाः।
ततश्चास्तंगते सूर्ये निराशा दुःखसंयुताः॥ (गरुड पुराणे)

अर्थ=अमावस्या के प्राप्त होने पर पितर वायुरूप होकर श्राद्ध की अभिलाषा से घर के द्वार पर रहते हैं। जब तक सूर्य अस्त नहीं होता, तब तक क्षुत्पिपासा से व्याकुल होकर ठहरते हैं। परन्तु सूर्यास्त हो जाने पर निराशा से दुःखी होकर और अपने वंशजों को शाप देते हुये पीछे चले जाते हैं।

श्राद्ध कर्म का फल —

पुत्रानायुस्तथाऽऽरोग्यमैश्वर्यमतुलं तथा ।
प्राप्नोति पञ्चमे कृत्वा श्राद्धं कामांश्च पुष्कलान् ।। (कार्ष्णजिनि)

अर्थ=पितृपक्ष में श्राद्ध करने पर पुत्र, आयु आरोग्य, अतुलऐश्वर्य और ईप्सित वस्तुवों की यथेष्ट प्राप्ति होती है। यही सब शास्त्र विहित श्राद्धकाल निर्णय तथा अनुकूल काल में श्राद्ध करने से अच्छे-अच्छे फलों की प्राप्ति होती है।

इस विषय में हेमाद्रि में उत्तम प्रमाण मिलता है। यथा—

देवोयदि पिता जातः शुभकर्मानुयोगतः ।
तस्यान्नममृतं भूत्वा देवत्वेऽप्यनुगच्छति ।।
गान्धर्वे भोगरूपेण पशुत्वे च तृणं भवेत् ।
श्राद्धान्नं वायुरूपेण नागत्वेऽप्यनु गच्छति ।।
पानं भवति यक्षत्वे राक्षसत्वे तथामिषम् ।
दानवत्वे तथा मांसं प्रेतत्वे रुधिरोदकम् ।।
मानुषत्वेऽऽन्नपानादि नानाभोगरसो भवेत् ।।

अर्थ=पिता ने यदि शुभ कर्म के द्वारा देवयोनि को प्राप्त किया है, तो उनके निमित्त दिया हुवा श्राद्धान्न अमृत रूप होकर उन्हें मिलेगा। इसी प्रकार गान्धर्व योनि में भोगरूप से, पशुयोनि में तृणरूप से, नागयोनि में वायुरूप से, यक्षयोनि में मद्यरूप से, राक्षसयोनि में आमिषरूप से, दानवयोनि में मांसरूप से, प्रेतयोनि में रुधिररूप से और मनुष्ययोनि में अन्नादि विविध भोज्यरूप से श्राद्धान्न प्राप्त होता है। इन प्रमाणों से सिद्ध हुवा कि, संकल्पित पदार्थ तथा सङ्कल्प शक्ति के द्वारा सभी योनियों में जीवों को शान्ति तथा उन्नति मिल सकती है। वास्तव में प्रत्येक जन्म की उन्नति या अवनति के साथ निजकृतकर्म-सम्बन्ध के अतिरिक्त जन्म-जन्मान्तरलब्ध आत्मीय जनों की सङ्कल्पशक्ति आशीर्वादशक्ति तथा क्रियाशक्ति का भी बहुत कुछ सम्बन्ध विद्यमान है, जिसको सूक्ष्मदर्शी महात्मागण ही जानकर तत्त्व निर्णय कर सकते हैं। अतः इन सब रहस्यपूर्ण विषयों में शंका करना निरर्थक है।

इस कृत्य के द्वारा नियमित रूप से सम्वर्द्धित होने पर पितृगण प्रीत होकर गृहस्थों को क्या क्या देते हैं, इस विषय में मार्कण्डेय पुराण में लिखा है। यथा—

आयुः प्रजां धनं विद्यां स्वर्गं मोक्षं सुखानि च ।
प्रयच्छन्ति तथा राज्यं पितरः श्राद्धतर्पिताः ।।

अर्थ=श्राद्धतृप्त पितृगण श्राद्धकर्त्ता को दीर्घायु सन्तति, धन विद्या सुख, राज्य, स्वर्ग और मोक्ष प्रदान करते हैं।

• चौथा श्राद्ध प्रकरण समाप्त •

तर्पण न करने से दोष

जिस प्रकार श्राद्ध में भी देवतावों का आवाहन पूजन होता है उसी प्रकार तर्पण में भी देवता ऋषि और पितर तीनों के ही निमित्त तर्पण किये जाते हैं।

तर्पणन्तु शुचिः कुर्यात् प्रत्यहं स्नातको द्विजः।
देवेभ्यश्च ऋषिभ्यश्च पितृभ्यश्च यथा क्रमम्॥ (शातातप)

अर्थ=शुचिता के साथ प्रत्यह स्नातक द्विज को यथा क्रम देवता, ऋषि और पितरों का तर्पण करना चाहिये।

नास्तिक्य भावाद् यश्चापि न तर्पयति वै सुतः।
पिबन्तिदेह निःस्रावं पितरोऽस्य जलार्थिनः॥ (योगी याज्ञ०)

अर्थ = नास्तिकता हेतु जो वंशज पुत्र तर्पण नहीं करता है, उसके जलार्थी पितृगण उसके देह निःस्राव को पान करते हैं, जिससे उसे घोर पाप में लिप्त होना पड़ता है।

निपीडयति यो वस्त्रं स्नानवस्त्रमतर्पिते।
निराशाः पितरो यान्ति शापं दत्त्वा सुदारुणम्॥

अर्थ=विना तर्पण किये जो स्नान वस्त्र को निचोड़ता है, उसके पितृगण निराश होकर शाप देकर चले जाते हैं। इत्यादि अनेक वचन तर्पण की कर्त्तव्यता के विषय में प्राप्त होते हैं।

तर्पण का विधान—

आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं जगतृप्यत्विति ब्रुवन्।
क्षिपेत्पयोञ्चलीं स्त्रींस्तु कुर्यात् संक्षिप्ततर्पणम्॥

अर्थ=इस मन्त्र से आब्रह्मस्तम्बपर्यन्त समस्त विश्व के निखिल प्राणियों की तृप्ति के लिये एक अञ्जलि या तीन अञ्जलि जल देने की आज्ञा की गयी है। यही संक्षिप्त तर्पण है।

इन सब तर्पणों का फल क्या है क्या—

एवं यः सर्वभूतानि तर्पयेदन्वहं द्विजः।
स गच्छेत्परमं स्थानं तेजोमूर्त्तिमनामयम्॥

अर्थ=सकल जीवों की तृप्ति के लिये नित्य नियमित रूप से जो तर्पण करते हैं उनको अनामय तेजोमय परमधाम प्राप्त होता है। यही धर्म शास्त्र विहित श्राद्ध तथा तर्पण का रहस्य वर्णन है।

मलमास में मृतकों की क्रिया का निर्णय—

मलमासेमृतानां तु श्राद्धं यत्प्रतिवत्सरम्।
मलमासेऽपिकर्तव्यं नान्येषां तु कथंचन॥ (यथाऽऽहपैठीनसिः)

अर्थ=यही वात पैठीनसि ने कहा है—मलमास में मरे हुवों का प्रतिवार्षिक श्राद्ध मलमास में भी करे, दूसरों का किसी प्रकार न करे।

मलमासमृतानां तु सौरंमानं समाश्रयेत्।
स एव दिवसस्तस्य श्राद्धपिण्डोदकादिषु॥

अर्थ=मलमास में मरे हुये व्यक्तियों का श्राद्ध सौरमास के अनुसार करना चाहिये अर्थात् जिस राशिपर सूर्य हों। वही दिन (मृत्यु के समय जो तिथि महीना व पक्ष रहा हो जिस राशि पर सूर्य रहे हों उसी राशिपर जब सूर्य आ जावें बारह महीने में तब वार्षिक करना चाहिये तेरही कर दे वार्षिक वर्ष में करे ये उत्तम निर्णय है प्रथा जो चली है वो गलत है) एवं तिथि उसके श्राद्ध एवं पिण्डदान आदि के लिये शास्त्र सम्मत कही गयी है। (जिस प्रकार सभी मृतव्यक्तियों का त्रयो दशाहादि (तेरही) किया जाता है उसी प्रकार मलमास में भी मृतव्यक्ति का करना चाहिये वार्षिक आदि बारह महीने में करना चाहिये जब जब मलमास लगे तब तब उसी व्यक्ति की श्राद्ध करनी चाहिये अन्य का नहीं ऐसा विधान है शास्त्र में मृत्यु के दिन से १३ दिन पर तेरही १२ महीने में वार्षिक।

• पाँचवा तर्पण प्रकरण समाप्त •

सन्ध्या गायत्री प्रकरणम्

सन्ध्याकर्म का फल निर्णय—

सन्ध्या भी नित्य कर्म है। अर्थात् इसके अनुष्ठान से पापनिवृत्ति होती है और ब्राह्मी, वैष्णवी तथा रौद्री इन तीनों ब्रह्म शक्तियों के साथ सन्ध्योपासन के द्वारा नित्य सम्बन्ध स्थापन होने से स्वतः ही सन्ध्योपासक को आयुः, शक्ति तथा आध्यात्मिक उन्नति प्राप्त होती है।

ऋषयो दीर्घ सन्ध्यत्वाद्दीर्घमायुरवाप्नुयुः।
प्रज्ञां यशश्च कीर्त्तिञ्च ब्रह्मवर्चसमेव च॥ (श्रीमनु जी)

अर्थ=दीर्घकाल तक सन्ध्या करके ऋषिगण दीर्घायु प्रज्ञा, यश, कीर्त्ति और ब्रह्म तेज लाभ करते हैं।

सायं प्रातस्तु यः सन्ध्यां स ऋक्षां पर्युपासते।
जप्त्वैव पावनीं देवीं सावित्रीं लोकमातरम्॥ (याज्ञवल्क्य जी)

अर्थ=प्रातःकाल तथा सायंकाल सन्ध्योपासना और गायत्री जप जो ब्राह्मण करता है उसका सकल पाप नष्ट हो जाता है।

सन्ध्या हीन की क्यागति नरकादि—

सन्ध्याहीनोऽशुचिर्नित्य मनर्हः सर्वकर्ममु।
यदन्यत्कुरुते कर्म न तस्य फलभाग्भवेत्॥ (महर्षि दक्षने)

अर्थ=सन्ध्या हीन अशुचि पुरुष का किसी भी शुभ कर्म में अधिकार नहीं होता है। उसके किसी भी कर्म का फल लाभ नहीं होता है।

अहोरात्रस्य यः सन्धिः सूर्य्य नक्षत्रवर्जितः।
सा च सन्ध्या समाख्याता मुनिभिस्तत्त्वदर्शिभिः॥

अर्थ=सूर्य तथा नक्षत्र से वर्जित, दिवारात्रि के सन्धिकाल को सन्ध्या कहते हैं। इस कारण सन्धिकाल के विचार से तात् कालिक उपासना को भी सन्ध्या कहा गया है।

उपतिष्ठन्ति ये सन्ध्यां न पूर्वां न च पश्चिमाम्।
व्रजन्ति ते दुरात्मानस्तामिस्रं नरकं नृप ।। (विष्णु पुराणे)

अर्थ=जो दुरात्मा जन प्रातः सायं कोई भी सन्ध्या नहीं करता है, उसको मरणान्तर तामिस्र नरक प्राप्ति होती है। इस प्रकार से धर्मशास्त्र में सन्ध्योपासन तथा गायत्री जप की महिमा और इसके अकरण में प्रत्यवाय वताया गया है। धर्म शास्त्र में अनेक प्रमाण मिलते हैं।

घर आदि में सन्ध्या करने का फल निर्णय—

गृहे त्वेकगुणा सन्ध्या गोष्ठे दश गुणा स्मृता।
शतसाहस्त्रिका नद्यामनन्ता विष्णुसन्निधौ ।।
बहिःसन्ध्या दशगुणा गर्त्त प्रस्रवणेषु च।
खाते तीर्थे शतगुणा ह्यनन्ता जाह्नवीजले ।।

अर्थ=घर में सन्ध्या करने से एक गुणा फल, गोष्ठ (गोशाला) में करने से दशगुणा फल नदी में करने से शतसहस्रगुण फल और भगवान् विष्णु आदि के पास करने से अनन्त फल होता है। इसी प्रकार झरने आदि के वाद वहिः सन्ध्या करने से दशगुणा फल खोदे हुये तीर्थ जल के पास करने से शतगुणा फल और जाह्नवी जल में करने से अनन्त फल प्राप्त होता है। समय के विसय में लिखा है——

सन्ध्या का उत्तमकाल——

उत्तमा तारकोपेता मध्यमा लुप्ततारका।
अधमा सूर्यसहिता प्रातः सन्ध्या त्रिधास्मृता ।।
उत्तमा सूर्य सहिता मध्यमा लुप्तभास्करा।
कनिष्ठा तारकोपेता सायं सन्ध्या त्रिधामता ।। (धर्मसार में)

अर्थ=प्रातः सन्ध्या में नक्षत्र सहित उत्तम है नक्षत्र वर्जित मध्यम और सूर्यसहित अधम है। इसी प्रकार सायं सन्ध्या में सूर्य सहित उत्तम है, सूर्य रहित मध्यम है और तारा निकलने पर अधम है।

उदयास्तमयादूर्ध्वं यावत् स्याद् घटिकात्रयम्।
तावत् सन्ध्या मुपासीत प्रायश्चित्तं ततः परम् ।। (गोभिल महर्षि ने)

अर्थ=सूर्योदय तथा सूर्यास्त के वाद तीन घटिका तक सन्ध्योपासना का काल है। तीन घड़ी का जोड़ एक घनटा वारा मिनट हुवा इसके बीत जाने पर प्रायश्चित लगता है।

विप्रो वृक्षस्त यमूलं च सन्ध्या वेदाः शाखा धर्म कर्माणिपत्रम्।
तस्मान्मूलं यत्नतो रक्षणीयं छिन्नेमूले नैव शाखा न पत्रम् ।।
सन्ध्या मुपा सते ये तु सततं शंसितव्रतः।
विधूतपापास्ते यान्ति ब्रह्मलोकं सनातनम् ।।

अर्थ=सन्ध्या के विषय में उचित है कि ब्राह्मण एक वृक्ष है सन्ध्या उसका मूलभाग (जड़) है वेद शाखायें हैं धर्म एवं कर्म पत्ते हैं।

अतः मूल की रक्षा प्रयत्न से करनी चाहिये क्योंकि मूल के नष्ट होने पर शाखा एवं पत्र स्वयं नष्ट हो जायगे। जो व्यक्ति नियम पूर्वक प्रतिदिन सन्ध्या करते हैं वे पापों को धोकर ब्रह्म लोक में सुशोभित होते हैं।

विहित अविहित आसन निर्णय—सन्ध्यादि में—

काम्यार्थं कम्बलं चैव श्रेष्ठं तद्रक्त कम्बलम्।
कृष्णाजिने ज्ञान सिद्धिर्मोक्ष श्रीर्व्याघ्रचर्मणि॥
कुशासने मन्त्र सिद्धिश्चात्र कार्या विचारणा।
धारण्यां दुःख सम्भूतिर्दौर्भाग्यं दारुजासने॥
वंशासने तु दारिद्र्यं पाषाणे व्याधिपीडनम्।
तृणासने यशोहानिः पल्लवे चित्त विभ्रमः॥
जपध्यान तपो हानिर्वस्त्रासनमितीरितम्॥

अर्थ=आसन के विषय में उपयुक्ता एवं फल के प्रसंग में कहा गया है कि इच्छा की पूर्ति के लिये कम्वल का आसन उसमें भी लाल रंग का कम्वल श्रेष्ठ है (कृष्ण मृगचर्म के आसन पर जप आदि करने से ज्ञान सिद्धि व्याघ्रचर्म पर मोक्ष एवं लक्ष्मी की प्राप्ति कुशासन पर मन्त्र सिद्धि होती है। पृथ्वी पर (विना विछाये ही) दुःख प्राप्ति लकड़ी के आसन पर दुर्भाग्य वांस के आसन पर जप करने से दरिद्रता तथा पत्थर पर व्याधि एवं पीडा प्राप्ति होती है। तृण के आसन पर जप करने से यश की हानि पल्लव पर चित्त का भ्रम में पड़ना तथा वस्त्र के आसन पर जप ध्यान तप की हानि होती है। इसी प्रकार अनजान में तृणादि आसन पर किया हुवा जप ध्यान व्यर्थ हो जाता है। सन्ध्या करने के समय मौन रहना होता है। यदि उस समय अकस्मात् छींक आ जाय, थूकना पड़े जम्हाई लेना पड़े तन्द्रा आ जाय या भूल से मौनभङ्ग हो जाय तो विष्णु स्मरण पूर्वक दक्षिणकर्ण स्पर्श करना चाहिये। सन्ध्योपासना में कुछ निषिद्ध दिन भी शास्त्र में बताये गये हैं। यथा जनना शौच के दिन सन्ध्या निषिद्ध है। अमावस्या, पूर्णिमा, द्वादशी, संक्रान्ति और श्राद्ध दिनों में सायं सन्ध्या निषिद्ध है। किन्तु निषिद्ध दिनों में भी गायत्री जप किया जा सकता है। मानसिक रूप से विना माला के प्रातः सन्ध्या पूर्वमुख होकर मध्याह्न सन्ध्या पूर्व या उत्तर मुख होकर और सायं सन्ध्या नैऋत कोण की ओर मुख करके करनी चाहिये। सन्ध्योपासना में विहित मन्त्र वैदिक ग्रन्थों में द्रष्टव्य हैं। यहाँ पर वाहुल्य भय से उन मन्त्रों का उद्धरण नहीं किया गया। अतः यहाँ पर गायत्री के विषय में कुछ वर्णन किया जाता है।

गायत्री उत्पत्ति एवं वेदमाता निर्णय और व्याहृतियों के—

अकारश्चाप्युकारञ्च मकारञ्च प्रजापतिः।
वेदत्रयान्निरदुहद् भूर्भुवः स्वरितीति च॥
त्रिभ्य एव तु वेदेभ्यः पादं पादमदूदुहत्।
तदित्यृचोऽस्याः सावित्र्याः परमेष्ठी प्रजापतिः॥ (मनुसंहिता)

अर्थ=प्रणव के अङ्गस्वरूप अकार, उकार, मकार को तथा भूः भुवः स्वः नामक तीन व्याहृतियों को प्रजापति ब्रह्माने यथा क्रम तीन वेद से प्रकट किया है। उसी प्रकार 'तदित्यादि' गायत्री तीन पादों को भी उन्होंने तीन वेद से प्रकट किया है। गायत्री के वेद जननी होने के विषय में—

गायत्री वेद जननी गायत्री पापनाशिनी ।
गायत्र्यास्तु परं नास्ति दिवि चेह च पावनम् ।। (शंखसंहिता में)

अर्थ=गायत्री वेद माता है गायत्री पापनाशकारिणी है, गायत्री जयसी पवित्र वस्तु, मर्त्य लोक या द्युलोक में कहीं कुछ भी नहीं है ।

गायत्री मन्त्र अन्वयार्थसहित एवं जप में ॐ का निर्णय——

'ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियोयोनः प्रचोदयात्'

इसी मन्त्र का जप या चिन्तन करना चाहिये ।

ओंकारमादितः कृत्वा व्याहृतीस्तदनन्तरम् ।
ततोऽधीयीत सावित्रीमेकाग्रः श्रद्धयान्वितः ।। (कूर्म पुराण में)

अर्थ=एकाग्र चित्त से श्रद्धा युक्त हो कर प्रथम ओंकार तदनन्तर भूर्भुवः स्वः नामक व्याहृतित्रय और तत्पश्चात् गायत्री का उच्चारण करना चाहिये ।

प्रणवव्याहृतियुतां गायत्रीञ्च जपेत्ततः ।
समाहितमनास्तूष्णीं मनसा वापिचिन्तयेत् ।। (व्यास जी ने)

अर्थ=एकाग्रचित तथा मौन होकर प्रणव और व्याहृति से युक्त गायत्री का जप अथवा मन में चिन्तन करना चाहिये । ओं भूः भुवः स्वः तस्य सवितुर्देवस्य (तत्) वरेण्यं भर्गः धी महि, यः (सविता) नः धियः प्रचोदयात् ।

गायत्री मन्त्र का अर्थ

ॐ——अकार——उकार——मकार

१——उत्पत्ति कर्त्ता ब्रह्मा——शक्ति ब्राह्मणी जी

२——पालन कर्त्ता विष्णु-शक्ति लक्ष्मी जी ।

३——संहार कर्त्ता महाकाल (शिव जी) शक्ति महाकाली जी ।

भू लोक, भुवः लोक, स्वर्ग लोक, तत्——वह सविता देव के श्रेष्ठतम तेज का ध्यान करते हैं जो हमारी बुद्धि को प्रेरित करता है । वह सविता देव मल, विक्षेप, आवरण दोष नाशार्थ तथा निष्काम कर्म योग,, भक्ति योग एवं आत्मज्ञान की ओर प्रेरणा करे ।

जिस देवता या मन्त्र का जप करे उसी का ध्यान करे मन्त्रार्थ सोचकर ।

तदित्यवाङ्मनोगम्यं ध्येयं यत्सूर्यमण्डले ।
सवितुः सकलोत्पत्ति स्थिति संहारकारिणः ।।
वरेण्यमाश्रयणीयं यदाधारमिदं जगत् ।
भर्गः स्वसाक्षात्कारेण ह्यविद्याशक्ति दाहकम् ।।
देवस्य द्योतमानस्य ह्यानन्दात्क्रीडतोऽपि वा ।
धीमह्यहं स एवेति सच्चिदानन्द रूपभाक् ।।

धियोऽन्तःकरण वृत्तीश्च प्रत्यक् प्रणव चारिणीः ।
य इत्यलिङ्ग धर्मोऽयं निर्विशेषात्म रूपकः ॥
नोऽस्माकं वहुधाऽभ्यस्तं भिन्नभेद दृशांस्तथा ।
प्रचोदयात्प्रेरयतु ब्रह्मात्मैक्यज्ञ हेतवे ॥

अर्थ=तत्-सूर्य मण्डल में ध्यान करने योग्य वाणी और मन से भी अज्ञेय ।
सवितुः=सम्पूर्ण संसार की उत्पत्ति पालन और नाश करने वाले ।
वरेण्यम्—आधार के योग्य और जिसके आधार यह संसार है ।
भर्गः—अपने साक्षात्कार से ही अविद्याशक्ति को नष्ट करने वाला ।
देवस्य—प्रकाशित अथवा आनन्द मे क्रीडा करने वाले का ।
धीमहि—मैं वही सत् चित् और आनन्द, स्वरूप वाला हूँ ।
धियः—अन्तः करण की वृत्ति और सदा ओंकार में विहार करने वाली ।
यः—चिह्न और धर्मों से शून्य भेद रहित परमात्मस्वरूप ।
नः—तैसे ही भेद दृश्य से भिन्न हम लोगों को अनेक वार अभ्यस्त है ।
प्रचोदयात्—पर ब्रह्म की एकता को जानने के लिये प्रेरणा करे ।

सवितृ मण्डल मध्यवर्ती दीप्तिमान परमात्मा निमित्त कारण रूप से भूः भुवः स्वः नामक महाव्याहृतित्रय को (तथा) उस लक्षण रूप से सप्त लोक रूपी सप्त व्याहृतियों को । उत्पन्न तथा प्रकाशित करके उपादान कारण रूप से तद रूप बना हुवा है, उसके उस वरणीय तेज का मैं चिन्तन करता हूँ, जो तेज हमारी बुद्धि को धर्मार्थ काम मोक्ष में नियोजित करता है ।

ब्राह्मणः प्रणवं कुर्यादादावन्ते च सर्वदा ।
क्षरत्यनोङ्कृतं पूर्वं परस्ताच्च विशीर्य्यते ॥ (श्रीमनु जी ने)

अर्थ=मन्त्र के आदि तथा अन्त में प्रणव का उच्चारण करना चाहिये । अन्यथा आदि अन्त दोनों ही ओर प्रत्यवाय होता है ।

यही कारण है कि गायत्री के आदि में 'ओं' कहा जाता है तदनन्तर 'भुवः स्वः' रूपी व्याहृति त्रय का उच्चारण किया जाता है । व्याहृति किस को कहते हैं इस विषय में—

व्याहृतियों का प्रमाण एवं गायत्री महिमा—

भूराद्याश्चैव सत्यान्ताः सप्तव्याहृतयस्तु याः ।
लोकास्त एव सप्तैत उपर्य्युपरि संस्थिताः ॥
सप्तव्याहृतयः प्रोक्ताः पुराकल्पे स्वयम्भुवा ।
ता एव सप्त छन्दांसि लोकाः सप्त प्रकीर्त्तिताः ॥
(योगियाज्ञवल्क्य ने)

अर्थ=भूर्लोक से सत्य लोक पर्यन्त ऊपर ऊपर सन्नि विष्ट सात लोक सप्त व्याहृति कहलाते हैं । पूर्वकल्प में ब्रह्मा ने इन्हें सप्त व्याहृति कही है और ये ही सप्त छन्द भी कहलाते हैं । इनमें से सत्त्वरजस्तमो मय तथा ब्रह्मा विष्णु महेश्वर मय प्रथम तीन महाव्यहृति कहे जाते हैं ।

गृहस्थो ब्रह्मचारी च प्रणवाद्यामिमां जपेत् ।
अन्ते यः प्रणवं कुर्यान्नासो वृद्धि मवाप्नुयात् ॥

(आह्निक सूत्रावली)

अर्थ=गायत्री मन्त्र के आदि में ॐ का उच्चारण गृहस्थ एवं ब्रह्मचारी सभी को (एक ॐ लगा के आदि में जप) करना चाहिये जो अन्त में ॐ कहता है वह वृद्धि को नहीं प्राप्त होता है ।

गायत्रीञ्चैव वेदांश्च तुलया समतोलयन् ।
वेदा एकत्र साङ्गास्तु गायत्रीञ्चैकत: सभा ॥ (कूर्म पुराणे)

अर्थ=गायत्री और वेदों को तौल में तौलने पर एक ओर षडङ्ग सहित वेद हुवा और एक ओर अकेली गायत्री ही रही है ।

गायत्र्या न परं जाप्यं गायत्र्या न परं तपः ।
गायत्र्या न परं ध्यानं गायत्र्या न परं हुतम् ॥ (महर्षि यम ने)

अर्थ=गायत्री जप से उत्कृष्ट कोई जप नहीं, तप नहीं ध्यान नहीं है और हवन नहीं है ।

अनेन विधिना नित्यं जपं कुर्यात् प्रयत्नतः ।
प्रसन्नो विपुलान् भोगान् भुक्त्वा मुक्तिं च विन्दति ॥

(महर्षि गौतम ने)

अर्थ=विधि पूर्वक प्रयत्न के साथ नित्य गायत्री जप करने से प्रसन्नता लाभ, विपुलभोग लाभ और अन्त में निःश्रेयस लाभ होता है ।

कामकामो लभेत् कामं गति कामस्तु सद्गतिम् ।
अकामस्तदवाप्नोति यद् विष्णोः परमं पदम् ॥ (विष्णुधर्मोत्तरे)

अर्थ=गायत्री जप से कामना परायण जन को कामना की सिद्धि, सद् गति चाहने वाले जन को सद् गति प्राप्ति और निष्काम जन को परम पद ब्रह्म की प्राप्ति होती है । यही सब गायत्री जप की महिमा है ।

जपमाला के विषय में शास्त्रों में विचार किया गया है—

जप करने के लिये मालावों का निर्णय—

स्फटिकेन्द्राक्षैः रुद्राक्षैः पुत्रञ्जीवसमुद्भवैः ।
अक्षमाला तु कर्तव्या प्रशस्ता ह्युत्तरोत्तरा ॥
अभावे चाक्षमालानां कुशग्रन्थ्याथ पाणिना ॥

अर्थ=स्फटिक इन्द्राक्ष रुद्राक्ष पुत्रञ्जीवक इनमें से किसी के द्वारा जप माला बनानी चाहिये । इनके अभाव में कुशग्रन्थि के द्वारा या केवल हाथ में भी जप हो सकता है । इन के पृथक्-पृथक फल क्या क्या हैं इस विषय में, महर्षि व्यास देव ने कहा है—

हिरण्यगर्भमणिभिर्जप्तं शतगुणं भवेत् ।
सहस्रगुणमिन्द्राक्षैः रुद्राक्षैर्नियुतं भवेत् ॥
नियुतं प्रयुतं वा स्यात् पद्माक्षैस्तु न संशयः ।
पुत्रञ्जीवकजप्यस्य परिसंख्या न विद्यते ॥

अर्थ—हिरण्यगर्भमणि के द्वारा गायत्री जप करने से शतगुण फल होता है। इन्द्राक्ष के द्वारा सहस्रगुण फल, रुद्राक्ष के द्वारा नियुत (एक लाख) गुण फल पद्माक्ष के द्वारा नियुत (लक्ष) या प्रयुत (करोड़) गुण फल और पुत्रञ्जीवक के द्वारा जप से असंख्य फल लाभ होता है। इस प्रकार भिन्न भिन्न देश काल तथा जप माला-भेद से गायत्री जप के फल तारतम्य बताये गये हैं। साधक इन सब शास्त्रीय आदेशों पर ध्यान रख कर गायत्री जप करेंगे तो विशेष लाभवान् अवश्य हो सकेंगे।

यही धर्मशास्त्र के सिद्धान्तानुसार सन्ध्या तथा गायत्री का निगूढ विज्ञान पूर्ण अलौकिक रहस्य है।

गायत्री रहित ब्राह्मण नाममात्र का—

साविव्याश्चाऽपि गायत्र्याः सन्ध्योपास्त्यग्नि कार्ययोः ।
अज्ञानात् कृषिकर्तारो ब्राह्मणा नामधारकाः ॥ (पाराशरस्मृतिः)

अर्थ=ग्रन्थकार परिषद् का लक्षण कहते हैं जो ब्राह्मण अज्ञान से गायत्री और सावित्री नहीं जानते, न सन्ध्योपासन एवं अग्निहोत्र ही करते हैं। केवल खेती से जीविका करते हैं वे नाममात्र के ब्राह्मण हैं। ऐसे ब्राह्मणों की परिषद् नहीं होती।

गायत्री रहितो विप्रः शूद्रादप्यशुचिर्भवेत् ।
गायत्री ब्रह्म तत्त्वज्ञाः सम्पूज्यन्ते जनैर्द्विजाः ॥

अर्थ=जो ब्राह्मण गायत्री को नहीं जानता वह शूद्र से भी अधिक अपवित्र होता है। परन्तु जो गायत्री और ब्रह्म के तत्व को जानने वाला है वह संसार में लोगों से पूजित होता है।

जपमालां पुष्पमालां कर्पूरं रोचनं तथा ।
यो मूढश्चार्पयेद् भूमौ स याति नरकं ध्रुवम् ॥
भूमौ चन्दन काष्ठं च रुद्राक्षं कुशमूलकम् ।
संस्थाप्य भूमौ नरके वसेन् मन्वन्तरावधि ॥

अर्थ=जपमाला, पुष्पमाला कर्पूर तथा गोरोचन को भूमि पर रखने वाला मूर्ख मनुष्य भी नरकगामी होता है। चन्दन काष्ठ, रुद्राक्ष और कुश की जड़ जमीन पर रखने वाला मनुष्य मन्वन्तर पर्यन्त नरक वास करता है।

रुद्राक्ष एक मुख से चौदह मुख तक का एवं माला संख्या तथा फल प्रमाण—

एक वक्त्रः शिवः साक्षाद् ब्रह्महत्यां व्यपोहति ।
अवध्यत्वं प्रतिस्रोतो वह्निस्तम्भं करोति च ॥
द्विवक्त्रो हरगौरी स्याद् गोवधाद्यघनाशकृत् ।
त्रिवक्त्रो ह्यग्नि जन्माथ पापराशिं प्रणाशयेत् ॥

चतुर्वक्त्रः स्वयं ब्रह्मा नरहत्यां व्यपो हति ।
पञ्चवक्त्रस्तु कालाग्निरगम्याभक्ष्य पापनुत् ॥
षड्वक्त्रस्तुगुहो ज्ञेयो भ्रूणहत्यादि नाशयेत् ।
सप्तवक्त्रस्त्वनन्तः स्यात् स्वर्णस्तेयादि पाप हृत् ॥
विनायकोऽष्टवक्त्रः स्यात् सर्वानृत विनाशकृत् ।
भैरवोनवक्त्रस्तु शिवसायुज्यकारकः ॥
दशवक्त्रः स्मृतो विष्णुर्भूतप्रेतभयापहः ।
एकादशमुखोरुद्रो नानायज्ञफलप्रदः ॥
द्वादशास्यस्तथा दित्यः सर्वरोगनिवर्हणः ।
त्रयोदशमुखः कामः सर्व कामफलप्रदः ॥
चतुर्दशास्यः श्रीकण्ठो वंशोद्धारकरः परः ॥
(शिवरहस्य-शिवपुराण-देवीभागवतादि में लिखा है)

अर्थ=एक मुख का रुद्राक्ष साक्षात् शिव का स्वरूप होता है वह ब्रह्म हत्या तक को भी दूर कर देता है । अवध्यत्व का स्रोत है तथा दुष्कृत्यों को अग्नि की तरह जलाने वाला सुकृतियों को प्राप्त कराने वाला होता है श्रीमान् बना देता है । द्विमुख का रुद्राक्ष शिव एवं पार्वती का स्वरूप है वह गोवधादि के पाप को भी दूर कर देता है। त्रिमुख का रुद्राक्ष अग्नि स्वरूप है निश्चय ही वह जन्म से सम्पूर्ण पापपुञ्ज को दूर कर देता है । चार मुख वाला स्वयं ब्रह्मास्व रूप है वह नर हत्या के पाप को दूर कर देता है । पांच मुख वाला, कालाग्नि-स्वरूप है यह परस्त्री गमन के पाप को दूर करने वाला है । छः मुख का गुहस्वरूप है वह भ्रूण हत्या के पाप को नष्ट कर देता है । सात मुख वाला अनन्तस्वरूप है वह सोना चुराने से प्राप्त पाप को दूर करने वाला होता है आठ मुख वाला विनायक स्वरूप है। वह सम्पूर्ण असत्य के पाप को दूर करने वाला होता है । नवमुख वाला भैरव स्वरूप है वह शिव के समीप पहुंचाने वाला होता है । दशमुख वाला विष्णु स्वरूप है वह भूत प्रेत के भय को दूर करने वाला होता है । ग्यारह मुख वाला रुद्रस्वरूप है वह अनेक यज्ञों के फल को देने वाला होता है । वारह मुख वाला सूर्यस्वरूप है वह सभी रोगों को दूर करने वाला होता है । तेरह मुख वाला कामस्वरूप है वह सम्पूर्ण कामनावों को पूर्ण करने वाला होता है । चौदह मुख-वाला श्रीकण्ठ स्वरूप है वह सम्पूर्ण वंश का उद्धार करने वाला होता है ।

ये सभी फल रुद्राक्ष माला के धारण से होता है अतः इसे अवश्य धारण करना चाहिये । एक दाने तक का वहुत वड़ा फल है पूरामाला १०८ दाने का होता है ।

अष्टोत्तरशतैर्माला पंचाशद्भिः षडानन ।
अथवा सप्तविंशत्या कृत्वा रुद्राक्षमालिकाम् ॥
धारणाद्वा जपाद्वापि ह्यनंतं फलमश्नुते ।
अष्टोत्तरशतैर्माला रुद्राक्षैर्धार्यते यदि ॥ (श्रीमद्देवीभागवते)

अर्थ=हे षण्मुख जो लोग एक सौ आठ रुद्राक्ष दाने की माला, पचास रुद्राक्ष दाने की माला अथवा सत्ताइस रुद्राक्ष दाने की माला वनाकर उसे धारण करते हैं या उससे

जप करते हैं तो उन्हें अनन्त फल मिलता है। जो लोग एक सौ आठ रुद्राक्ष दाने की माला पहनते हैं। (उन्हें प्रत्येक क्षण एक-एक अश्वमेध यज्ञ करने का फल मिलता है)

पंचगव्य वनाने की विधि एवं मिलाने का मन्त्र अलग-अलग—

गोमूत्रं गोमयंक्षीरं दधिसर्पिः कुशोदकम्।
निर्दिष्टं पञ्चंगव्यं तु प्रत्येकं काय शोधनम्॥
गोमूत्रं ताम्रवर्णायाः श्वेतायाश्चापिगिोमयम्।
पयः काञ्चन वर्णायाः नीलायाश्च तथादधि॥
घृतं च कृष्ण वर्णायाः सर्वं कापिलमेव च।
अलाभे सर्ववर्णानां पञ्च गव्येष्वयं विधिः॥
यत्त्वगस्थिगतंपापं देहे तिष्ठति मानवे।
ब्रह्मकूर्चोपवासस्तु दहत्यग्नि रिवेन्धनम्॥

अर्थ=गोमूत्र, गोमय (गोवर) गोदुग्ध, गौकादधि तथा गोघृत एवं कुश के जल से सवको अपना शरीर शुद्ध करना चाहिये। गोमूत्र ताम्र वर्ण की गौ का गोवर सफेद गौ का-दूध कांचन (सुनहरे) रंग की गौ का दधि, नील वर्ण की गौ का घी, काली गौका तथा अभाव में सभी चीज कपिलागौ का तथा न प्राप्त होने पर किसी भी वर्ण की गौ का पञ्चगव्य वनाया जा सकता है। पञ्च गव्य के विषय में ऐसा विधान है। हड्डियों के अन्दर भी छिपा हुवा पाप तथा ब्रह्म कूर्च (कुश के पल्लव को पीस कर जलगार कर) मिलाने चाहिये। (कुश का जल मिला हुवा शूद्र को न दे उसके लिये हानिकर ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य को लाभप्रद शूद्र को खाली पञ्च गव्य दे जिसमें कुश जल न हो) यह उसी प्रकार पाप को दूर कर देता है जैसे अग्नि लकड़ी को जला देती है।

पञ्चगव्य मिलाने का मन्त्र—

ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो योनः प्रचोदयात्, इति मन्त्रेण गोमूत्रम्।

ॐ मानस्तोके तनयेमान आयुषिमानो गोषु मानो अश्वेषु रीरिषः। मानो वीरान्रुद्र भामिनोर्वधीर्हविष्मन्तः सदमित्वा हवामहे। इतिमन्त्रेण गोमयम्।

ॐ पयः पृथिव्यांपय ओषधीषु पयो दिव्यन्तरिक्षे पयोधाः पयस्व प्रदिशः सन्तु मह्यम्। इति मन्त्रेण गो दुग्धम्।

ॐ दधिक्राणो अकारिषं जिष्णोरश्वस्य वाजिनः। प्रणआयु ꣳ षितारिषत्। इति मन्त्रेण दधिः।

ॐ घृतं घृत पावान ꣳ पिवत वसा पावानः पिवतान्तरिक्षस्य हविरिति स्वाहा। दिशः प्रदिशऽआदिशो विदिशऽउदिशो दिग्भ्यः स्वाहा। इति मन्त्रेण घृतम्।

● ६—छठवाँ सन्ध्या गायत्री प्रकरण समाप्त ●

व्रत प्रकरणम्

व्रत का विषय एवं व्रत का फल तथा अधिकार निर्णय—

व्रतञ्च सम्यक् संकल्प ननितानुष्ठेयक्रिया विशेष रूपं तच्च प्रवृतिनिवृत्त्युभयरूपम् । तत्र द्रव्यविशेष भोजन पूजादिकं प्रवृत्तिरूपं उपवासादिकं च निवृत्तिरूपं तच्च नित्यं नैमित्तिकं काम्यं च ।

नित्य मेकादश्यादि व्रतं नैमित्तिकं चान्द्रायणादि व्रतं काम्यं तत्तत्तिथ्युपवासादि रूपम् ।। (हेमाद्रि व्रत खण्डे)

अर्थ=किसी लक्ष्य को सामने रखकर विशेष संकल्प के साथ लक्ष्य सिद्धि के अर्थ किये जाने वाले क्रिया विशेष का नाम व्रत है। व्रत प्रवृत्ति निवृत्ति भेद से दो प्रकार के तथा नित्य नैमित्तिक काम भेद से पुनः तीन प्रकार के होते हैं। द्रव्य विशेष भोजन तथा पूजादि के द्वारा साध्य व्रत प्रवृत्ति मूलक और केवल उपवासादि द्वारा साध्य व्रत निवृति मूलक है। ये दोनों ही प्रकार के व्रत पुनः लक्ष्य भेद से तीन प्रकार के होते हैं—यथा नित्यनैमित्तिक और काम्य। एकादशी आदि व्रत जिनके न करने से प्रत्यवाय होता है उन्हें नित्यव्रत कहते हैं। पापक्षय आदि निमित्त को लेकर अनुष्ठित चान्द्रायण आदि व्रत नैमित्तिक है। किसी विशेष तिथि में विशेष कामना के साथ अनुष्ठित व्रत, जैसा कि अवैधव्य कामना से ज्येष्ठ कृष्ण चतुर्दशी में अनुष्ठित सावित्री व्रत-ऐसे व्रतों को काम्य व्रत कहते हैं। इस प्रकार से धर्मशास्त्र में व्रत के दो तथा तीन भेद कहे गये हैं। इसके सिवाय कायिक और मानसिक भेद से भी व्रत के दो भेद होते हैं।

यथा शास्त्र में व्रत का फल—

व्रतोपवासनियमैः शरीरोत्तापनैस्तथा ।
वर्णाः सर्वेऽपि मुच्यन्ते पातकेभ्यो न संशयः ।।

अर्थ=व्रत उपवास नियम तथा शारीरिक तप के द्वारा सभी वर्ण के मनुष्य पाप मुक्त होकर पुण्य प्रभाव से उत्तम गति लाभ करते हैं।

'वयं सोमव्रते तव, यजु० ३।५६, 'अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि, यजु० १।५ 'सूर्य व्रतपते व्रतं चरिष्यामि, १।२ 'व्रत मुपैष्यन् १ शतपथ १।१।१।१ इत्यादि मन्त्रों द्वारा वेद में भी व्रत की आज्ञा की गयी है।

व्रत में किस-किस का अधिकार है, हेमाद्रि व्रत खण्ड में लिखा है—

"चतुर्णामपि वर्णानां स्त्री पुंसाधारण्येन व्रतेष्वधिकारः"

अर्थ=चारों वर्ण के स्त्री पुरुषों का व्रत में अधिकार है।

निजवर्णाश्रमाचारनियतः शुद्धमानसः ।
व्रतेष्वधिकृतो राजन्नान्यथा विफल श्रमः ।।
अलब्धः सत्यवादी च सर्व भूत हितेरतः ।
व्रतेष्वधिकृतो राजन्नान्यथा विफलश्रमः ।।
पूर्वं निश्चित्य शास्त्रार्थं यथावत् कर्मकारकः ।
वेद निन्दको धीमानधि कारी व्रतादिषु ।।

अर्थ=अपने वर्ण तथा आश्रमानुसार आचारनिष्ठ, पवित्रचित्त, निर्लोभ सत्यवादी सकल जीवों के हित में रत पुरुष का ही व्रत में अधिकार है। जो शास्त्र का मर्म जान कर कर्म करता है और वेदनिन्दक नहीं है उसी का व्रत में अधिकार है।

नारी च खल्वनुज्ञाता पित्रा भर्त्रा सुतेन वा।
विफलं तद् भवेत्तस्य यत् करोत्यौर्द्ध्वदेहिकम्॥

अर्थ=कुमारी पिता की आज्ञा, सधवा को पति की आज्ञा और विधवा को पुत्र (आदि) की सम्मति लेकर तब व्रत करना चाहिये, अन्यथा निष्फल होगा।

व्रतारम्भादि में तिथि निर्णय—

उदयस्था तिथिर्या हि न भवेद्दिन मध्यभाक्।
सा खण्डा न व्रतानां स्यादारम्भे च समापने॥
एतद् व्यतिरिक्ता याम खण्डायां प्रारम्भकालः, इति

अर्थ=जिस तिथि में सूर्योदय होता है, वह तिथि यदि दिन के बीच तक न रहे तो खण्ड तिथि कहलाती है, उस में व्रतारम्भ नहीं करना चाहिये। इससे विपरीत अखण्ड तिथि में व्रतारम्भ करना उचित है। व्रत अनुष्ठान के पूर्व दिन संयम से रहकर व्रतारम्भ के दिन संकल्प पूर्वक आरम्भ करना होता है।

यां तिथिं समनुप्राप्य उदयं याति भास्करः।
सातिथिः सकला ज्ञेया स्नानदान जपादिषु॥
इत्यादीनि। इति सामान्य निर्णयोद्देशः॥

अर्थ=वचन से ग्राह्य तिथि का कर्म काल में नहीं होने पर भी उसकी सम्पूर्णता वचनों से रहना माना जाता है वे वचन ये हैं—जिस तिथि में सूर्य का उदय होता है वह तिथि स्नान दान और जपादि कार्यों में सम्पूर्ण मानी जाती है। जिस तिथि में चन्द्रमा अस्त होते हैं, वह तिथि स्नान दानादि कर्मों में सम्पूर्ण मानी जाती है। उदय के बाद दो मुहूर्त अधिक का और अस्त के पहले तीन मुहूर्त अधिक का होना प्रायः इस तरह दो प्रकार की तिथि की सम्पूर्णता जाननी चाहिये। सामान्यनिर्णयोद्देशः।

सूतक अशौचादि निर्णय—

व्रत यज्ञ विवाहेषु श्राद्धे होमेऽर्चने जपे।

आरब्धे सूतकं न स्यादनारब्ध तु सूतकम्॥

अर्थ=व्रत, यज्ञ, विवाह, श्राद्ध, होम, पूजा, और पुरश्चरण जपादि में आरम्भ से पहिले सूतक लगता है, आरम्भ होने के बाद नहीं लगता है। रजोदर्शन आदि दोषों में स्त्रियाँ स्वयं उपवास कर ब्राह्मण को प्रतिनिधि बनाकर जपपूजादि करा सकती हैं। पति प्रतिनिधि हो सकता है। अन्यथा पुत्र, भ्राता, भगिनी भी प्रतिनिधि हो सकती है (एवं ब्राह्मण भी दक्षिणा लेकर) प्रतिनिधि हो सकते चान्द्रायण आदि व्रत में।

१—क्षौर विधि व्रतादि के एक दिन पूर्व मुण्डन—

चान्द्रायण आदि व्रत में केश मुण्डन अवश्य करना होता है एवं यज्ञ अनुष्ठान आदि

में भी यदि किसी कारण से मुण्डन असम्भव हो तो यजमान आचार्य दोनों को दोनों के लिये विधि है—

"मुण्डनाकरणे द्विगुणं प्रायश्चित्तम्"

अर्थ=अर्थात् मुण्डन के वदले द्विगुण प्रायश्चित्त करना चाहिये। सधवा स्त्रियों के लिये आदेश है समस्त केश उठाकर दो अङ्गुलि परिमाण केशकाट देना चाहिये। उससे केश मुण्डन हो जाता है।

एकादशी जन्म दिन आदि में अन्नखाने से दोष—

यानि कानि च पापानि ब्रह्महत्यादिकानि च।
अन्नमाश्रित्य तिष्ठन्ति संप्राप्ते हरिवासरे॥
अघं स केवलं भुङ्क्ते यो भुङ्क्ते हरिवासरे।
तद्दिने सर्व पापानि वसन्त्यन्नाश्रितानि च॥

अर्थ=ब्रह्महत्या आदि समस्तपाप एकादशी के दिन अन्न को आश्रय करके ही रहता है। इसलिये एकादशी के दिन जो भोजन करता है, वह पाप भोजन करता है। ज्योतिप-शास्त्र का सिद्धान्त है कि, एकादशी तिथि को चन्द्रमा की एकादश कला का प्रभाव जीवों पर शुक्लपक्ष में चन्द्र मण्डल द्वारा और कृष्णपक्ष में सूर्य मण्डल द्वारा पड़ा करता है।

चन्द्रमा का प्रभाव शरीर मन सभी पर रहने से इस तिथि में शरीर की अस्वस्थता और मन की चञ्चलता सभी स्वाभाविक रूप से वढ सकती है। इसी कारण उपवास द्वारा इप्ट पूजन द्वारा एकादशी व्रत विधान का मुख्य रहस्य है। स्त्री पुरुष विधवावों के लिये अवश्य पालनीय है। नित्य व्रत करके ही वताया गया है एकादशी को हरिवासर कहते हैं।

रवीन्दुग्रासे हरि जन्म काले प्राणप्रयाणे हरिवासरे च।
कन्याप्रदाने द्विजभुक्त दाने अन्नस्य भोक्ता नरकं प्रयाति॥

अर्थ=सूर्य चन्द्र ग्रहण में भगवान् के जन्मदिन में किसी के मृतक होने पर एकादशी के दिन कन्यादान देने के दिन जिस दिन व्राह्मणों को निमन्त्रण दिया हो विना भोजन कराये न भोजन करे, इन दिनों में भोजन करने वाला व्यक्ति नरक गामी होता है।

गृहस्थो ब्रह्मचारी च आहिताग्निस्तथैव च।
एकादश्यां न भुञ्जीत पक्षयोरुभयोरपि॥ (लिङ्ग पुराणे)
विधवा या भवेन्नारी भुञ्जीतैकादशीदिने।
तस्यास्तु सुकृतं नश्येद् भ्रूणहत्या दिने दिने॥ (कात्यायनः)

अर्थ=गृहस्थ, ब्रह्मचारी साग्निक किसी को भी एकादशी के दिन भोजन नहीं करना चाहिये दोनों पक्ष की। यदि विधवा स्त्री एकादशी को भोजन कर ले, तो उसका समस्त पूर्व पुण्य नप्ट हो जाता है और भ्रूण हत्या का पाप लगता है—असमर्थ पक्ष में अपने पुत्र अथवा व्राह्मण के द्वारा उपवास कराने की विधि वायु पुराण में मिलती है। वालक, वृद्ध या रोगी फलाहार करके भी एदादशी कर सकते हैं ऐसा मार्कण्डेय ऋषि का मत है।

एकादशी व्रत का पारण द्वादशी में ही करें—

पारणाहे न लभ्येत द्वादशी कलयाऽपि चेत् ।
तदानीं दशमीविद्धाऽप्युपोष्यैकादशी तिथिः ।। इति ऋष्य शृङ्गोक्तेश्च ।

अर्थ=ऋष्यशृंङ्ग ने भी कहा है—पारणा में द्वादशी एक कला भी न मिलती हो तो एकादशी दशमी विद्धाएकादशी में उपवास करे ।

एकादशी न लभते सकलाद्वादशी भवेत् ।
उपोष्यादशमी विद्धा यतिभिर्गृहि भिस्तदा ।।

अर्थ=यदि एकादशी तिथि न रहे सम्पूर्ण द्वादशी तिथि ही रहे तो संन्यासियों तथा गृहस्थों (एवं ब्रह्मचारियों) के लिये दशमी वेधी एकादशी का व्रत करना चाहिये ।

दशम्यनुगता हन्ति द्वादशं द्वादशी फलम् ।
धर्मा पत्यधना यूंषि त्रयोदश्यां तु पारणम् ।।

अर्थ=दशमी से अनुगता एकादशी, त्रयोदशी में पारणा, बारह द्वादशी के फल को नष्ट करती है तथा धर्म, पुत्र, धन और आयु का नाश करती है । (अर्थात् त्रयोदशी में पारण सर्वथा वर्जित है) ।

गङ्गादिदेवनदियों में स्नान का फल निर्णय—

पक्षान्ते स्रोतसि स्नायात् तेन नायाति मत्पुरम् ।। (तिथितत्त्व)
महाज्यैष्टचां तु यः पश्येत् पुरुषः पुरुषोत्तमम् ।
विष्णुलोकमवाप्नोति मोक्षं गङ्गाम्बु मज्जनात् ।।

अर्थ=अमावस्या या पूर्णिमा को गङ्गादि तीर्थ में स्नान करने से यम लोक को नहीं जाना पड़ता है । महाज्यैष्ठी पूर्णिमा में पुरुषोत्तम का दर्शन करने से विष्णु लोक प्राप्ति और गंगा स्नान करने से मोक्ष लाभ होता है । ये ही सब नित्यव्रत के पापनाशक तथा निःश्रेयसप्रद दृष्टान्त हैं ।

गङ्गास्तुति एवं गंगा महिमा—

नमामिगङ्गे तवपाद पंकजं सुरासुरैर्वन्दित दिव्य रूपम् ।
भुक्ति च मुक्ति च ददासिनित्यं भावानुसारेण सदा नराणाम् ।।

अर्थ=हे गंगे मैं तुम्हारे कमलरूपी चरणों की वन्दना करता हूँ । आप के रूप को देवों तथा असुरों ने भी वन्दना की है । गंगे आप मानवों के भाव के अनुसार भुक्ति (भोग) तथा मुक्ति (मोक्ष) को प्रदान करने वाली हो ।

त्वत्तीरे वसतस्त्वदम्बु पिवतस्त्वत् वीचिखुत्प्रेंखतः ।
त्वन्नामस्मरतस्त्वदर्पित दृशः स्यान्मे शरीर व्ययः ।।

अर्थ=हे गंगे—मैं आप से यही प्रार्थना करता हूँ कि आप के किनारे रहता हुवा आप के जल का पान करता हुवा आप की लहरों में खेलता हुवा तथा आप का स्मरण करता हुवा ही मैं अपना शरीर आप को अर्पित कर दूँ ।

विष्णु पादाब्ज सम्भूते गंगे त्रिपथ गामिनि ।
धर्मं द्रवेति विख्याते पापं मे हर जाह्नवि ।।

अर्थ=विष्णु के कमल चरणों से निकली हुवी हे त्रिपथ गामिनी धर्म विन्दु के रूप में ख्याति को प्राप्त होने वाली हे गंगे आप मेरे सम्पूर्ण पापों को दूर कर दें।

गंगागङ्गेति यो ब्रूयाद्योजनानां शतैरपि।
मुच्यते सर्वपापेभ्यो विष्णु लोकं स गच्छति॥

अर्थ=चारसौ कोश दूर से भी जो व्यक्ति गंगाजी का नाम लेता है वह सम्पूर्ण पापों से मुक्त होकर विष्णु लोक को जाता है।

गंगा नदी तो रज दोष से दूषित नहीं होती समुद्रगामिनी ग्यारह नदियों के नाम—

सिंहकर्कटयोर्मध्ये सर्वानद्यो रजस्वलाः।
तासु स्नानं न कुर्वीत वर्जयित्वा समुद्रगाः॥ इति।

अर्थ=समुद्रगाः=गङ्गादिनद्यः। गंगाजल के योग से अन्य नदियों का रजोदोष-दुष्ट-जल भी पवित्र हो जाता है। देवल ने कहा है—

गंगा च यमुना चैव प्लक्षजाता सरस्वती।
रजसा नाभि भूयन्ते ये चान्ये नदसंज्ञिताः॥
शोणसिन्धु हिरण्याख्याः कोकलोहितघर्घराः।
शतद्रुश्च नदाः सप्त पावनाः परिकीर्तिताः॥ इति।

अर्थ=गंगा, यमुना, प्लक्षजात और सरस्वती ये नदियाँ तथा जो नद संज्ञक नदियाँ हैं, वे रजो धर्म के दोष से दूषित नहीं होती हैं सोन, सिन्धु, हिरण्य, कोक, लोहित, घाघरा, शतद्रु (सतलज) ये सप्त नदियाँ पवित्र मानी गयी हैं। समुद्र गामिनी ग्यारह नदियों के नाम—गंगा, महानदी, ताप्ती, कृष्णा, वेणी, गोदावरी, ताम्रपर्णी, तुङ्गभद्रा कावेरी, रेवा तथा गोमती ये ग्यारह नदियाँ समुद्र में मिलने वाली हैं।

नदी का लक्षण एवं धनुष्का प्रमाण—

धनुः सहस्राण्यष्टौ गतिर्या सां न विद्यते।
न ता नदीशब्दवहागर्तास्ताः परिकीर्तिताः॥ (स्मृति संग्रह)

अर्थ=चार हजार आठ धनुष् की गति जिस नदी में नहीं होती उन्हें नदी नहीं वल्कि गर्त नाम से विभूषित किया जाता है।

द्वादशाङ्गुलिकः शंकुःतद् द्वयंतुशयः स्मृतः।
तच्चतुस्कं धनुः प्रोक्तं क्रोशो धनुः सहस्रिकः॥ (विष्णुधर्मोत्तरे)

अर्थ=१२ अंगुल का एक शंकु २४ का एकशय तथा उसका चौगुना ९६—अंगुल का एक धनुष् तथा एक हजार धनुष् का एक कोश होता है।

पाप कैसे होता है इस विषय में—

विहितस्याननुष्ठानान्निन्दितस्य च सेवनात्।
अनिग्रहाच्चेन्द्रियाणां नरः पतनमृच्छति॥ (महर्षि याज्ञवल्क्य)

अर्थ=शास्त्र विहित कर्मो का न करना शास्त्र निषिद्ध कर्मो का करना और इन्द्रियों के असंयम से व्यभिचारादि—इन तीनों के द्वारा पाप और जीवका पतन होता है। विष्णु

संहिता में इस प्रकार उत्पन्न पाप नव भाग में विभक्त किये गये हैं, यथा—अतिपातक, महापातक, अनुपातक, उपपातक, जाति भ्रंशकर, संकरीकरण, अपात्रीकरण, मलावह और प्रकीर्ण पातक। अतिपातक माता, कन्या या पुत्रवधू—गमन। महापातक—ब्रह्महत्या, सुरापान, सुवर्णस्तेय, गुरु—पत्नी गमन तथा इन पापियों के साथ संसर्ग। अनुपातक—पितृव्यपत्नी, मातामही, मातुलानी, सास, राजपत्नी, पितृ मातृ भगिनी, श्रोत्रिय पत्नी, पुरोहित पत्नी, अध्यापक पत्नी, बन्धु पत्नी, भगिनी की सखी सगोत्रास्त्री, चाण्डाली, रजस्वला या शरणागत स्त्री गमन, उच्चजाति बताने के लिये मिथ्याभाषण, गुरुजनों के विषय में मिथ्याभाषण। उपपातक-गोवध, अयाज्ययाजन, परस्त्री गमन, अभोज्यभोजन, चाण्डालादि अस्पृश्य जाति का अन्न भोजन, गुरुनिन्दा, वेद निन्दा परधन हरण इत्यादि। जाति भ्रंशकर—ब्राह्मण—पीडन मित्र वंचना मद्यका आघ्राण लेना, पुमैथुन, पशु मैथुन। संकरीकरण—ग्राम्य तथा अरण्यपशु—हिंसा। अपात्रीकरण कुत्सितवाणिज्य, शूद्र-सेवा, मिथ्याभाषण। मलावह-पक्षि हत्या, जलचर हत्या, मत्स्यादि हत्या, कृमिकीट हत्या, मद्यसंश्लिष्टद्रव्यभोजन। प्रकीर्णअन्यान्यसबपाप। विष्णु संहिता में विविध नैमित्तिक व्रत कहे गये हैं। यथा—चान्द्रायण, पराकव्रत, प्राजापत्य, तप्तकृच्छ् इत्यादि—

समस्त पाप केशाश्रय एवं चान्द्रायणादि व्रत विधिः—

यानिकानि च पापानि ब्रह्महत्यासमानि च।
केशानाश्रित्य तिष्ठन्ति तस्मात् केशं वपाम्यहम्॥

अर्थ=ब्रह्महत्यादि समस्त पाप केशका आश्रय करके रहता है, इसलिये प्रायश्चित्त में केशवपन अवश्य कराना चाहिये।

चान्द्रायण व्रत विधिः—

तिथिवृद्ध्या चरेत् पिण्डान् शुक्लेशिख्यण्डसंमितान्।
एकैकं ह्रासयेत् पिण्डान् कृच्छचान्द्रायणं चरेत्॥ (देवलजी ८१)
एकैकं बर्द्धयेन्नित्यं शुक्ले कृष्णे च ह्रासयेत्।
अमावास्यान्न भुञ्जीत एष चान्द्रायणो विधिः॥ (अत्रिः११२)

अर्थ=सब प्रकार से संयत रह कर मयूराण्ड जैसा एक-एक ग्रास शुक्ल पक्ष में बढाता हुवा और कृष्ण पक्ष में घटाता हुवा एक मास तक व्रत करने से चान्द्रायण व्रत होता है। शास्त्र में चान्द्रायण व्रत चार प्रकार के बताये गये हैं यथा—पिपीलिका मध्य चान्द्रायण यवमध्य चान्द्रायण, यति—चान्द्रायण और शिशु चान्द्रायण।

एकैकं ह्रासयेत् कृष्णे शुक्लपक्षे विवर्द्धयेत्।
उपस्पृशंस्त्रिसवन मे तच्चान्द्रायणं स्मृतम्॥

अर्थ=कृष्ण प्रतिपदा को व्रत प्रारम्भ करके प्रतिपदा को १४ ग्रास द्वितीया को १३ तृतीया को १२ इस तरह घटाता हुवा अमावस्या के दिन उपवास करना होता है। पुनः शुक्ल प्रतिपदा को एक ग्रास, द्वितीया को २ तृतीया को ३ इस तरह बढाकर पूर्णिमा को १५ ग्रास भोजन करना होता है। प्रतिदिन त्रिसन्ध्या स्नान करना होता है। इस प्रकार एक मास का व्रत पिपीलिकामध्य चान्द्रायण है।

एवमेव विधिं कृत्स्नमाचरेद् यवमध्यमे।
शुक्ल कृष्णादि नियतश्चरंश्चान्द्रायणं व्रतम् ॥

अर्थ=इसकी विधि पूर्ववत् है, केवल भेद इतना ही है कि यव मध्यचान्द्रायण शुक्ल प्रतिपदा को प्रारम्भ करना होता है। शुक्ल प्रतिपदा को एक ग्रास, द्वितीया को दो ग्रास यों बढाकर पूर्णिमा को १५, तदनतर कृष्ण से घटा कर अमावस्या के दिन उपवास करना होता है। यव की तरह बीच की तिथियों में ग्रास अधिक होने के कारण इसका नाम यवमध्य और पिपीलिका की तरह बीच की तिथियों में ग्रास कम होने के कारण पूर्व चान्द्रायण का नाम पिपीलिका मध्य रक्खा गया है।

अष्टावष्टौ समश्नीयात् पिण्डान् मध्यन्दिने स्थिते।
नियतात्मा हविष्याशी यतिचान्द्रायणं चरेत् ॥

अर्थ=यतिचान्द्रायण में सुसंयत रहकर प्रतिदिन मध्याह्न को आठ ग्रासमात्र भोजन करना होता है। इस तरह एक मास का यह व्रत है।

इन व्रतों में एक समय भोजन विधानानुसार एवं इक्षाभर जल एक बार साथ ही पीले और जो भोजन व्रत में खावय वही एकादशी में भी खाय ये ही सब विधि हैं।

चतुरः प्रातरश्नीयात् पिण्डान् विप्रः समाहितः।
चतुरोऽस्तमिते सूर्ये शिशु चान्द्रायणं स्मृतम् ॥

अर्थ=इसमें प्रातःकाल चार ग्रास और सूर्यास्त के बाद चार ग्रासमात्र एक महीने तक भोजन करना होता है सभी चान्द्रायण में यथा शक्ति त्रिसन्ध्या स्नान और सकल प्रकार संयम विहित है। ये शिशु चान्द्रायण व्रत है। ये ही चान्द्रायण रूप नैमित्तिक व्रत के ४ प्रकार हैं।

महासान्तपन व्रत—

पृथक् सान्तपनैर्द्रव्यैः षडहः सोपवासकः।
सप्ताहेन तु कृच्छ्रोऽयं महासान्तपनं स्मृतम् ॥ (विष्णुसंहिता)

अर्थ=पञ्च गव्यों में से एक एक दिन एक एक, छठे दिन सारे और सातवें दिन उपवास (निर्जला) करने पर महा सान्तपन व्रत होता है।

कुक्कुटाण्डप्रमाणं स्याद् यावद् यस्य मुखं विशेत्।
एतद्ग्रासं विजानीयाच्छ्रुद्ध्यर्थं कायशोधनम् ॥

अर्थ=इन व्रतों में भोजन ग्रास का परिमाण कुक्कुटाण्ड जैसा रखा गया है, अथवा अनायास जितना एक ग्रास मुख में समासके आराम से उतना परिमाण ग्रास का है।

चातुर्मास्य व्रतों में त्याज्य वस्तु एवं फल निर्णय—

श्रावणे वर्जयेच्छाकं दधिभाद्रपदे तथा।
दुग्धमाश्वयुने मासि कार्तिके द्विदलं त्यजेत् ॥

अर्थ=श्रावण में शाक भादों में दही, आश्विन में दूध और कार्त्तिक में दाल न खानी चाहिये। जो मनुष्य इन महीनों में यव और चावल मात्र खाकर रहता है वह पुत्र पौत्र को प्राप्त करता है और जो शाकान्न नहीं खाता है वह विष्णु भक्त होता है। रात्रि के भोजन

त्याग में स्वर्ग को जाता है, परान्न भोजन न करने से देवता वनता है, चान्द्रायण से शिव लोक को पाता है और दूध मात्र पीकर रहने से कुल का उच्छेद नहीं होता। जो मनुष्य चातुर्मास्य में सव प्रकार के तेल फुलेलों को त्यागता नख-रोम नहीं कटाता, वैंगन, कोहड़ा, गाजर, मसूर, मूली, करोंदा आदि पदार्थों को नहीं खाता, वह स्वर्ग सुख लाभ करता है।

माघ में कम्वल दान आदि का फल निर्णय—

माघे मासि महादेव यः कुर्याद् घृतकम्वलम्।
सभुक्त्वा सकलान् भोगानन्ते मोक्षं च विन्दति ॥ (मिताक्षरा और स्मृतियों में)

अर्थ=पौष और माघ मास में घृत तथा कम्वल दान करने से भोग मोक्ष की प्राप्ति होती है। शीतकाल में शीत निवारणार्थ कम्वल की आवश्यकता होती ही है और शीतकाल में परिपाक शक्ति वढ जाने से घृत भोजन भी लाभदायक होता है मकरसंक्रान्ति में गंगा-स्नान और माघमास में गंगा तटपर कल्पवास की वहुत ही महिमा वतायी गयी है।

उपनिषद् में लिखा है—

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग् ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।

अर्थ=सत्य, तप, व्रह्मचर्य आदि के द्वारा आत्मोपलब्धि का पथ निष्कण्टक हो जाता है। व्रतकाल में मिथ्या वोलना निषेध है (एवं कभी भी असत्य न वोलना चाहिये वहुत वड़ा पाप होता है सदा) व्रह्मचर्यरक्षा विहित है उपवास फलाहार आदि द्वारा शारीरिक तपस्या मौन रहकर वाचनिक तपस्या, मनोवृति निरोध रूप मानसिक तपस्या इत्यादि सभी कुछ करना होता है। उपनिषद् में भी लिखा है—

'तपसाकल्मषं हन्ति, विद्ययामृतमश्नुते।

अर्थ=जिस प्रकार सोने का मल उसे तपाने पर निकल जाता है, ऐसा ही तपस्या के द्वारा शरीर-मन को तपाने पर वे निष्पाप निर्मल वन जाते हैं।

'सुखमात्यन्तिकं यत्तद् वुद्धिग्राह्य मतीन्द्रियम्,
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः,

अर्थ=वह असीम आनन्द इन्द्रियों से अतीत, योग वुद्धि से अनुभव करने योग्य है। इसके पाने से सांसारिक कोई वस्तु इससे अधिक उत्तम नहीं मालूम पड़ती है। यही मनुष्य जन्म का अन्तिम सर्वोत्तम प्राप्तव्य वस्तु है।

अथ मां सर्व भूतेषु भूतात्मानं कृतालयम्।
अर्हयेद् दानमानाभ्यां मैत्र्याभिन्नेन चक्षुषा ॥ (श्रीमद्भागवते)

अर्थ=सकल भूतों में जीवात्मारूप से श्रीभगवान् वसे हुये हैं, इसलिये मित्र दृष्टि से सवसे प्रेम तथा सवका मान करना चाहिये।

बहुतों से बिरोध करना हानिकर—

वहुभिर्न विरोद्धव्यं दुर्जनैः सुजनैरपि।
स्फुरन्तमपि नागेन्द्रं भक्षयन्ति पिपीलिकाः॥ (नीति शास्त्र में)

इति द्वितीयः परिच्छेदः समाप्ताः

अर्थ=गृहस्थों को अच्छे बुरे वहुतों से विरोध नहीं करना चाहिये। क्योंकि जिस प्रकार प्रवल विषधर सर्प को हजारों चीटियाँ मिलकर खा जाती हैं, ऐसे ही वहुतों से विरोध रखने पर गृहस्थाश्रम में अनेक असुविधायें होती हैं ये ही सव वातें रामोत्सव के साथ साथ रामजीबन से अवश्य सीखने योग्य हैं।

• ७—सातवां प्रकरण एवं द्वितीय परिच्छेद समाप्त •

सनातन धर्म मार्तण्डः

तृतीयः परिच्छेदः

तीर्थ प्रकरणम्

तीर्थ महिमा-एवं सज्जन सङ्गः नव का रूप—

सितासिते सरिते यत्र सङ्गते तत्राप्लुतासो दिव मुत्पतन्ति ।
ये वै तन्वां विसृजन्ति धीरास्ते जनासोऽमृतत्वंभजन्ते ।। (धर्मशास्त्र में)

अर्थ = गङ्गा यमुना के सङ्गमस्थान प्रयागतीर्थस्नान करने पर स्वर्ग प्राप्ति और शरीर त्याग करने पर मोक्ष प्राप्ति होती है, इत्यादि तीर्थ महिमा विषयक अनेक प्रमाण मिलते हैं।

क्षणमिह सज्जनसङ्गति रेका भवति भवार्णव तरणे नौका ।

अर्थ = क्षण भर का भी सज्जनसङ्ग संसार समुद्र तरने के लिये नाव बनता है। तीर्थ सेवा के साथ साथ यह भी महाफल लाभ होता है।

सप्तपुरी एवं उनके सेवन का फल निर्णय—

अयोध्या मथुरा माया काशी काञ्ची ह्यवन्तिका ।
पुरी द्वारवती चैव सप्तैता मोक्ष दायिकाः ।।
तासु वासं प्रकुर्वन्ति ये मृता वा नराः परम् ।
लभन्ते न पुनर्जन्म मातृगर्भेषुकुत्रचित् ।। (पद्मपुराण भूमि खण्ड)

अर्थ = अयोध्या, मथुरा, माया, काशी, काञ्ची अवन्ती और द्वारवती ये सात तीर्थ मोक्ष दायक हैं। इनमें निवास करने पर अथवा इन तीर्थों में शरीर त्याग होने पर जीव को पुनः मातृगर्भ में आना नहीं पड़ता है।

अग्निष्टोमादिभिर्यज्ञै रिष्ट्वा विपुलदक्षिणैः ।
न तत्फल मवाप्नोति तीर्थाभिगमनेन यत् ।।
तिर्यग्योनिं न वै गच्छेत् कुदेशे न च जायते ।
न दुःखी स्यात् स्वर्गभाक् च मोक्षो पायं च विन्दति ।।
यस्य हस्तौ च पादौ च मनश्चैव सुसंयतम् ।
विद्या तपश्च कीर्तिश्च स तीर्थ फल मश्नुते ।। (काशी खण्ड)

अर्थ = प्रचुर दक्षिणा देकर अग्निष्टोम आदि यज्ञ करने पर भी जो फल नहीं मिलता है, केवल तीर्थ सेवन द्वारा वह फल प्राप्त होता है। तीर्थ सेवी का तिर्यक् योनि में जन्म नहीं

होता है। कुदेश में जन्म नहीं होता है किसी प्रकार का दुःख नहीं होता है वह स्वर्गवासी होकर मोक्ष के उपाय को प्राप्त करता है। जिसका हस्तपादमन सुसंयत है और विद्या तपस्या तथा कीर्ति है उसी को तीर्थ यात्रा का फल मिलता है।

तीर्थ जाने के पूर्व व आने पर भी श्राद्ध करे—

तीर्थयात्रासमारम्भे तीर्थात् प्रत्यागमेऽपि च।
वृद्धिश्राद्धं प्रकुर्वीत बहु सर्पिः समन्वितम्॥ (कूर्मपुराणे)
तीर्थोपवासः कर्त्तव्यः शिरसो मुण्डनं तथा।
शिरोगतानि पापानि यान्ति मुण्डनतो यतः॥ (काशी खण्डे)

अर्थ=तीर्थ जाने से पहिले और तीर्थ से लौटकर विशेष घृत द्वारा वृद्धि श्राद्ध करना चाहिये। तीर्थ में जाकर उपवास तथा केश मुण्डन कराना चाहिये, क्योंकि समस्त पाप केश को ही आश्रय करके रहता है। कहीं-कहीं प्रयाग आदि के सिवाय अन्यत्र मुण्डन की अनावश्यकता भी वतायी गयी है।

सवारी आदि से तीर्थ यात्रा जाने का निर्णय—

नरयानं चाश्वतरी हयादिसहितो रथैः।
तीर्थयात्रास्वशक्तानां यानं दोष करं नहि॥
यानमर्द्धफलंहन्ति तदर्धं छत्रपादुके।
वाणिज्यं त्रींस्तथाभागान् सर्वं हन्ति प्रतिग्रहः॥ (कूर्म पुराणे)

अर्थ=असमर्थ के लिये किसी यान द्वारा तीर्थ यात्रा में दोष नहीं है। वे अश्वतरी, अश्व या आवश्यकतानुसार नरयान से जा सकते हैं। यान में जाने पर आधा फल नष्ट होता है, छाता जूता पहिनने में उसका आधा वाणिज्य के लिये जाने पर उसका तीन भाग और प्रतिग्रहः करने पर समस्त पुण्य नष्ट होता है।

ततः प्रतिदिनं गच्छेत्प्रतिग्रह विवर्जितः।
यश्चान्यं कारयेच्छक्त्या तीर्थयात्रां नरेश्वरः।
स्वकीयद्रव्ययानाभ्यां तस्य पुण्यं चतुर्गुणम्॥ (स्कन्दपुराणे)

अर्थ=जो व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति को अपनी शक्ति के अनुसार तीर्थ यात्रा अपने द्रव्य या वाहन (सवारी) से कराता है वह चौगुने पुण्य का अधिकारी होता है।

गोयानं गोवधंपापं अश्वस्य पुण्य नासनम्।
नृपानं पुण्यं न पापं अश्वमेध पदे-पदे॥

अर्थ=बैलगाड़ी पर चढकर तीर्थ यात्रा करने से गोवध का पाप घोड़े पर पुण्य नाश मनुष्य द्वारा जाने पर न पुण्य न पाप पैदल चलने पर अश्वमेध यज्ञ का फल होता है।

तीर्थ में मुण्डन व व्रत की विधिः—

मुण्डनं चोपबासश्च सर्वतीर्थेष्वयं विधिः।
वर्जयित्वा कुरुक्षेत्रं नैमिषं पुष्करं गयाम्॥ (देवलवाक्य)

अर्थ=उपवास और मुण्डन सभी तीर्थों में कराना चाहिये। कुरुक्षेत्र नैमिषारण्य,

पुष्कर और गया में मुण्डन की आवश्यकता नहीं होती (प्रयाग में तो अवश्य कराना चाहिये) सभी स्त्री पुरुष इत्यादि को।

तीर्थराजसमासाद्य मुण्डनयो न कारयेत्।
सकोटिकुलसंयुक्तो रौरवं नरकं व्रजेत्॥

(मुण्डन का विधान प्रयागराज में स्त्री पुरुष सधवा विधवा बाल वृद्धादि सभी को है)।

अर्थ=तीर्थराज प्रयाग में आकर जो मुंडन नहीं करवा लेता वह करोड़ों कुलों के साथ रौरव नरक को जाता है।

गंगा प्राप्य सरिच्छ्रेष्ठां कम्पन्ते पाप संचयाः।
केशानाश्रित्य तिष्ठन्ति तस्मात्तान् परिवापयेत्॥
यावन्ति नखलोमानि गंगातोये पतन्ति वै।
तावद्वर्ष सहस्राणि स्वर्गलोके महीयते॥ (गरुडपुराण)

अर्थ=देव नदी गङ्गा को पाकर पाप सब कांप उठते हैं और केश पकड़ कर रहते हैं, इसलिये गङ्गा तीर्थ में केश मुण्डन कर देना चाहिये। गंगा जल में जितने नख लोम गिरते हैं उतने हजार वर्ष तक तीर्थ यात्री को स्वर्ग वास होता है।

शिवलिङ्ग अनन्त किन्तु ज्योतिर्लिङ्ग द्वादश ही हैं—

विवादशमनार्थं च प्रबोधार्थं द्वयोरपि।
ज्योतिर्लिङ्गं तदोत्पन्नमावयोर्मध्यमद्भुतम्॥
ज्वालामालासहस्राढ्यं कालानलचयोपमम्।
क्षयवृद्धिविनिर्मुक्तमादिमध्यान्त वर्जितम्॥ (शिवपुराणे)

अर्थ=ब्रह्मा और विष्णु के विरोध को दूर करने के लिये कालानल तुल्य ज्योतिर्लिङ्ग प्रकट हुवा। उसकी मूर्त्ति सहस्र-सहस्र अग्नि ज्वाला से व्याप्त थी। वह क्षय, वृद्धि आदि, अन्त, मध्य रहित था। यही ज्योतिर्लिङ्ग भारत के द्वादश स्थान में भिन्न-भिन्न नाम से विराजमान हैं।

शक्ति पीठों के विषय में देवी भागवत में लिखा है—

अपश्यत्तां सतीं वह्नौ दह्यमानान्तु चित्कलाम्।
स्कन्धेऽप्य रोपयामास हा सतीति वदन् मुहुः॥
बभ्राम भ्रान्तचित्तः सन्नानादेशेषु शंकरः।
तदा ब्रह्मादयो देवाश्चिन्तामापुरनुत्तमाम्॥
विष्णुस्तु त्वरया तत्र धनुरुद्यम्य मार्गणैः।
चिच्छदावयवान् सत्यास्तत्तत् स्थानेषुतेऽपतन्॥
तत्तत् स्थानेषु तत्रासीन्नानामूर्त्तिधरो हरः।
उवाचच ततो देवान् स्थानेष्वेतेषु ये शिवाम्॥

भजन्ति परया भक्त्या तेषां किञ्चिन्न दुर्लभम् ।
नित्यं सन्निहिता यत्र निजाङ्गेषु पराम्बिका ।।
स्थानेष्वेतेषु ये मर्त्या पुरश्चरणकर्मिणः ।
तेषां मन्त्राः प्रसिध्यन्ति माया बीजं विशेषतः ।।
इत्युक्तवा शंकरस्तेषु स्थानेषु विरहातुरः ।
कालंनिन्ये नृपश्रेष्ठ जपध्यानसमाधिभिः ।।

अर्थ—दक्ष यज्ञ में पिता प्रजापति दक्ष के मुख से पति शिव की निन्दा सुनकर सती ने योगाग्नि द्वारा अपने शरीर को दग्ध कर डाला । जलते हुये सती शरीर को शंकर ने अपने कन्धे में रखकर सर्वत्र घूमना शुरू किया जिससे देवतावों को बड़ी चिन्ता लगी । इतने में भगवान् विष्णु ने बाण द्वारा सती देह को खण्ड-खण्ड कर दिया । उनका अङ्ग प्रत्यङ्ग भारत के अनेक स्थानों में जागिरा श्रीभगवान् शंकर उन सब स्थानों में स्वयं जाकर रहने लगे और देवतावों से उन्होंने कहा,कि उन स्थानों में भक्ति पूर्वक जो भगवती शिवा की उपासना करेगा उसको संसार में कुछ भी दुर्लभ नहीं रहेगा। क्योंकि उन सब अङ्गों में स्वयं शिवा विराज-मान हैं । उन स्थानों में पुरश्चरण और खास करके माया बीज का जप करने पर मन्त्र सिद्धि अवश्य होगी । भगवान् शंकर ने इतना कह कर स्वयं भी उन्हीं स्थानों में जप ध्यान समाधि द्वारा कालक्षेप करना प्रारम्भ किया । इस प्रकार से देवी भागवत में पीठोत्पत्ति का रहस्य बताया गया है । और १०८ देवी पीठ का वर्णन किया गया है । तन्त्र चूडामणि में ५१ पीठ का वर्णन मिलता है और कहीं-कहीं ७१ पीठ का भी उल्लेख है । इन सब विभिन्न मतों का सामञ्जस्य करके शिवचरित्र नामक ग्रन्थ में निम्नलिखित ५१ महापीठ और २६ उपपीठों का वर्णन है ।

कलि में विश्वेश्वरदेवता व वाराणसीपुरी ही श्रेष्ठपुरी है—

'कलौ विश्वेश्वरो देवः कलौ वाराणसी पुरी' ३१।२५।

अर्थ=कलियुग में विश्वेश्वर ही श्रेष्ठतम देवता और वाराणसी ही श्रेष्ठतम पुरी है । यही अति प्राचीन काशी, अविमुक्त और वाराणसी नामत्रय की सार्थकता है । काशी जैसा पवित्र क्षेत्र और कोई भी नहीं है, इसको केवल धर्मशास्त्र तथा पुराण ने ही नहीं कहा है, अधिकन्तु वेद में भी यही कहा गया है, इसलिये अविमुक्त क्षेत्र की ही शरण लेनी चाहिये । मुनिवर जावालि ने अपने शिष्य आरुणि से कहा है—इडा नाडी असि, पिङ्गला वरुणा और इन दोनों के मध्य में स्थित सुषुम्ना नाडी अविमुक्त क्षेत्र । इस तरह से योगनाडीत्रय ही वाराणसी है । वाराणसी में प्राण त्याग होते समय भगवान् शिव दक्षिण कर्ण में (तारकमन्त्र) तारक ब्रह्म नाम सुनाते हैं जिससे जीव को ब्रह्मस्वरूप लाभ होता है ।

प्रयागे वा भवेन्मोक्षं इह वा मत्परिग्रहात् ।
प्रयागादपि तीर्थाग्र्यादविमुक्तमिदं शुभम् ।। (लिङ्गपुराणे)

अर्थ=शिव भगवान् के अधिष्ठान हेतु प्रयाग, काशी दोनों ही स्थानों में मोक्ष लाभ होता है किन्तु प्रयाग से भी काशी श्रेष्ठतर है ।

जन्मान्तरसहस्रेण यत्पापं पूर्वं सञ्चितम् ।
अविमुक्तं प्रविष्टस्य तत् सर्वं व्रजति क्षयम् ।। (मत्स्यपुराणे)

अर्थ=पूर्व सञ्चित हजार जन्मों के पाप भी काशी प्रवेश मात्र से नष्ट हो जाते हैं।

बहुनात्र किमुक्तेन वाराणस्या गुणान् प्रति।
नामापि गृणतां काश्याश्चतुर्वर्गो न दूरतः ॥ (नारदीय पुराण)

अर्थ=वाराणसी का गुण अधिक क्या कहा जाय, इसके नाम मात्र के उच्चारण से चतुर्वर्ग फल मिलता है।

यावज्जीवं वसेद् यस्तु क्षेत्रमाहात्म्यविन्नरः।
जन्ममृत्युभयं हित्वा स याति परमां गतिम् ॥ (काशी खण्ड में)

अर्थ=काशी क्षेत्र की महिमा जानकर जो यावज्जीवन काशीवास करता है, उस को जन्म मृत्यु भयरहित परम गति की प्राप्ति होती है। यदि संयम के साथ तीन रात्रि जो काशी वास करता है उसको महान् फल मिलता है।

विषयासक्तचित्तोऽपि त्यक्तधर्मरतिर्नरः।
इहक्षेत्रेमृतः सोऽपि संसारं न विशेत् पुनः ॥
तत्रोत्क्रमणकालेतु साक्षात् विश्वेश्वरः स्वयम्।
व्याचष्टे तारकं ब्रह्म येनासौ तन्मयो भवेत् ॥ (काशी खण्ड में)

अर्थ=विषय में आसक्त चित्त, धर्म में रति हीन मनुष्य भी यदि काशी में मरे तो पुनः संसार में आना नहीं पड़ेगा। क्योंकि यहाँ पर प्राण त्याग के समय स्वयं विश्वेश्वर मुमूर्षु के कान में तारक ब्रह्म, नाम सुनाते हैं, जिससे तन्मयता होकर पाप कटता है और मोक्ष मिलता है। यह दोनों काशी में मुक्ति के विषय में साधारण श्लोक हैं। फिर पुनः काशी में अविहित कामना करे जीवन भर।

दीनं वदान्यं महदल्पकं वा पुण्यं महापातकसंयुतं वा।
आराधिता सा समतां निधत्ते दयापरा भोग मोक्षैकहेतुः ॥ (ब्रह्मवैवर्त्तपुराणे)

अर्थ=दीन हो या वदान्य हो, महत् हो या अल्प हो, पुण्यात्मा हो या महापापी हो, उपासना करने पर भवानी सभी के प्रति समानभाव दिखाती हैं, आप परम दयामयी तथा भोग मोक्ष देने वाली हैं।

प्रयागराज संगम में प्राणत्याग व स्नान का फल निर्णय—

पञ्च योजन विस्तीर्णं प्रयागस्य तु मण्डलम्।
प्रवेशात्तस्य तद् भूमावश्वमेधः पदे पदे ॥ (ब्रह्मवैवर्त्तपुराणे)

अर्थ=देश में हो या जङ्गल में, विदेश में हो या अपने घर में, प्रयागराज को स्मरण कर जो प्राणत्याग करता है, उसको ब्रह्मलोक प्राप्ति होती है। किसी का पाप अधिक या कम हो, प्रयाग का स्मरण करने से नष्ट हो जाता है प्रवेश करते पद-पद अश्वमेध यज्ञ का फल मिलता है। प्रयाग में गङ्गा—यमुना संगम में स्नान करने का महान् फल।

पश्चिमाभिमुखी गंगा कालिन्द्या सह संगता।
हन्ति कल्पकृतं पापं स माघे नृप दुर्लभा ॥

अमृतं कथ्यते राजन् सा वेणीर्भुवि कीर्त्तिता ।
तस्यां माघे मुहूर्त्तं तु दवानामपि दुर्लभम् ।। (पद्मपुराणे)

अर्थ=यमुना से मिली हुवी पश्चिम मुखिनी गंगा एक कला के पाप को नष्ट करती हैं, माघ महीने में उसकी विशेष महिमा है त्रिवेणी अमृतरूपिणी है उसका माघ महीने का मुहूर्त्त देवतावों को भी दुर्लभ है ।

योगैश्च संयान्ति नराश्चयां गतिं,
स्नाता हि ये मकरभास्करोदये । (पद्मपुराणे)
सितासिते तु यत् स्नानं माघ मासे युधिष्ठिर ।
न तेषां पुनरा वृत्तिः कल्पकोटि शतैरपि ।। (महाभारते)
सर्वेषामपि वर्णानां सर्वाश्रमवतामपि ।
माघस्नानं तु धर्मस्य धाराभिः खलु वर्षति ।। (भविष्य पुराणे)

अर्थ=चिरकाल तक हवा जल पत्ता खाकर शरीर सुखा उग्र तप के द्वारा एवं योग साधना के मनुष्य को जो उत्तम गति मिलती है केवल मात्र मकर राशि में त्रिवेणी स्नान से वह गति प्राप्त होती है । महाभारत में भी लिखा है, कि माघ में त्रिवेणी स्नान करने से शत कोटि कल्प में भी जीव को पुनः संसार में नहीं आना पड़ता है । भविष्य पुराण में भी लिखा है कि चाहे किसी वर्ण या किसी आश्रम का मनुष्य हो माघ में त्रिवेणी-स्नान से धर्म की धारा बरसती है । प्रयाग में त्रिवेणी स्नान से मोक्ष लाभ के विषय में 'काश्यांमरणान् मुक्तिः' की तरह यही विज्ञान समझना चाहिये ।

प्रयाग में मुण्डन की बड़ी महिमा बतायी है—

प्रयागे वपनं कुर्याद् गयायां पिण्डपातनम् ।
दानं दद्यात् कुरुक्षेत्रे वाराणस्यां तनुं त्यजेत् ।।
किं गयापिण्डदानेन काश्यां वा मरणेन किम् ।
किं कुरुक्षेत्रदानेन प्रयागे वपनं यदि ।।
केशानां यावती संख्या छिन्नानां जाह्नवी तले ।
तावद् वर्ष सहस्राणि स्वर्ग लोके महीयते ।।
यावन्ति नखलोमानि वायुना प्रेरितानि वै ।
पतन्ति जाह्नवीतोये नराणां पुण्य कर्मणाम् ।।
तावदब्द सहस्राणि स्वर्ग लोके महीयते ।।

अर्थ=प्रयाग में केश मुण्डन, गया में पिण्डदान, कुरुक्षेत्र में दान और काशी में शरीर त्याग करना चाहिये । यदि प्रयाग में केश मुण्डन हो जाय तो गया में पिण्डप्रदान, काशी में मरण और कुरुक्षेत्र में दान का क्या प्रयोजन है, जितने संख्यक केश तथा नख गंगा जल में मुण्डन से गिरते हैं, उतने हजार वर्ष स्वर्ग लोक में निवास होता है । यही सब संक्षेप से वर्णित प्रयाग माहात्म्य है ।

गंगा के आने का कारण मृत्यु लोक में—

अद्य प्रभृतिदेवेशि कलेः पञ्च सहस्रकम् ।
वर्षं स्थितिस्ते भारत्याः शापेन भारते भुवि ।।

अर्थ=श्री भगवान् विष्णु ने गङ्गादेवी से कहा कि सरस्वती के शाप से कलियुग के पाँच हजार वर्ष तक तुम्हें भारत में रहना पड़ेगा। इन प्रमाणों से गंगादेवी आज कल भारत में हैं या नहीं सो भगवान् विष्णु ही जानते हैं।

जहां श्रीभागीरथी गंगा वह देशस्थल धन्य गंगा में निषेध कर्म—

ते देशास्ते जनपदास्ते ग्रामास्ते च पर्वताः ।
येषां भागीरथी गंगा मध्येनैति सरिद्वरा ।।
तपसा ब्रह्मचर्येणयज्ञैस्त्यागेन वा पुनः ।
गतिं तां लभते जन्तुर्गंगां संसेव्य यां लभेत् ।।
पूर्वे वयसि पापानि कृत्वा कर्माणि ये नराः ।
पश्चाद्गंगां निषेवन्ते तेऽपि यात्युत्तमांगतिम् ।।

अर्थ=वे ही देश, जनपद, ग्राम तथा पर्वत उत्कृष्ट हैं, जिनके मध्य में नदी श्रेष्ठ भागीरथी वहा करती हैं। तपस्या, ब्रह्मचर्य, यज्ञ और त्याग के द्वारा जो उत्तम गति मिलती है, केवल गंगा सेवन से वही मिलती है। पूर्ववयस में पाप करने पर भी जो लोग पीछे से गंगा सेवन करते हैं, उन्हें उत्तम गति मिलती है। सभी कर्म शास्त्रीय करने पर।

दर्शनात् स्पर्शनात् पानात्तथा गंगेति कीर्त्तनात् ।
स्मरणादेव गंगायाः सद्यः पापात् प्रमुच्यते ।।

अर्थ=गंगा के दर्शन, स्पर्शन, गुणकीर्त्तन, जलपान, और केवल स्मरण मात्र से मनुष्य सद्यः पाप मुक्त होता है।

गंगां पुण्यजलां प्राप्त त्रयोदश विवर्जयेत् ।
शौचमाचमनं चैव निर्माल्यं मलघर्षणम् ।।

अर्थ=पुण्यतोया गङ्गा में तेरह काम नहीं होने चाहिये यथा—मल मूत्रादि त्याग, मुख धोना दन्तधावन, कुल्ली आदि करना नहीं चाहिये आचमन करना (महाभारत का प्रमाण कि गङ्गा में जाँघ भर जल में आचमन करे ऐसा पाठ मिला है) या पूजा के फूल निर्माल्य फेंकना नहीं चाहिये मल घर्षण करना या वदन को मलना नहीं चाहिये किसी प्रकार का निषेध कर्म।

पुत्र की कामनागया पिण्ड दान हेतु सन्यासी को दण्ड स्पर्श विधिः—

गया तीर्थ माहात्म्य पुत्र की कामना पितृ तीर्थ गया के विषय में—रामायण में लिखा है—

एष्टव्या वहवः पुत्रा गुणदन्तो वहुश्रुताः ।
तेषां वै समवेतानामपि कश्चिद्गयां व्रजेत् ।।

अर्थ=पिता गुणवान् विद्वान् वहुपुत्र की कामना इसलिये करते हैं कि उनमें से एक

भी गया में जाकर पिण्डदान करेंगे तो पितरों का उद्धार हो जायगा। महाभारत के वन पर्व में लिखा है—

उवास स स्वयं तत्र धर्मराजः सनातनः।
यत्र सन्निहितो नित्यं महादेवः पिनाकधृक् ॥

अर्थ=अर्थात् अन्यान्य देवता तथा भगवान् विष्णु के अतिरिक्त धर्मराज यम और पिनाकी महादेव भी सदा गया क्षेत्र में निवास करते हैं। महाभारत के अनुसार गयशिर अक्षयवट, महानदी धर्मारण्य, ब्रह्मसर, धनुक तीर्थ, गृध्र वट, उद्यन्त पर्वत, योनिद्वार, फल्गु-तीर्थ, धर्म प्रस्थ, मतंगाश्रम और धर्म तीर्थ इतने तीर्थ गयाक्षेत्र में हैं। अग्नि तथा वायुपुराण में मीनाक, प्रेतशिला आदि और भी कई एक तीर्थों का वर्णन देखने में आता है।

गयातीर्थं परं गुह्यं पितृणां चातिवल्लभम्।
कृत्वा पिण्डप्रदानं तु न भूयो जायते नरः ॥
सकृद् गयाभिगमन कृत्वा पिण्डं ददाति यः।
पितरस्तारितास्तेन यास्यन्ति परमां गतिम् ॥
धन्यास्तु खलु ते मर्त्या गयायां पिण्डदायिनः।
कुलान्युभयतः सप्त सद्धृत्याप्नुयात् परम् ॥

अर्थ=गया तीर्थ गूढ रहस्यपूर्ण तथा पितरों का अति प्रिय है। यहाँ पर पिण्ड देने से पुनर्जन्म नहीं होता है। जो एक वार भी गया जाकर पिण्ड देता है उसके पितर उद्धार पाकर परम गति को जाते हैं। वे लोग धन्य हैं जिनने गया में पिण्ड दिया है, वे आगे पीछे के सात कुल तार देते हैं और स्वयं भी उन्नत गति को पाते हैं। और भी दण्डी संन्यासी को गया में जाकर विष्णु पद में अपना दण्ड स्पर्श करने की विधि है—

दण्डं प्रदर्शयेद् भिक्षुर्गयां गत्वा न पिण्डदः।
न्यस्य विष्णु पदे दण्डं मुच्यते पितृभिः सह ॥ (वायवीय पुराणे)

अर्थ=दण्डधारी संन्यासी को गया में पिण्ड देना नहीं पड़ता है, केवल विष्णु पद में दण्डस्पर्श कराने से ही पितरों के साथ मोक्ष लाभ होता है।

• ८—आठवाँ तीर्थ प्रकरण समाप्त •

भोजनादि विधिः प्रकरणम्

भोजनआदि कि विधि एवं पात्रादि का निर्णय—

इक्षुक्षीरविकाराश्च भ्राष्ट्रभृष्टयवाअपि।
पराग्निपक्वं न ज्ञेयं प्रवासे चाग्निहोत्रिणः ॥
यदन्न वारिहीनं च पक्वं केवलपावके।
तदन्नं फलवद् ग्राह्यमन्नदोषो न विद्यते ॥

अर्थ=अग्निहोत्री के प्रवास में ऊख और दूध के बने (चीनी पेड़ा आदि) और भाड़ में भूंजे हुवे यव भी दूसरे की अग्नि में पके हुवे न समझे। जो अन्न जल के विना केवल अग्नि में पकाया हुवा हो वह अन्न फल के समान ग्राह्य है, इसमें अन्न का दोष नहीं होता।

पञ्च हिंसा निवृत्ति हेतु बलि वैश्य करना चाहिये--

वैश्वदेवः प्रकर्तव्यः पंचसूनापनुत्तये।
कण्डनी पेषणी चुल्ली जलकुम्भोऽथमार्जनी॥

अर्थ=पाँच प्रकार के जीव वध की निवृत्ति के लिये वैश्वदेव करना चाहिये नित्य। कण्डनी, पेषणी, चुल्ही, जलकुम्भ और झाड़ू ये पांच हिंसा के स्थान पञ्च सूना कहे जाते हैं।

हैमे राजते पात्रे आम्रादि पात्रे (पत्तले) वा भोजनं शस्तम्।
एक एव तु भुंजीत कांस्यपात्रे नान्योच्छिष्टे॥

अर्थ=सोने चांदी के पात्र अथवा आम आदि के पत्तों में भोजन करना अच्छा है। कांस्य पात्र में अकेला भोजन करे अन्य के उच्छिष्ट पात्र में भोजन वर्जित है।

ताम्बूलाभ्यञ्जं चैव कांस्यपात्रे च भोजनम्।
यतिश्च ब्रह्मचारी च विधवा च विवर्जयेत्॥

अर्थ=ताम्बूल अभ्यञ्जन (तेलआदि लगाना) और कांस्यपात्र में भोजन संन्यासी ब्रह्मचारी और विधवा त्यागदे इन तीनों को इन पात्रों में नहीं खाना चाहिये।

कदलीकुटजमधुजम्बूपनसाम्रचम्पकोदुम्बरपत्राणिशस्तानि।

अर्थ=केला, कुटज महुवा, जामुन कटहल, आम, चम्पा, और गूलर के पत्तों में भोजन करना ठीक है। व्यास की आज्ञा--

एक एव तुयोभुङ्क्ते गृहस्थः कांस्यभाजने।
चत्वारि तस्य बर्धन्ते आयुः प्रज्ञा यशो बलम्॥ (व्यासजी)

अर्थ=जो गृहस्थ काँस्य के पात्र में अकेला भोजन करता है उसकी आयु, बुद्धि, यश और वल ये चार वढते हैं।

ब्रह्मपत्रेषु यो भुङ्क्ते मासमेकं निरन्तरम्।
चान्द्रायणसमं पुण्यं कृतस्यापि चतुर्गुणम्॥ (आह्निक)

अर्थ=ब्रह्म पत्र (पलाश) के पात्र में जो व्यक्ति निरन्तर एक माह तक भोजन करे उसे चान्द्रायण व्रत के समान पुण्य होता है तथा चान्द्रायण व्रत करने पर चौगुना पुण्य होता है। (इसके पत्ते पर वैठना पाप खाना पुण्य और सव को तो खाना अधिकार भी नहीं है)

वटार्काश्वत्थपत्रेषु कुम्भीतिन्दुकजेषु च।
श्रीकामोन तु भुञ्जीत कोविदारकरञ्जयोः॥ (पैठीनसिः)

अर्थ=वरगद; मंदार पीपल, कुम्भी तिन्दुक को विदार (कचनार) करञ्ज केपत्ते में लक्ष्मी को (या ने किसी प्रकार की उन्नति) चाहने वाला व्यक्ति भोजन न करे।

मृन्मये पत्र पृष्ठे वा आयसे ताम्रभाजने।
नाश्नीयादपि चेद् भुङ्क्ते नरकं प्रतिपद्यते॥

अर्थ = मिट्टी के पात्र में पत्ते के पृष्ठ भाग में लोहे के पात्र में ताम्र के पात्र में भोजन नहीं करना चाहिये। यदि करता है तो नरकगामी होता है। (गृहस्थ मात्र के लिये निषेध है)।

आयसेन तु पात्रेण यदन्नमुपदीयते।
यदन्नमपवित्रं स्यात्त्याज्यं वै सर्व कर्मणि॥

अर्थ = लोहे के पात्र से (या मात्र में स्टील लोहा ही तो है) जो दिया जाय तथा जो अन्न अपवित्र हो वह सभी कार्यों में त्याज्य है।

मण्डल किये बिना भोजन न करे—

आदित्या वसवो रुद्रा ब्रह्मा चैवपितामहः।
मण्डले तूप जी वन्ति तस्मात् कुर्वीत् मण्डलम्॥

अर्थ = सूर्य, वसु, रुद्र, ब्रह्मा तथा पितामह ये मण्डल के द्वारा ही अपना भाग ग्रहण करते हैं अतः भोजन काल में मण्डल करना चाहिये। मण्डल न करने से सूक्ष्मांश को राक्षस ग्रहण कर लेते हैं।

द्वादशाङ्गुलमानं तु व्रतिनो योगिनां सदा।
चतुरङ्गुलं विधा तव्यं त्रिकोणं प्रेत कर्माणि॥

अर्थ = प्रेत कर्म (याने पितृ क्रिया के समय) में चार अंगुल का त्रिकोण व्रती तथा योगी केलिये बारह अंगुल का (अष्ट दल मध्य में ॐ) (गृहस्थ को चौकोर बीच में राम नाम लिखें) (ऐसा मण्डल) बनाना चाहिये।

यातुधानाः पिशाचाश्च क्रूराश्चैव तु राक्षसाः।
हरन्तिरस मन्नं च मण्डलेन विवर्जितम्॥

अर्थ = मन्त्रोच्चारण करने पर भी यदि मण्डल नहीं किया जाता तो उस भोजन के रस को भूत प्रेत, पिशाच क्रूर तथा राक्षस ग्रहण करते हैं।

आयुष्यं प्राङ्मुखो भुङ्क्ते यशस्यं दक्षिणः मुखः।
श्रियं प्रत्यङ्मुखो भुङ्क्ते ऋतं भुङ्क्ते ह्युदङ्मुखः॥ (मनुः)

अर्थ = पूर्व की तरफ मुख कर के भोजन करने से आयु, दक्षिण में मुख करने से यश, पश्चिम में लक्ष्मी कि प्राप्ति तथा उत्तर की तरफ मुख कर के भोजन करने से ऋत की प्राप्ति होती है।

पादुकास्थो न भुञ्जीत पर्यङ्के संस्थितोऽपिवा।
शुना चाण्डाल दृष्टो वा भोजनं परिवर्जयेत्॥

अर्थ = खड़ाऊँ पहन कर, पलंग पर बैठकर, भोजन नहीं करे कुत्ता तथा चाण्डाल द्वारा देखे गये भोजन का भी परित्याग करे अर्थात् इनसे बचाकर भोजन करे।

अश्वारूढं गजारूढं खट्वारूढं उपानहम्।
तज्जलं सुरया तुल्यमन्नं गोमांस भक्षणम्॥

अर्थ = घोड़े और हाथी की सवारी पर चारपाई पर बैठे जूता पहने हुवे जलपान

करने से शराब पीने के समान दोष होता है तथा अन्न आदि भक्षण करने से गोमांस भक्षण के समान दोष होता है ।

पथ्यान्नग्रहणम्—

गोधूमशालियव षाष्टिक शोभनान्नं क्षीराज्यखण्ड नवनीतसितामधूति ।
शुण्ठी पटोलकफलादिक पञ्चशाक मुद्गादिदिव्यमुदकं च यमीन्द्र पथ्यम् ।। इति ।

अर्थ=गेहूँ, चावल, यव, सांठी का चावल, सात्विक अन्न दूध, घी, शकर, मक्खन, मिस्री, मधु, सुण्ठी, परवर फलादि, पञ्चशाक वथुई पालक आदि मूंग आदि शुद्ध जल आदि को पथ्य के रूप में स्वीकार किया गया है । अपथ्यान्नं त्यागम्—

कट्वम्लतिक्तलवणोष्ण हरीतशाक
सौवीर तैल तिलसर्षंय मद्यमत्स्यान् ।
अजादि मांस दधितक्र कुलत्थ्य कोल
पिण्याक हिंगु लशुनाद्यपथ्य माहुः ।।

अर्थ=कड़वा, खट्टा, तीता अधिक नमक, उष्ण वस्तु जिस शाक के डंठल में पोल हो, सौवीर देश का तेल, तिल, दक्षिणी सरसों मदिरा, मछली, बकरे आदि का मांस, दही, मट्ठा खट्टा हो तो, चंवरी बैर, खली, हींग, लासुन, प्याज आदि को अपथ्य कहा गया है ।

● ९—नववाँ भोजनादि विधिः प्रकरण समाप्त ●

सदाचार धर्म प्रकरणम्

मद्यपान भाँग तमाखू पीना खाना बीड़ी आदि सभी वर्णाश्रमियों के लिये निषेध हैं—

गौडी पैष्ठी तथा माध्वी विज्ञेयात्रिविधासुरा ।
चतुर्थीस्त्री सुराज्ञेया यया संमोहितं जगत् ।।

अर्थ=गुड़ से बनी, अन्न से बनी तथा महुवा अंगूरादि से निर्मित तीन प्रकार की मदिरा होती है । चौथी मदिरा स्त्री ही है जिसके द्वारा यह सम्पूर्ण विश्व संमोहित है ।

मद्यपानं महापापंनारी संगस्तथैव च ।
तस्माद्द्वयं परित्यज्य तत्त्व निष्ठोभवेन्मुनिः ।।

अर्थ=मदिरापान तथा नारी संग ये दोनों महापाप के कारण हैं अतः तत्त्वनिष्ठ व्यक्ति को इन दोनों का परित्याग कर देना चाहिये ।

चित्ताक्रान्तंधातुवद्धं शरीरं नष्टे चित्ते धातवो यान्तिनाशम् ।
तस्माच्चित्तं सर्वतो रक्षणीयं स्वस्थचित्ते वुद्धयः सम्भवन्ति ।।

अर्थ=चिन्ता से व्याप्त रहने पर शरीर धातु से बँधा रहता है । चित्त के नष्ट होने पर धातु का नाश होता है । अतएव चित्त की रक्षा करनी चाहिये क्योंकि स्वस्थ चित्त रहने पर बुद्धि का विकास होता है ।

प्राणियों में मैत्रीभावम्—

ब्रह्मचर्यंतपः शौचं सन्तोषोभूत सौहृदम् ।
गृहस्थस्याप्यृतौगन्तुः सर्वधांमदुपासनम् ।
इतिजितात्मा स्वधर्मे भजन्नित्यमनन्यभाक् ।
सर्वंभूतेषु मद्भावो मद्भक्तिं विन्दतेऽचिरात् ॥इति॥

अर्थ=भगवान् ने स्वयं कहा है कि ब्रह्मचर्य, तपस्या, पवित्रता, सन्तोष, प्राणियों में मैत्रीभाव, गृहस्थ के लिये ऋतुकाल में स्त्री गमन, सम्पूर्ण प्राणियों में मेरी उपासना अपने धर्म पर रहकर मेरा भजन करने वाला मेरा अनन्य पात्र है तथा सम्पूर्ण जीवों में मुझे देखने वाला बहुत काल तक मेरी भक्ति से आनन्दित होता रहता है । अन्त में सद्गति लाभ का अधिकारी होता है। कौन सदाचार खानपान आदि में विचारवान् व्यक्ति धर्म कर्म निष्ठ आत्म लाभ करता है--

अतः इस प्रकार निष्पक्षपात व समतायुक्त उपदेशों के ऊपर विचार करने से कोई भी बुद्धिमान् मनुष्य स्मृतियों पर पक्षपात का दोष नहीं लगा सकते हैं । पाप करने से और वर्णों का जितना दण्ड लिखा है, ब्राह्मण को उससे कई गुणा अधिक दण्ड स्मृतिकारों ने बताया है।

सुरापान के दण्ड में मनुजी लिखते है कि :—

सुरां पीत्वा द्विजो मोहादग्निवर्णां सुरां पिवेत् ।
तया स काये निर्दग्धे मुच्यते किल्बिषात्ततः ॥ (मनुजी)

अर्थ=यदि द्विजाति मोह से कभी सुरापान करे, तो उन्हें पाप मोचन के लिये अग्नि वर्ण गरम सुरापान कर दग्ध होना चाहिये। अन्यथा पाप क्षय नहीं हो सकता है।

विजया कल्पमेकं तु दशकल्पं तु नागिनी ।
तमालंशतकल्पं तु धूम्रसंख्या न दीयते ॥ (पद्मपुराणे)

अर्थ=भांग खाने वाले को एक कल्प, अफीम खाने वाले को दश कल्प, तमाखू खाने वाले को सौ कल्प तक नरक में रहना पड़ेगा किन्तु धूम्रपान वीड़ी सिगरेट गाँजा आदि के पीने वाले को असंख्य कल्प तक नरक में रहना पड़ेगा ।

तमाल पत्र ह्याधानैर्ये भक्षयन्ति नराधमाः ।
तेषां नरके वासो यावद् ब्रह्मा चतुर्मुखः ॥(पद्म०)

अर्थ=जो व्यक्ति तमाखू का सेवन करते हैं उनको तब तक नरक में रहना पड़ता है जब तक ब्रह्मा का चार युग नहीं बीतता है।

ये पिबन्ति धूम्रपानं लक्ष्मीः तस्य नश्यति ।
तद्गृहात्याति लक्ष्मी वै गुरोर्भक्तिर्न संभवेत् ॥(पद्म०)

अर्थ=तमाकू पीने वाले की लक्ष्मी नष्ट हो जाती है तथा वह व्यक्ति अपने गुरु के प्रति भक्ति भी नहीं दिखा सकता ।

ब्राह्मणाः क्षत्रियाः शूद्राः वैश्याश्च मुनिसत्तम ।
श्वपचैस्सदृशो ज्ञेयः तमाल ः पानमात्रतः ॥ (पद्मपुराणे)

अर्थ=ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य अथवा शूद्र जो भी हो यदि वह तमाखू खाता है तो उसे भंगी की तरह समझना चाहिये ।

ताम्बूलंभक्षयन्तो ये श्रृण्वन्तीमत् कथां नराः ।
स्वविष्ठां खादयन्त्येतान्नरके यम किंकराः ॥ (शिवपुराणे)

अर्थ=पान खाकर यदि कथा सुनी जाय तो मृत्यु के वाद यमराज उसे विष्ठा खिलाते हैं कथा कहने वाले तथा यजमान को असंख्य जन्मों तक पाप का भागी होना पड़ता है ।

गृहस्थानैवविज्ञेयः तेनैव ब्रह्मचारिणः ।
वानप्रस्था नते ज्ञेयः यतयो न भवन्ति हि ॥ (पद्मपुराणे)

अर्थ=तमाखू खाने वाला गृहस्थ, ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी और संन्यासी अपने को क्रमशः गृहस्थ, ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी तथा संन्यासी नहीं कह सकता ।

धर्मेणैव नृणां ज्ञेयः तमाखू धूम्रपानतः ।
पतन्तिरौरवे घोरे नर के नात्र संशयः ॥

अर्थ=धर्म के द्वारा मनुष्य को ज्ञान करना चाहिये तमाखू एवं धूम्रपान करने से व्यक्ति घोर रौरव नरक को जाता है ।

सदाचार पालन से पुण्य लाभ--

धर्म्मोऽस्यमूलान्यसवः प्रकाण्डो, वित्तानिशाखाच्छदनानिकामाः ।
यशांसिपुष्पाणि फलञ्च पुण्यं, असौसदाचारतरुर्महीयान् ॥ (शास्त्र में)

अर्थ=सदाचार रूपी महान् वृक्ष का फल धर्म है काण्ड आयु है शाखा धन है, पत्र कामना है, पुष्प यश है और फल पुण्य है । इस प्रकार से यह कल्पतरु महामहीयान् है । धर्मानुकूल शारीरिक व्यापार को ही जब सदाचार कहा गया है तो सदाचार तरु का मूल धर्म है इसमें क्या संदेह है । जीव मात्र की प्रवृत्ति स्वाभाविक रूप से अधर्म और अनर्गलता की ओर होती है । सभी यथेच्छ आहार बिहारादि करना चाहते हैं । इस प्रकार की स्वाभाविक निरंकुश प्रवृति यदि वढती गयी तो मनुष्यों में देवभाव विकसित नहीं हो सकेगा, वे पशुभाव के दास होकर मनुष्य जन्म को नष्ट कर देंगे । सदाचार के अनुशासन से मनुष्य की अनर्गल वृत्ति नियमित रूप से सव कार्य धर्मानुकूल करते रहने से आप ही आप संयम का अभ्यास होता है और मनुष्य में देवभाव उत्पन्न होकर उसका जीवन सुफल हो जाता है । प्रातः स्नान में, व्रत या श्राद्ध के दिन द्वादशी तथा ग्रहण में तेल लगाना मदिरा लगाने के सदृश है इसलिये इन दिनों में तेल नहीं लगाना चाहिये ।

एक आसन पंक्ति में भोजन स्पृश्यास्पृश्य विचार—

एकशय्यासनं पंक्तिर्भाण्डपक्वान्न मिश्रणम् ।
याजनाध्यापनं योनिस्तथा च सहभोजनम् ॥

नवधा सङ्करः प्रोक्तो न कर्त्तव्योऽधमैः सह।
समीपे चाप्यवस्थानात् पापं संक्रमते नृणाम् ।। (कूर्मपुराणे)

अर्थ=एक शय्या पर सोना, एक आसन पर बैठना, एक पंक्ति में भोजन, भोजन-पात्र या पक्वान्न का मिश्रण, याजन अध्यापन, योनि संसर्ग और सह भोजन ये नव प्रकार के संसर्ग कहलाते हैं। अधम जनों के साथ कभी ऐसे संसर्ग नहीं होने चाहिये। क्योंकि समीप रहने से ही एक के पाप दूसरे में जाते हैं।

आलापाद् गात्र संस्पर्शान्निःश्वासात् सहभोजनात्।
सहशय्यासनाध्यायात् पापं संक्रमते नृणाम् ।।

अर्थ=आलाप, गात्रस्पर्श, निःश्वास, एकत्र भोजन, शयन, उपवेशन और अध्ययन से एक का पाप दूसरे में प्रवेश करता है। सूक्ष्म वृत्तियों की तरह स्थूल रोगों के विषय में भी महर्षि सुश्रुत ने निदान स्थान के पञ्चम अध्याय में लिखा है—

प्रसङ्गाद् गात्र संस्पर्शान्निःश्वासात् सहभोजनात्।
सहशय्या सनाच्चापि वस्त्र माल्यानुलेपनात् ।।
कुष्ठं ज्वरश्च शोषश्च नेत्राभिस्यन्द एव च।
औपसर्गिक रोगाश्च संक्रामन्ति नरान्नरम् ।।

अर्थ=सहालाप, गात्रस्पर्श, निःश्वास, सहभोजन, शयनज्वर, शोष, नेत्राभिस्यन्द तथा विसूचिका, चेचक आदि संक्रामक रोग शरीर से शरीरान्तर में संक्रमित होवे हैं। इन सव प्रमाणों के द्वारा स्पष्ट सिद्ध होता है कि, स्पृश्यास्पृश्य विज्ञान के मूल में गंभीर तथ्य निहित है और शारीरिक मानसिक सकल प्रकार की व्याधि ही एकत्र भोजनादि द्वारा देह से देहान्तर में संक्रामित हो सक्ती है। अतः स्पृश्यास्पृश्य विज्ञान कुसंस्कार विचार से उपेक्षणीय नहीं है, किन्तु सर्वथा पालनीय है।

आह्निक आचार तत्त्व में लिखा है कि—

अप्येकपंक्तौ नाश्नीयात् संवृतः स्वजनैरपि।
कोहि जानाति किं कस्य प्रच्छन्नं पातकं महत्।
भस्म-स्तम्ब-जल-द्वारमार्गैः पंक्तिञ्च भेदयेत् ।।

अर्थ=अन्य की वात ही क्या अपने जनों से भी एक पंक्ति में भोजन के समय भस्म तृण या जल द्वारा पंक्ति भेद कर लेना चाहिये। क्योंकि कौन जाने किसके भीतर कौन पाप प्रच्छन्न रूप से विद्यमान है।

'उपलिप्ते समे स्थाने शुचौ लघ्वासनान्वितः, (शास्त्र में)

अर्थ =गोमयलिप्त समतल पवित्र स्थान में लघु आसन में बैठ कर भोजन करना चाहिये। गोमय की सर्वोत्तम रोग कीट नाशिनी शक्ति है।

बिना स्नान जप पूजादि किये खाने से दोष—

'अस्नात्वाशी मलं भुङ्क्ते अजपी पूयशोणि तम्'

अर्थ =नीरोग शरीर होने पर भी विना स्नान किये खाने से मल भोजन और बिना जप पूजा किये खाने से पूय शोणित भोजन का दोष होता है।

यामभध्ये न भोक्तव्यं त्रियामन्तु नलङ्घयेत्।
याममध्ये रसस्तिष्ठेत् त्रियामे तुरसक्षयः ।। (आयुर्वेद में)

अर्थ=प्रथम प्रहर के बीच में खाने से रस वृद्धि और तृतीय प्रहर के अन्त में खाने से रसक्षय होता है। अतः प्रथम प्रहर के वाद और तृतीय प्रहर से पहले ही भोजन करने के विषय में प्रमाण है।

पवित्र और सात्त्विक अन्न खाने से मोक्ष लाभ—

दध्नः सौम्य मथ्यमानस्य योऽणिमा स ऊर्द्ध्वः समुदीषति तत् सर्पिभवति।
एव मेव खलु सौम्यान्नस्य योऽणिमा स ऊर्द्ध्वः समुद्रीषति, तन्मनो भवति ।।
अन्नमयं हि खलु सौम्येदं मनः, आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा।
स्मृतिः स्मृति शुद्धौ सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः" । (श्रुतिः)

अर्थ=जिस प्रकार दधि के मथने पर उसका सूक्ष्म अंश ऊपर आकर घृत वनता है, उसी प्रकार अन्न के सूक्ष्मांश से मन वनता है। मन अन्नमय ही है। आहार शुद्धि से सत्त्व शुद्धि, सत्त्व शुद्धि से ध्रुवा स्मृति और स्मति शुद्धि से सर्व ग्रन्थियों का मोचन होता है। अतः सिद्ध हुवा कि, अन्न के सात्त्विकादि गुणानुसार मन भी सात्त्विकादि भावापन्न होगा। साधारणतः देखा जाता है कि, अन्न न खाने से मन दुर्वल हो जाता है, चिन्ताशक्ति नष्ट होने लगती है, और अन्न खाने से मन सवल तथा चिन्ता शक्ति वढने लगती है। अतः यदि अन्न तामसिक हो, तो मन बुद्धि प्राण और शरीर तामसिक होगा, जिससे व्रह्मचर्य धारण और साधना आदि असम्भव हो जायगी। इसी तरह राजसिक अन्न से भी मन और वुद्धि चञ्चल होती है, अतः पवित्र और सात्त्विक अन्न ही ग्रहण करना चाहिये। खाद्याखाद्य के सम्वन्ध में पश्चिमी देशों में जिस प्रणाली से विचार किया है, वह सर्वाङ्ग दृष्टि से पूर्ण नहीं है।

अन्न में पवित्र दृष्टि गीले पांव आदि भोजन पंक्ति दोष विचार—

पितृ मातृ सुहृद् वैद्यपुण्यकृद्धंस र्वाहणाम्।
सारसस्य चकोरस्य भोजने दृष्टिरुत्तमा ।।

अर्थ=पिता, माता वन्धु, वैद्य, पुण्यात्मा, हंस, मयूर सारस और चकवे की दृष्टि भोजन में उत्तम है। इनकी दृष्टि से अन्न का दोष दूर होता है। चकवे के विषय में मत्स्य पुराण में लिखा है कि चकोरस्य विरज्यते नयने विषदर्शनात्। अन्न में विष आदि दोष रहने पर चकवे आँखें मूंद लेते हैं, जिससे विषाक्त अन्न का पता लग जाता है। चरण मुख हाथ धोकर भोजन करें-पंक्ति में भोजन के समय आचमनादि न करें न उठें पंक्ति से जव तक सव का भोजन न हो जाय—

आर्द्रपादस्तु भुञ्जीत नाऽऽर्द्रपादस्तु संविशेत्।
आर्द्रपादस्तु भुञ्जानो दीर्घमायुरवाप्नुयात् ।। (मनुजी)

अर्थ=हाथ पैर मुख धोकर भोजन करना चाहिये परन्तु गीले पाँव सोना नहीं चाहिये आर्द्र पाद होकर भोजन करने से दीर्घायु लाभ होता है।

एकपङ्क्त्युपविष्टानां विप्राणां सह भोजने।
यद्येकोऽपि त्यजेत् पात्रं शेषमन्नं न भोजयेत्॥ (पाराशरस्मृति)

अर्थ=ब्राह्मणों की मण्डली के कतार में वैठकर भोजन करने वाला कोई व्यक्ति यदि भोजन करते समय उठ जाय तो उस कतार के सभी ब्राह्मणों को भोजन का परित्याग कर देना चाहिये। क्योंकि इसके बाद किया जाने वाला भोजन जूठा माना जाता है।

उठने एवं आचमन करने वाले को ब्रह्महत्या का दोष खाने वाले को चान्द्रायण व्रत से शुद्धि कही है।

भोजन में दृष्टि दोष एवं दृष्टि दोष नाश—

हीनदीनक्षुधार्त्तानांपाषण्डस्त्रैणरोगिणाम्।
कुक्कुटाहिशुनां दृष्टिर्भोजने नैव शोभना॥

अर्थ=नीच, दरिद्र, भूखें, पाषण्डस्त्रैण रोगी, मुर्गे सर्प और कुत्ते की दृष्टि भोजन में ठीक नहीं होती है। उनकी विषदृष्टि अन्न में संक्रमित होने से अजीर्ण रोग उत्पन्न होते हैं, यदि कभी इनमें से किसी की दृष्टि अन्न में पड़ जाय तो निम्नलिखित मन्त्र पढकर उसकी अर्थचिन्ता करते करते भोजन करना चाहिये।

अन्नंब्रह्मरसो विष्णुर्भोक्ता देवो महेश्वरः।
इति सञ्चिन्त्य भुञ्जानं दृष्टिदोषो न वाधते॥

अर्थ=अन्न ब्रह्मरूप है। अन्नरस विष्णु रूप है, भोक्ता महेश्वर हैं, ऐसी चिन्ता करते करते भोजन करने पर दृष्टि दोष नहीं होता है।

यो भुङ्क्ते वेष्टितशिरा यश्च भुङ्क्ते विदिङ्मुखः।
सोपानत्कश्च यो भुङ्क्ते सर्वं विद्यात्तदासुरम्॥

अर्थ=माथा लपेट कर, निषिद्धमुख होकर या जूता पहनकर खाना आसुरी प्रकृति का लक्षण है। दिन की तरह रात्रि में भी लघु भोजन करे। और तामसी भोजन मन शरीर दोनों को विगाड़ता है।

आदौ वारि हरेत् पित्तं, मध्ये वारि कफापहम्।
अन्ते वारि पचेदन्नं सर्वं वार्य्यं मृतोपपम्॥ (भावप्रकाश में)

अर्थ=भोजन के प्रथम भाग में जलपान पित्तनाशक, मध्यभाग में जलपान कफनाशक और अन्त भाग में जलपान अन्नपाचक होता है। अतः सभी जलपान अमृत तुल्य है।

अपामार्ग की दातुन एवं प्रातः स्नानफल निर्णय—

अपामार्गे स्मृतिर्मेधाप्रज्ञा वाणी वपुर्धृतिः।
आयुः शीलं यशो लक्ष्मीः सौभाग्यञ्चोपजायते॥ (श्री नृसिंह पुराणे)

अर्थ=अपामार्ग (लहचिचरी) की दातून करने से स्मरण शक्ति मेधा वृद्धि, वाणी, शरीर, धैर्य आयु, शीलयश लक्ष्मी और सौभाग्य का उदय होता है।

प्रातः स्नान फलम्—

गुणादशस्नानपरस्य साधोरूपं च तेजश्चवलञ्चशौचम् ।
आयुष्यमारोग्यमलोलुपत्त्वम दुःस्वप्ननाशश्चयशश्चमेधा ॥

अर्थ=प्रातः सूर्योदय के पूर्व ब्राह्ममुहूर्त में स्नान-करने से दश प्रकार का लाभ है जो निम्नलिखित हैं—तेज, रूप, वल, पवित्रता, आयु, आरोग्य, लालच का न होना, दुःस्वप्न का नाश यश और वुद्धि।

कच्छहीन विप्र को दोष यज्ञादि में पादुकात्याज्य निर्णय—

कच्छमुक्तस्तु यो विप्रः पृथिव्यां पादतश्चरन् ।
पदेपदे सुरापानं प्रायश्चित्तं न विद्यते ॥

अर्थ=कच्छ मुक्त (विनालांगमारकर) अर्थात् तहमद, कच्छा आदि पहनकर जो विप्र चलते हैं इन्हें पग-पग पर सुरापान का पाप होता है उनके लिये कोई प्रायश्चित्त नहीं है।

अग्न्यागारे गवां गोष्ठे देवब्राह्मणसन्निधौ ।
आहारेजपकाले च पादुकानां बिसर्जनम् ॥ (अङ्गिरा)

अर्थ=यज्ञशाला, गोशाला, देवतागुरु एवं ब्राह्मण के समीप, यति के समीप, भोजन और जप करते समय पादुका को उतार देना चाहिये।

'निद्रायां ये गुणाः प्रोक्तास्तेगुणा नेत्रमीलने,

अर्थ=भोजनोत्तर निद्रा न लेकर केवल आँखें वन्द कर विश्राम करने से परिपाकादि में सुविधा हो सकती है।

सुई से सिला धोवी के घर का धुला वस्त्र शुभ कार्यादि में निषेध—

सूचीविद्धन्तु यद्वस्त्रं तथा च रचकाच्च्युतम् ।
परिधायनभोक्तव्यं भुक्त्वा चान्द्रायणं चरेत् ॥

अर्थ=सुई से सिला हुवा धोवी के घर से धुला हुवा वस्त्र इनको पहन कर भोजन (एवं कोई भी शुभ कार्य हो) न करे। करने पर चान्द्रायण करे। धोवी के घर का धोया वस्त्र पुनः धोकर पहने।

तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयोविभिन्ना नैको मुनिर्यस्य वचः प्रमाणम् ।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां महाजनो येन गतः सपन्थाः ॥

अर्थ=तर्क तो अप्रतिष्ठित हैं श्रुतियाँ अनेक हैं कोई एक मुनि ऐसा नहीं है जिसके वचन को प्रमाणित माना जाय धर्म का तत्त्व तो गुफावों में ही रखा है अतः महाजन (श्रेष्ठ पुरुष) जिस तरह व्यवहार करें वही रास्ता है। श्रेष्ठ पुरुष वही है जो श्रुति स्मृतियों का ज्ञाता हो तथा उसी के आधार पर चलता हो।

● १०—दसवा सदाचार धर्म प्रकरण समाप्त ●

दानधर्म प्रकरणम्

धर्म के तीन प्रधान अङ्ग हैं। यथा-यज्ञ, तप और दान। श्री गीतोपनिषद् में कहा है—

"यज्ञोदानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्"

अर्थ =इन तीन प्रकार के प्रधान धर्माङ्गों में दान धर्म सब प्रकार के अधिकारियों के लिये सबसे प्रथम और कलियुग में परम सहायक है।

भगवान् मनु जी ने स्मृति में भी ऐसा ही कहा है—

तपः परं कृतयुगे त्रेतायां ज्ञानमुच्यते।
द्वापरे यज्ञ मेवाहुर्दान मेकं कलौ युगे॥

अर्थ =सत्ययुग में तपोधर्म, त्रेतायुग में ज्ञानधर्म, द्वापर में यज्ञधर्म और कलियुग में केवल दानधर्म ही प्रधान माना गया है।

अपात्र तथा पात्र दान फल निर्णय—

अपात्रे ह्यपि यद्दत्तं दहत्या सप्तमं कुलम्।
हव्यंदेवा न गृह्णन्ति कव्यं च पितरस्तथा॥ (अत्रिसंहिता)

अर्थ =अपात्र में जो हव्य तथा कव्य दिया जाता है उसको देव तथा पितर नहीं ग्रहण करते वह दान सात कुल को जला देता है। (याने नष्ट कर देता है इससे दाता को देश काल पात्र का विचार करके दान देना चाहिये)।

नास्तिदानात्परं मित्र मिहलोके परत्र च।
अपात्रे किन्तु यद्दत्तं दहत्यासप्तमं कुलम्॥

अर्थ =इह लोक और परलोक में दान के समान परममित्र और कोई नहीं है, किन्तु अपात्र में दिया हुवा दान सात पुरुषपर्यन्त दुःखदायी होता है। अतः दान धर्म के साधक को सदा तीन गुणों के दानों के तीनों लक्षणों को स्मरण रख कर दान करना उचित है। और साथ ही यह भी स्मरण रखना उचित है कि, जिनके पास यथेष्ट धन है, वे व्यक्ति यदि कृपणता और नीचता के कारण दान न करें तो परलोक में उनको नरक भोगना और जन्मान्तर में दरिद्र होना पड़ेगा इसमें कोई भी सन्देह नहीं है। प्रत्येक क्रिया की प्रतिक्रिया अवश्य हुवा करती है, अतः कृपण को नरक एवं दरिद्रता अवश्य भोगनी होगी।

ऊषरे वापितं वीजं भिन्नभाण्डेषु गोदुहम्।
हुतं भस्मनि हव्यञ्च मूर्खे दानमशाश्वतम्॥

अर्थ =जिस प्रकार ऊषरभूमि में बोया हुवा वीज, भग्नपात्र में स्थित दुग्ध और भस्म में हवन किया हुवा धृत निष्फल होता है। इसलिये देशकाल और पात्र को विना विचारे दान नहीं करना चाहिये न करना अच्छा है क्योंकि ऐसा देश-काल पात्रों के विचार से रहित हो कर दान करने से स्वजाति और स्वदेश को कोई भी लाभ नहीं पहुँचता है और न अपनी धर्मोन्नति ही होती है। ऐसा दान सर्वथा निष्फल ही होता है। भारतवासी जब तक सात्त्विक दान एवं सत्य उपयोग की कमाई सत्कर्म याने स्वधर्म पालन करने का अभ्यास नहीं करेंगे,

तब तक भारत की उन्नति होना तो बहुत ही कठिन है, किन्तु उसके लिये आशा भी नहीं की जा सकती। आज भी अन्य देशों की अपेक्षा भारत वर्ष में बहुत ही अधिक दान होता है, पर तामसिक दान की संख्या अत्यन्त अधिक बढ गयी है, इसी पाप से भारत दिन दिन दुःखी होता हुवा गिरता जाता है। इसलिये भारत हितैषियों का इस समय देश, काल और पात्रों का विचार करके ही सामयिक उचित दान करना मुख्य कर्तव्य है।

अपात्रेदानम्—

विद्यातपोभ्यां हीनेन न तु ग्राह्यः प्रतिग्रहः।
गृह्णन्प्रदातारमधो न यत्यात्मानमेव च॥ (याज्ञवल्क्यस्मृतिः)

अर्थ=जो व्यक्ति विद्यासम्पन्न और तपस्वी न हो उसे दान नहीं लेना चाहिये और दाता को उसे दान नहीं देना चाहिये यदि ऐसा (विद्या और तपस्या से हीन) व्यक्ति दान लेता है तो वह अपने को और दाता को भी नरक में डालता है।

दातव्यं प्रत्यहं पात्रे निमित्तेषु विशेषतः।
याचितेनापि दातव्यं श्रद्धापूतं स्वशक्तितः॥

अर्थ=(शक्ति के अनुसार) प्रति दिन (गौ आदि) पात्र को दान देना चाहिये। (चन्द्र ग्रहण या सूर्य ग्रहण जैसे) अवसर पर विशेष रूप से दान देना चाहिये। याचना करने पर भी श्रद्धा के साथ यथा शक्ति पात्र को दान देना चाहिये।

गोदान एवं अन्नदाम का फल निर्णय—

दाताऽस्याः स्वर्गमाप्नोति वत्सरान्नोमसंमितान्।
कपिला चेत्तारयति भूयश्चासप्तमं कुलम्॥

अर्थ=जितने रोवें (गौ के शरीर में) होते हैं उतने वर्ष तक उस गौ का दाता स्वर्ग में वास करता है। और यदि वह गाय कपिला हो तो वह न, केवल दाता को अपितु उसकी सातवीं पीढी तक को तार देती है।

अन्नं प्रजापतिः साक्षादन्नं विष्णुः शिवः स्वयम्।
तस्मादन्नसमं दानं न भूतो न भविष्यति॥

अर्थ=अन्न हो साक्षात् ब्रह्मा है, अन्न साक्षात् विष्णु एवं शिवस्वरूप है, इसीलिये अन्न के समान न कोई दान हुवा है न होगा।

उत्तम गृहस्थ एवं उभय तो मुखी गौदान आदि का फल निर्णय—

पांच भागों में आय का विभाजन—

यः साधुभ्योऽर्थ मादाय साधुभ्यः संप्रयच्छति।
स कृत्वा प्लवमात्मानं तारयेत्तावुभावपि॥ (मनु)

अर्थ=जो व्यक्ति सज्जनों से (न्याय का) धन लेकर सत्पुरुषों (महात्मावों) को ही देता है वह संसार रूपी समुद्र से पार उतरने के लिये एक छोटी सी नवका वनाता है और अपने व, उन दोनों सज्जनों को भी साथ ही पार कर लेता है।

धर्मार्थं यशसेऽर्थाय कामाय स्वजनाय च ।
पंचधा विभजन् वित्तमिहामुत्र च मोदते ।। (भागवते एवं वालमीकियेर,)

अर्थ=सज्जनों को चाहिये कि वह अपने धन को पाञ्च भागों में विभाजन करें उसके वाद प्रथम भाग को धर्म में लगावे "सोधन धन्य प्रथमगति जाकी" साधुवों के आश्रम निर्माण सद्विद्यार्थियों की सहायता वापी कूप निर्माण मन्दिर मरम्मत साधु सेवा आदि धर्म कार्य हैं । द्वितीय भाग कीर्ति के लिये खर्च करे यज्ञ यज्ञादिक में तीसरा भाग अपनी निजी सेवा में लगावे, चौथा भाग कुटुम्व के लिये पाँचवाँ भाग आवश्यकता के लिये सुरक्षित रखे । ऐसा करने वाला यह लोक और परलोक में भी आनन्द भोग करता है ।

सानन्दं सदनं सुताश्चसुधियः कान्ताप्रिया लापिनी ।
सम्मित्रं सुधनं स्वयोषितिरतिः स्वाज्ञापराः सेवकाः ।।
आतिथ्यं सुर पूजनं प्रति दिनं मिष्ठान्न पानं गृहे ।
साधोः सङ्ग उपासना च सततंधन्यो गृहस्थाश्रमः ।।

अर्थ=आनन्द पूर्वक गृह में रहना, पुत्र बुद्धिमान् हो, स्त्री प्रिय बोलने वाली हो सच्चे मित्र और अच्छी कमायी का धन हो, केवल अपनी ही स्त्री से संभोग करने वाला, अपनी आज्ञा का पालन करने वाले सेवक हों, अतिथि सत्कार, सुरपूजन प्रतिदिन करता हो, मिष्ठान्न पान घर में हो साधुवों का समागम दिन प्रतिदिन होता हो, इस प्रकार के गृहस्था-श्रम को धन्य है । जिसका शास्त्रानुसार सव धर्म कर्म हो वही सद्गति लाभ करता है ।

उभय तो मुखी गौदानफलम्—

सवत्सारोम तुल्यानि युगान्युभयतो मुखीम् ।
दाताऽस्याः स्वर्गमाप्नोति पूर्वेण विधिना ददत् ।।

अर्थ=पूर्वोक्त विधि से उभय तो मुखी गाय का दान देने वाला व्यक्ति उतने युग तक स्वर्ग प्राप्त करता है जितने रोवें गौ और वछड़े के शरीर में मिलाकर होते हैं । व्याती हुयी गौ का दान को कहा है ।

गौदान के तुल्य फल रोगी थके विप्रादि के सेवा पूजन से—

श्रान्तसंवाहनं रोगीपरिचर्या सुरार्चनम् ।
पाद शौचं द्विजोच्छिष्टमार्जनं गोप्रदानवत् ।।

अर्थ=थके हुये के खेद को (आसन विस्तर आदि देकर) दूर करना रोगी की सेवा, देवतावों की (माला पुष्प आदि से) पूजा, द्विजों का पैर धोना और उन का जूठा साफ करना ये सभी कर्म गोदान के तुल्य होते हैं ।

भूमि वस्त्र जल कन्यादि के दान से दाता को स्वर्ग में सन्मान—

भूदीपांश्चान्नवस्त्राम्भस्तिलसर्पिः प्रतिश्रयान् ।
नैवेशिक स्वर्णधुर्यं दत्वास्वर्गे महीयते ।। (याज्ञवल्क्यः)

अर्थ=(उर्वरा) भूमि, दीपक, अन्न, वस्त्र, जल, तिल, घी, परदेशी को आश्रय स्थान् (गृहस्थाश्रम के लिये) कन्या, सोना और भार ढोने वाले बैल का दान देकर दाता स्वर्ग में सन्माननीय स्थान पाता है। देश काल वस्तु के अनुसार से दान।

दान का पात्र हो दान न ले उसका फल महान् है—

प्रतिग्रहसमर्थोऽपि नादत्ते यः प्रतिग्रहम् ।
ये लोका दान शीलानां सतानाप्नोति पुष्कलान् ।।

अर्थ=जो व्यक्ति दान लेने का पात्र होते हुये भी दान नहीं लेता वह उन सभी लोकों को प्राप्त कर लेता है जो लोक दान देने वाले को मिलते हैं।

निषिद्ध कार्यों की शुद्धि का उपाय—

अकार्यकारिणां दानं वेगो नद्याश्च शुद्धिकृत् ।
शोध्यस्य मृच्च तोय च संन्यासो वै द्विजन्मनाम् ।।
तपोवेदविदां क्षान्तिर्विदुषां वर्ष्मणो जलम् ।
जपः प्रच्छन्न पापानां मनसः सत्यमुच्यते ।।
भूतात्मनस्तपोविद्ये बुद्धेर्ज्ञानं विशोधनम् ।
क्षेत्रज्ञस्येश्चरज्ञानाद्विशुद्धिः परमा मता ।।

अर्थ=निषिद्ध कार्य करने वालों की शुद्धि का कारण दान होता है नदियों की शुद्धि करनेवाला उनका प्रवाह वेग होता है, अशुद्ध वस्तु को मिट्टी और जल से द्विजातियों की संन्यास से वेद जानने वालों की तप (वेदाभ्यास) से विद्वानों की ज्ञान से शरीर की जल से गुप्त पापों की शुद्धि जप से होती है और मन की शुद्धि का कारण सत्य वताया गया है। भूतात्मा की शुद्धि का कारण तप और विद्या है तथा बुद्धि को शुद्ध करने वाला ज्ञान है। क्षेत्रज्ञ (अर्थात् तप और ब्रह्म विद्या द्वारा विशुद्धि) की शुद्धि ईश्वर के ज्ञान से वतायी गयी है।

एक पैसे का दान एवं यथा शक्ति शुद्ध भाव से देने पर दाता को मोक्ष—

अथैका ताम्रमुद्रापि सुगुप्त शुद्धभावतः ।
दीयते चेत्सापि दातुः साक्षान्मोक्षाय कल्पते ।।

अर्थ=यदि एक ताम्र मुद्रा भी (एवं यथाशक्ति) गुप्त रूप से शुद्ध सात्विक भाव से दान में दी जाती है तो वह भी देने वाले को साक्षात् मोक्ष को भेजने वाली होती है।

धर्मस्य प्रथमः पादः सत्यम तच्छ्रुतेर्वचः ।
द्वितीयस्तु तथा शौचं दया पादस्तृतीयकः ।।
दानं पदश्चतुर्थश्च पुराणज्ञा वदन्ति वै ।
तैर्विहीनः कथं धर्मस्तिष्ठेदिह सुसंमत्तः ।। (देवी भागवते)

अर्थ=वेदों का कथन है कि धर्म का प्रथम चरण सत्य, दूसरा चरण पवित्रता, तीसरा चरण दया और चतुर्थ चरण दान है। पुराणों के विद्वान् भी यही कहते हैं। इन चारों चरणों के बिना धर्म कैसे टिक सकता है।

सत्य से पर ब्रह्मादि की प्राप्ति असत्य से दोष—

सत्यमेकपदं ब्रह्म सत्ये धर्मः प्रतिष्ठितः।
सत्यमेवाक्षया वेदाः सत्येना वाप्यते परम् ॥
(श्रीमद् वाल्मीकीय रामायणे)

अर्थ=सत्य ही प्रणव रूप शब्द ब्रह्म, सत्य में ही धर्म प्रतिष्ठित है,सत्य ही अविनाशी वेद है और सत्य से ही पर ब्रह्म की प्राप्ति होती है।

प्रतिश्रुत्य करिष्येति उक्तं वाक्यमकुर्वतः।
इष्टापूर्तवधो भूयात् तस्माद् रामं विसर्जय ॥

अर्थ="मैं अमुक कार्य करूँगा,—ऐसी प्रतिज्ञा करके भी जो उस वचन का पालन नहीं करता, उसके यज्ञ-यागादि इष्ट तथा बावली-तालाव बनवाने आदिपूर्त कर्मों के पुण्य का नाश हो जाता है, अतः आप श्रीराम को विश्वामित्र जी के साथ भेज दीजिये। (वसिष्ठ जी ने राजा दशरथ से कहा)

चलकर दान देने का फल निर्णय—

अभिगम्य कृतेदानं त्रेतास्वाहूय दीयते।
द्वापरे याचमानाय सेवया दीयते कलौ ॥ (पाराशरस्मृतिः)

अर्थ=सत्युग में गुरु-ब्राह्मणादि के पास जाकर दान किया जाता था। त्रेता में प्रति गृहीता को स्वयं बुला कर द्वापर में माँगने पर दान दिया जाता था, किन्तु कलियुग में तो माँगने पर भी कोई उसे दान नहीं देता कलि में उसी को दान दिया जाता है जो दाता की सेवा करे। उसका फल क्या होता है—

अभिगम्योत्तमं दानमाहूयैव मध्यमम्।
अधमं याचमानाय सेवादानं तु निष्फलम् ॥

अर्थ=उपर्युक्त दान के निमित्त भेद होने से क्रमानुसार फल भेद भी होता है, जैसे जो दान सत्पात्र के घर स्वयं जाकर दिया जाता है वह दान उत्तम है। पात्र को अपने घर बुला कर जो दान दिया जाता है वह मध्यम। माँगने पर जो दान दिया जावे वह अधम दान है किन्तु जोदान सेवा की दृष्टि से दिया जाता है उस दान का कोई फल नहीं होगा।

दान धर्म में शीघ्रता ब्राह्मण वृत्ति अपहरण में दोष—

राम जी एक कंकण जिसे अगस्त्य जी ने दिया था वह लव को दे दिया तव लव ने अगस्त्य जी को प्रणाम करके कहा हे मुनिराज यह कंकण आप को कहाँ मिला था लव का प्रश्न सुनकर अगस्त्य कहने लगे दण्ड कारण्य में एक सरोवर पर स्नान करने गया स्नान-नित्यकर्म आदि कर लेने पर इसी वीच एक स्वर्गीय प्राणी विमान पर आरूढ होकर वहाँ आया उस स्वर्गी के आते ही सरोवर से एक दुर्गन्धपूर्ण शव निकल कर तट पर आ लगा स्वर्गीय प्राणी विमान से उतर कर उस शव के मांस को खाया जल पिया और अपने विमान पर जा वैठा शव फिर डूव गया स्वर्गी के पास पहुँचकर मैंने उससे कहा तुम्हारे इस कार्य को देखकर मुझे वडा कौतूहल हुवा है स्वर्गीय प्राणी हो कर तुम मुर्दा क्यों खाते हो हे ब्रह्मन् सुनो

मैं सब बात बतलाता हूँ विदर्भ देश के राजा थे उनके श्वेत और सुरथ नाम के दो पुत्र थे श्वेत मैं था और राज्य भी मेरे ही हाथों में था मैंने कोई दान नहीं किया था पाप कर्म में रत रहा मेरे कोई सन्तति नहीं थी (पुत्री या पुत्र) छोटे भाई को राज्य देकर जंगल में जाकर तपस्या करने लगा स्नान करने के लिये एक सरोवर में डुबकी लगायी वहीं डूबकर मर गया तपस्या के प्रभाव से मैं स्वर्ग लोक में पहुँचा वहाँ सब चीजें तो थीं लेकिन खाने के लिये कुछ नहीं था हे देवेन्द्र यहाँ खाने के लिये कुछ भी नहीं दीखता मेरी बात को सुनकर इन्द्र ने कहा तुमने राज्मद वश पृथ्वी पर कोई दान नहीं दिया विना दिये कुछ भी नहीं मिलता इसलिये तुम प्रतिदिन विमान से जाकर उस मिष्ठान्न से परि पुष्ट अपने शरीर को खा आया करो इस प्रकार इन्द्र की बात सुन कर मैंने कहा यह बतलाइये कि मुझे स्वर्गीय अन्न किस तरह प्राप्त होंगे मेरी बात सुन कर इन्द्र ने उत्तर दिया जब विन्ध पर्वत की वृद्धि रोकने के लिये काशी छोड़ कर अगस्त्य जी दण्डकारण्य को जाँय तब तुम उसी सरोवर में स्नान करके अपना कंकण उन ऋषि को दे देना उस कंकण के दान से तुम्हें स्वर्गीय अन्न मिलने लगेगा बहुत दिनों से आकर यह शव खाया करता हूँ यहाँ मुझे कोई नहीं दिखायी पड़ा आज तुम्हीं दीख रहे हो इससे ज्ञात होता है कि तुम अगस्त्य ऋषि ही हो आज तुमने मेरा उद्धार कर दिया अब कृपा कर के मेरे दान को स्वीकार करो अगस्त्य जी ने कहा कि इस तरह कह कर उस स्वर्गीय प्राणी ने अपने कंकण उतारकर हमें दे दिये और प्रसन्न मन से विमान पर सवार हो कर स्वर्गलोक को चला गया तब से वह शव उस सरोवर में कभी नहीं उतराया और वह स्वर्गी स्वर्ग लोक में दिव्य अन्नों को पाने लगा और राम ने आज आप को दे डाला है।

द्वारपालों ने राम को यह खबर दी कि रामनाथपुर के ब्राह्मण आये हैं दूत की बात सुन कर स्वयं राम तुरन्त उठे और उन लोगों के पास जाकर प्रणाम किया उन्हें ले गये घर बुला कर आसन पर बिठाकर उनसे स्नान-भोजन करने के लिये कहा सबों ने मंत्रणा करके निश्चय किया कि भोजन करने के पहले ही हम लोग अपनी माँग उपस्थित कर दें उनमें से कुछ ने कहा कि इतनी जल्दी क्या है राम कभी याचकों की उपेक्षा नहीं करते इन राम का यही व्रत है कि ब्राह्मणों की माँगें पूर्ण किया करें। राम ने कहा कि हम आप लोगों की इच्छा को जान गये हैं। आप लोग राज्य की इच्छा से मेरे पास आये हैं। आप इतना परिश्रम क्यों किया, आप अपने किसी शिष्य को ही भेज दिये होते तो मैं क्षणभर में आपकी इच्छा पूर्ण कर देता। इस तरह उन ब्राह्मणों से कह कर राम ने लक्ष्मण से कहा कि आज मैंने ब्रह्मपुर का राज्य ब्राह्मणों को दान दे डाला है। एक शिलापर मेरा नाम लिखवा दो कि मैंने ब्राह्मणों को ब्रह्मपुर का राज्य दान दे दिया है लक्ष्मण ने कहा "बहुत अच्छा" तब उन विप्रों ने राम से कहा कि आप पहले भोजन कर लीजिये, तब शिला लेख लिखवाइयेगा। हे राम पात्रों में सामग्रियाँ परोसी जा चुकी हैं और हम लोग भी भूखे हैं। उनकी बात सुनी तो राम ने फल मँगवा कर उनके सामने रखवा दिये और कहा—हे विप्रगण आप लोग यह फल खाइये हम तो शिला लिखवा कर और उस पर अपनी मुहर अंकित कर देने के बाद ही भोजन करेंगे।

क्षणं वित्तं क्षणं चित्तं क्षणिकं च स्वजीवितम्।
यमोऽतिनिर्घृणः सोऽस्ति धर्मं शीघ्रमतश्चरेत्॥

शतं विहाय भोक्तव्यं सहस्रं स्नानमचरेत् ।
लक्षं त्यक्त्वा तु दातव्यं कोटिं त्यक्त्वा शिवं भजेत्
कोटि विघ्नानि गीतायां दशकोटीनि जाह्नवीम् ।
शतकोटीनि जायन्ते दाने विघ्नानि भूसुराः ॥
अतः कार्या त्वरा दाने सर्वदा तु नरोत्तमैः ।
निद्रायाः पूर्वकाले तु निद्रायाः परतस्तथा ॥
भोजनात्पूर्वकाले तु भोजनात्परतस्तथा ।
क्षणे क्षणे मतिर्भिन्ना जायतेऽत्र द्विजोत्तमाः ॥
तस्मात्कार्या त्वरा दाने मतिर्या प्रथमे क्षणे ।
कृता क्षणेनापरे साऽस्त्येतदेव मतं मम ॥ (आनन्दरामायणे)

अर्थ=धन क्षणस्थायी है, चित्तवृत्ति क्षणिक है, अपना जीवन भी क्षणभंगुर है और यमराज वढा निर्दयी है। इसलिये जितने शीघ्र हो सके, धार्मिक काम पूर्ण कर डाले। सौकाम सामने हों तो उन्हें त्याग कर पहले भोजन करना चाहिये, सहस्र कामों को त्यागकर पहले स्नान करना चाहिये, लाख कामों को त्याग करके पहले दान करना चाहिये एवं करोड़ों कामों को छोड़कर पहले शिव का भजन करना चाहिये। हे विप्रों गीता का पाठ करते समय करोड़ विघ्न, गंगास्नान में दश करोड़ विघ्न और दानकर्म में सौ करोड़ विघ्न आकर उपस्थित होते हैं। इसलिये सज्जनों को चाहिये कि दान में सर्वदा शीघ्रता करें। निद्रा के पूर्वकाल में, निद्रा से उठने के बाद भोजन के पहले और भोजन के बाद क्षण-क्षण में बुद्धि वदला करती है। इसीलिये प्रथम क्षण में जैसी अपनी बुद्धि हो गयी हो, उसके अनुसार दान कर्म शीघ्र कर डालना चाहिये। यह मेरा निजी मत है।

स्वदत्तां परदत्तां वा ब्रह्मवृत्तिं हरेच्चयः ।
षष्ठि वर्ष सहस्राणि विष्ठायां जायते कृमिः ॥ (श्रीमद्भागवते)

अर्थ=जो मनुष्य अपना अथवा दूसरे के द्वारा दी हुवी ब्राह्मण की वृत्ति अपहरण करता है वह दिव्य साठ हजार वर्षो तक विष्ठा का कीड़ा वन कर पाप भोगता है।

राम ने ब्राह्मणों संन्यासियों के आश्रमों पर जा कर बहुत साधन दिया—

बर्षाशनप्रदानैश्च गृहोपस्करसंयुतैः ।
उपानत्पादुकाभिश्च यतेश्चापि तपस्विनः ॥
योग्यैः पट्टदुकूलैश्च मृदुलैश्चित्रकम्वलैः ।
दण्डैः कमण्डलुयुतैरजिनैर्मृगसम्भवैः ॥
कोपीनैरुच्चमंचैश्च परिचारककाञ्च नैः ।
मठैर्विद्यार्थिनामन्नैरतिथ्यर्थं महाधनैः ॥ (आनन्दरामायणे)

अर्थ=श्री रामचन्द्र ने एक वर्ष के खाने को अन्नदान तथा गृहस्थी की सामग्री देकर प्रसन्न किया। विप्रों को उपानह तथा संन्यासी यतियों और तपस्वियों को खड़ाऊँ उनके योग्य कोमल रेशमी वस्त्र, कम्वल, दण्ड-कमण्डलु, चित्र-विचित्र मृगचर्म, कौपीन, ऊँचे-ऊँचे खटोले (तखत) सेवक, मठ, उसकी रक्षा के लिये तथा विद्यार्थी और अतिथि सत्कार के लिये सुवर्ण तथा वहुत साधन देकर संतुष्ट किया।

अन्त का साथी धर्म ही होता है—

एक एव सुहृद्धर्मोनिधनेऽप्यनुयाति यः।
शरीरेणसमंनाशं सर्वमन्यद्धिगच्छति ॥

अर्थ=एक धर्म ही ऐसा मित्र है जो मरने पर भी साथ जाता है। और अन्य पदार्थ शरीर के साथ नष्ट हो जाते हैं।

एह्येहीति तमाहुतयः सुवर्चसः सूर्यस्य रश्मिभिर्यजमानं वहन्ति।
प्रियां वाचमभिवदन्त्योऽर्च्चयन्त्य एष वः पुण्यः सुकृतो ब्रह्मलोकः ॥
(मुण्डक उपनिषद् में)

इति तृतीयः परिच्छेदः समाप्तः

अर्थ=यज्ञ फल से दिव्य लोक के अधिकारी मनुष्य को ज्योतिष्मती आहुतिगण मृत्युकाल में सम्मुख आकर (आवो-आवो) कह कर पुकारती हैं और सूर्य—रश्मिद्वारा उन्हें दिव्य लोक को ले जाती हैं, उनको मधुर वचन से पुकारती और अर्चन भी करती हैं, यही पुण्यात्मा पुरुष का दिव्य लोक गमन् है।

● ११— ग्यारहवां दानधर्म प्रकरण एवं तृतीय परिच्छेद समाप्त ●

सनातन धर्म मार्तण्ड:

चतुर्थ: परिच्छेद:

स्त्री शूद्रादि प्रकरणम्

स्त्री शूद्र को पुराणादि पाठ से दोष सुनने से फल—

स्त्रीशूद्रादेः स्वतः पौराणमन्त्रपाठेऽपि नाधिकारः।
अत एव शूद्रः सुखमवाप्नुयात् इत्यत्रभाष्ये स्त्री शूद्रयोः
श्रवणादेव फलं न तु पाठादित्युक्तम्।
एतेन स्त्री शूद्रयो र्गीता विष्णु सहस्रनाम पाठो दोषायैवेति ज्ञेयम्।
क्वचित्पौराण मन्त्र युक्त पूजायां स्त्रीशूद्रयोः स्वतोप्यधिकार उक्तः।
जपहोमादौ विप्रद्वारैव। (धर्म सिन्धुः)

अर्थ=स्त्री और शूद्र आदि को स्वयं पुराण के मन्त्रों को भी पढने का अधिकार नहीं है। इसीलिये भाष्यकार ने—स्त्री शूद्र को सुनने से ही फल मिलता है न कि पाठ करने से ऐसा कहा है। इससे स्त्री और शूद्र को गीता और विष्णु सहस्र नाम का पाठ करना भी दोष ही के लिये होता है। कहीं पुराण के मन्त्रों से युक्त पूजा में स्त्री और शूद्र का स्वयं भी अधिकार कहा है। जप और होमादि तो ब्राह्मण के द्वारा ही होता है। आचार्य ब्राह्मण ही हो सक्ता है।

म्लेच्छादीनां तु ब्राह्मणद्वारापि समन्त्रकपूजायां नाधिकारः।
किन्तु तैस्तत्तदुपचाराणां देवी मुद्दिश्य मनसोत्सर्गमात्रं वा कर्तव्यम्।

अर्थ=म्लेच्छ आदि को तो ब्राह्मण के द्वारा भी जप होम मन्त्र सहित पूजा में अधिकार नहीं है। किन्तु उन लोगों को देवी के उद्देश्य से उन-उन उपचारों का मन से केवल उत्सर्गमात्र कर्तव्य है। अछूत वर्ग को जो फल दूर से हाथ जोड़कर प्रणाम से मिलता है ओ फल ब्राह्मण को षोडश प्रकार के पूजन से मिलता है।

स्त्री शूद्र आदि को प्राण प्रतिष्ठा निषेध है—

स्त्रीणामनुपनीतानांशूद्राणां च जनेश्वर।
स्थापने नाधिकारोऽस्ति विष्णोर्वाशङ्करस्य वा॥ (वृहन्नारदीय)

अर्थ=हे राजन् स्त्रियों को असंस्कृतों को तथा शूद्रों को विष्णु तथा शिव मूर्ति के स्थापन में अधिकार नहीं होता है जो करते हैं वो दोष के भागी होते हैं।

यः शूद्रः संस्कृतं लिङ्गं विष्णुंवाऽपि नमेन्नरः ।
इहैवानन्त दुःखानि पश्यत्यामुष्मि के किमु ॥

अर्थ=जो व्यक्ति शूद्र से संस्कृत (संस्कार) किये हुये शिव लिङ्ग तथा विष्णु को नमस्कार करता है। वह इसी जगत् में अपार दुःख देखता है। परलोक की कोई बात नहीं। स्वयं भी दुःख भोगता भविष्य में ।

अथ पुनः प्रतिष्ठा —तामधि कृत्य हयशीर्षपञ्चरात्रे—

चाण्डालमद्यसंस्पर्श दूषिता वह्निनाऽथवा ।
अपुण्यजनसंस्पृष्टा विप्रक्षतजदूषिता ॥ संस्कार्येतिशेषः ।

अर्थ=इसके बाद फिर से प्रतिष्ठा का कारण कहते हैं। उस प्रतिष्ठा का प्रारम्भ कर हयशीर्षपञ्च रात्र में कहा है कि चाण्डाल तथा मद्य (मदिरा) स्पर्श की हुयी अग्नि से दूषित, अपुण्य (पुण्यहीन) मनुष्य से संस्पृष्ट तथा विप्र के रुधिर से दूषित हो तो फिर से संस्कार करे ऐसा शेष है। विशेष विस्तार निर्णय सिन्धु आदि में देखें अपुण्य में मनुष्य पशु पक्षी आदि के योनि में बहुत हैं।

स्त्री शूद्रादि को हवन करना निषेध है—

नाश्रोत्रियतते यज्ञे ग्रामयाजिकुले तथा ।
स्त्रियाक्लीवेन च हुते भुञ्जीत ब्राह्मणः क्वचित् ॥ (मनुस्मृतिः)

अर्थ=जिस यज्ञ में वैदिक ब्राह्मणों का अभाव हो और मूर्ख पुरोहित अन्य मनुष्यों द्वारा किया गया हो—जिस यज्ञ में स्त्री या नपुंसक ने हवन किया हो उस यज्ञ में ब्राह्मण कदापि भोजन न करें।

अश्लीकमेतत्साधूनां यत्र जुह्वत्यमी हविः ।
प्रतीपमेतद्देवानां तस्मात्तत्परिवर्जयेत् ॥

अर्थ=इस प्रकार पूर्वोक्त याजक स्त्रियाँ आदि जिस यज्ञ में हवन करते हैं वह सज्जनों का अमङ्गलकारी तथा देवतावों के प्रतिकूल होता है। इसलिये ऐसा होम न करना चाहिये।

न वै कन्या न युवतिर्नाल्पविद्यो न वालिशः ।
होता स्यादग्निहोत्रस्य नार्तो नासंस्कृतस्तथा ॥

अर्थ=कन्या, युवा, स्त्री, थोड़े पढे लिखे मूर्ख, पीडित, और जिनका यज्ञोपवीतादि नहीं हुवा है वे अग्नि होत्र के (होता) हवनीय कार्य को न करें।

नरके हि पतन्त्येते जुह्वन्तः स च यस्य तत् ।
तस्माद्वैता न कुशलोहोतास्याद्वेद पारगः ॥

अर्थ=यदि ये लोग हवन करें तो नरक में जाते हैं और जिसके द्वारा कराते हैं वह भी नरक में जाता है। इसलिये जो वैदिक कृत्यों में कुशल और वेद का पारङ्गत हो उसी को होता होना चाहिये।

दक्षिणार्थं तु यो विप्रः शूद्रस्य जुहुयाद् हविः ।
ब्राह्मणस्तु भवेच्छूद्रः शूद्रस्तु ब्राह्मणो भवेत् ।। (पाराशरस्मृतिः)

अर्थ=शूद्र के यज्ञ में जो ब्राह्मण शूद्र द्वारा पाचित खीर अग्नि में हवन करता है तो दक्षिणा लोलुप ऐसा ब्राह्मण शूद्रत्व को प्राप्त होता है और वह शूद्र ब्राह्मणत्व प्राप्त कर लेता है।

वैवाहिको विधिः स्त्रीणां संस्कारो वैदिकः स्मृतः ।
पतिसेवा गुरौ वासो गृहार्थोऽग्निपरिक्रिया ।। (मनुस्मृतिः)

अर्थ=स्त्रियों का वैदिक संस्कार विवाह विधि ही है स्त्रियों के लिये पति की सेवा ही गुरुकुल का वास है और घर का काम धंधा ही नित्य का हवन पूजन है।

स्त्री शूद्रादि को केशव शिव के स्पर्श में विचार—

शूद्रो वा ऽनुपनीतो वा स्त्रियो वा पतितोऽपि वा ।
केशवं वा शिवं वापि स्पृष्ट्वा नरकमश्नुते ।। (स्कन्दपुराण)

अर्थ=शूद्र, तथा जिसका उपनयन संस्कार नहीं हुवा है, स्त्री और पतित ये लोग केशव या शिव का स्पर्श करते हैं तो नरक प्राप्त करते हैं।

ब्राह्मण्यपि हरं विष्णुं न स्पृशेच्छ्रेय इच्छती ।
सनाथा मृतनाथा वा तस्या नास्ती ह निष्कृतिः ।।

अर्थ=श्रेय (कल्याण) की इच्छा करने वाली ब्राह्मणी भी शंकर और विष्णु का स्पर्श न करे। जो सनाथा (सधवा) तथा मृतनाथा (विधवा) हो उसका निस्तार नहीं होता है।

स्पर्शरहितावु तयोर्भवत्येव,

अर्थ=विना स्पर्श किये पूजा विष्णु एवं शंकर की कर सकते हैं।

शालग्रामं न स्पृशेत हीनवर्णो वसुन्धरे ।
स्त्रीशूद्र कर संस्पर्शो वज्रस्पर्शाधिको मतः ।। (वाराह पुराणे)

अर्थ=हे वसुन्धरे, हीन वर्णवाला व्यक्ति शालग्राम का स्पर्श न करे। स्त्री और शूद्र के हाथ से शालग्राम स्पर्श वज्र से भी अधिक कष्ट दायक होता है।

मोहाद्यः संस्पृशेच्छूद्रो योषिद्वापि कदाचन ।
स्वपते नरके घोरे यावदाभूतसं प्लवम् ।।

अर्थ=जो मोह से शूद्र या कदाचित् स्त्री भी शालग्राम का स्पर्श करे तो प्रलय पर्यन्त घोर नरक में गिरती है। यदि स्त्रियों को भक्ति हो तो दूर से ही विना स्पर्श के सावधान मन से पूजा करें।

पार्थिव पूजन में स्त्री शूद्रादि को भी अधिकार है—

वरमिष्टंलभेल्लिङ्गं पार्थिवं यः समर्चयेत् ।
तस्मात्तु पार्थिवं लिङ्गं ज्ञेयं सर्वार्थ साधकम् ।। (नन्दिपुराणे)

अर्थ=जो पार्थिव लिंग की पूजा करता है वह आयु, बल, लक्ष्मी, पुत्र, धन, सुख और इच्छित फल को प्राप्त करता है। इसलिये ही सब अर्थों का साधक पार्थिव लिंग को जानना चाहिये।

शिवपुराण में लिखा है—जपने व भस्म लगाने की विधि स्त्री शूद्रादि को—

शिवाय नमः, इस मन्त्र से एवं श्री शिवाय नमः। से, प्रणव(ॐ) के उच्चारण से इन लोगों की अधो गति होगी।

इस राम रक्षा मन्त्र में स्त्री शूद्रादि सभी का अधिकार है—

एतानि रामनामानि प्रातरुत्थाय यः पठेत् ॥
अपुत्रो लभतेपुत्रं धनार्थी लभते धनम् ॥
माता रामो मत्पिता रामचन्द्रः स्वामी रामो मत्सखा रामचन्द्रः।
सर्वस्वं मे रामचन्द्रो दयालुर्नान्यं जाने नैव जाने न जाने ॥
श्रीरामनामामृतमन्त्र बीजसंजीवनी चेन्मनसि प्रविष्टा।
हलाहलं वा प्रलयानलं वा मृत्योर्मुखं वा विशतां कुतोभीः ॥
श्रीशब्दपूर्वं जयशब्दमध्यं जयद्वयेनापि पुनः प्रयुक्तम्।
त्रिः सप्तकृत्वो रघुनाथनाम जपन्निहन्याद्द्विजकोटि हत्याः ॥
(आनन्दरामायणे)

अर्थ=जो प्राणी सवरे उठकर इन नामों का पाठ करता है, वह यदि अपुत्र हो तो उसे पुत्र मिलता है और धन की इच्छा रखने वाला हो तो धन मिलता है। राम ही मेरे पिता हैं। राम ही माता हैं, वे ही मेरे स्वामी और सखा हैं। दयालु श्री रामचन्द्र जी ही मेरे सर्वस्य हैं। उन्हें छोड़कर मैं और किसी को नहीं जानता किसी को नहीं जानता। जिसके हृदय में रामनामा मृतमन्त्र रूपिणी संजीवनी विद्यमान है वह हलाहल, प्रलयानल अथवा मृत्यु के मुख में भी क्यों न कूद जाय, उसको कहीं भी भय नहीं है। पहले श्री शब्द, बाद में रामनाम, फिर जय शब्द, फिर रामनाम फिर दो बार जय शब्द, जोड़कर (अर्थात् श्रीराम जय राम जय जय राम) इक्कीस बार जप करने वाला प्राणी करोड़ों ब्रह्महत्यावों जैसे महान् पातकों को भी नष्ट कर देता है।

"श्री" इस एक अक्षर को सब प्रकार के मन्त्रों में लगाया जा सकता है—

शेषमेकमक्षरं श्रीरिति सर्वत्र विष्णुना।
नवखण्डेषु तत्त्यक्तं तत्सर्वत्र न्योजयत् ॥
नानानामसु मंत्रेषु न तस्य नियमः कृतः।
विभज्येति महाविष्णुरदृश्यमगमत्तदा ॥

अर्थ=शेष "श्री" इस एक अक्षर को विष्णु ने नवो खण्डों के लिये छोड़ दिया। यह सब प्रकार के मन्त्रों में लगाया जा सकता है इसका कोई नियम नहीं है। (एक करोड़ मन्त्र वाल्मीकि ने लिखा था उस को देवतावों ने वैकुण्ठ लोक में जाकर विष्णुभगवान् को समर्पित किया उस को विष्णुभगवान ने सभी लोकों में अधिकारानुसार देव गान्धर्व मनु-

ष्यादिकों के कल्याणार्थ विभाजन कर दिया) इस प्रकार विभाजन करने के वाद विष्णुभगवान् अदृश्य हो गये।

स्त्री शूद्र आदि के लिये राम मन्त्र से श्रेष्ठ और कोई मन्त्र नहीं है—

एवं वरेण रामस्य रामा नार्यत्र कथ्यते।
तासामपि मनुश्चायं स्मृतो रामेति द्व्यक्षरः॥
नान्यो मन्त्रोऽस्ति नारीणां शूद्राणां चापि भो द्विज।
सर्वेभ्यो मन्त्रवर्येभ्यो रामस्यायं मनुर्वरः॥

अर्थ=रामचन्द्र जी के वरदान से ही स्त्रियाँ रामा कहलाती हैं उन लोगों के लिये भी 'राम' यह दो अक्षरों का मंत्र वतलाया गया है। स्त्रियों और शूद्रों के लिये इस के सिवाय और कोई मन्त्र नहीं है। सव मन्त्रों में यह राममन्त्र सर्व श्रेष्ठ है।

स्त्री शूद्रादि को गायत्री और ॐ का उच्चारण निषेध है—

सावित्रीं प्रणवं यजुर्लक्ष्मीं स्त्रीशूद्राय नेच्छन्ति,
सावित्रीं लक्ष्मीं यजुः प्रणवं यदि जानीयात्स्त्रीशूद्रः
स मृतोऽधो गच्छति तस्मात्सर्वदा नाचष्टे यद्याचष्टे स
आचार्यस्तेनैव मृतोऽधो गच्छति॥

(नृसिंहपूर्वतापनीयोपनिषत्)

अर्थ=गायत्री प्रणव (ॐ) यजुर्वेद तथा लक्ष्मी गायत्री जो यजुर्वेद में है वे शूद्र एवं स्त्री के अधिकार में नहीं हैं यदि इन को जानने की चेष्टा स्त्री शूद्रादि करेंगे तो अन्धे हो कर मृत्यु को प्राप्त होंगे अतएव कदापि स्त्रीशूद्रों को न देवे यदि कोई आचार्य विद्वान् देता है तो वह भी अधोगति को प्राप्त होगा।

• १२—बारहवाँ स्त्री शूद्रादि प्रकरण समाप्त •

गुरु दीक्षा प्रकरणम्

गुरुदीक्षा की परम्परा देवादिकों में भी है—

सनातन काल से गुरुदीक्षा की रीति इस पवित्र भूमि में है। शास्त्रों में ऐसा कथित है कि जैसा पाषाण पर वीज वोने से वीज अंकुरित नहीं होता है वैसे ही विना गुरुदीक्षा के साधन करने से कदाचित् आध्यात्मिक उन्नति नहीं हो सकती है। शास्त्र में दो प्रकार के गुरु लिखे हैं यथा शिक्षा गुरु और दीक्षा गुरु। माता, पिता, आचार्य्यादि जो कोई संसारिक ज्ञान की वृद्धि करने में सहायता करें वे शिक्षा गुरु हैं, एक कीट से लेकर समस्त ब्रह्माण्ड ही शिक्षा गुरु हो सकता है। परन्तु दीक्षागुरु वे ही हो सकते हैं कि जिन्होंने जीव की व्याकुलता देख कृपाकर आत्मोन्नति का पथ उसको दिखाया हो।

महादेव जी ने श्री पार्वती जी से कहा था कि—

कलि में गुरु बहुत होंगे एवं गुरु शब्द का अर्थ—

'गुरवो बहवः सन्ति शिष्य वित्तापहारकाः ।
दुर्ल्लभस्सद्गुरुर्देवि' शिष्यसन्तापहारकः ।।

अर्थ = हे देवि । कलियुग में शिष्य का धन हरण करने वाले गुरु बहुत होंगे परन्तु शिष्य के सन्तापहारीगुरु दुर्ल्लभ होंगे । अब वर्तमान अवस्था कुछ भी हो परन्तु यह निश्चय है कि यदि शिष्य अपने आप को उप युक्त कर ले और त्रिताप के नाश करने की इच्छा उसमें प्रवल हुवी हो तो निःसन्देह उसको सद्गुरु के दर्शन होंगे ।

गुरु शब्द का अर्थ व्याख्या सहित गुरुगीता तथा पुराणादि शास्त्रों में लिखा है—

'गु' शब्दस्त्वन्धकारः स्याद् 'रु' शब्दस्तन्निरोधकः ।
अन्धकार निरोधित्वाद् गुरुरित्यभिधी यते ।।
गुकारः प्रथमो वर्णो मायादिगुणभासकः ।
रुकारो द्वितीयो ब्रह्म मायाभ्रान्तिविमोचकः ।।
गकारः सिद्धिदः प्रोक्तो रेफः पापस्य दाहकः ।
उकारः शम्भुरित्युक्तस्त्रितयात्मा गुरुः स्मृतः ।।

अर्थ = गु शब्द का अर्थ अन्धकार और रु शब्द का अर्थ तमका नाशकर्ता है । इस कारण जो अज्ञान रूप अन्धकार को नाश करते हैं वे ही गुरु-शब्द वाच्य है । गुरु इस शब्द के प्रथम वर्ण 'गु' से माया आदि गुण प्रकाशित होता है और द्वितीय वर्ण रु से मायाजनित भ्रान्ति के नाशकारी अद्वितीय ब्रह्म का वोध होता है । इस कारण 'गु' शब्द सगुण को और 'रु' शब्द निर्गुण अवस्था को प्रतिपन्न करके गुरु शब्द वना है । 'ग' कार का अर्थ सिद्धिदाता 'र' कार का अर्थ पापहर्ता और 'उ' कार का अर्थ शिव है अर्थात् सिद्धिदाता शिव और पाप-हर्ता शिव ऐसा अर्थ ग, उ, र, उ वोधक शब्द से समझना उचित है । निष्कर्ष यह हुवा जिस महापुरुष की कृपा से अज्ञानान्ध जोव को ज्ञाननेत्र प्राप्त होकर जन्म-मरण-चक्र से जीवका निस्तार हो जाता है, वे ही गुरु हैं । अनादि अध्यास से उत्पन्नभव रोग की चिर निवृत्ति के लिये भवरोग वैद्य श्रीगुरुदेव की आवश्यकता होती है ।

यथा मुण्डकोपनिषद् में लिखा है कि—

श्रोत्रियब्रह्म निष्ठ गुरु के पास जाकर शिक्षा दीक्षा ले—

"तद्विज्ञानार्थं गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ।"

श्वेताश्वतर में भी लिखा है कि :—

"यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ।।
तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्व दर्शिनः ।। (श्रीमद्भगवद्गीता)

अर्थ = ब्रह्मज्ञान प्राप्ति के लिये समिधा हाथ में लेकर श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु के पास

जाना चाहिये। गुरुभक्ति के विना ज्ञान प्राप्त नहीं होता है जैसे देवता में भक्ति वैसे गुरु में भी होनी चाहिये। इसलिये तत्व को जाननेवाले ज्ञानी पुरुषों से, भली प्रकार दण्डवत् प्रणाम तथा सेवा और निष्कपट भाव से किये हुये प्रश्न द्वारा तत्त्व दर्शी गुरु से ज्ञान प्राप्त करना चाहिये।

गुरु तथा भगवान् में श्रद्धा वाला विरला शिष्य या भक्त कोई होगा—

पशूनां नखरोमादि सर्वमर्थाय कल्पते।
मृतस्य नरदेहस्य सृष्टिर्दोषावहोदिता॥
एकमेवामुना साध्यं ज्ञानं यत्स्वस्वरूपदम्।
तद्विना तु पशुभ्यश्च नरो हीनतरो मतः॥
प्रतिभावान्पुण्यतमः श्रद्धावान् गर्वधोक्षजे।
कोटिष्वेकः स्वयं साक्षान्नरो नारायणो भवेत्॥ (आनन्दरामायणे)

अर्थ=मृत पशुवों के नख-लोम आदि सव पदार्थ काम आ जाते हैं, किन्तु मनुष्य के मर जाने पर यह मालूम होता है कि विधाता ने इसकी सृष्टि करके वड़ा भारी अपराध किया है। इस शरीर से आत्मा का स्वरूप पहचानने की साधना की जा सकती है। यदि यह काम नहीं किया तो वह मनुष्य पशु से भी हीन माना जायगा। करोड़ों मनुष्यों में कहीं कोई एक मनुष्य पवित्र गुरु तथा भगवान् में श्रद्धा रखने वाला होता है। जो ऐसा होता है, वह साक्षात् नारायण ही है।

ब्रह्मणो महिमा श्रुत्या कीर्तितो व्यासतः स्वयम्।
तद्रामेति गुरोर्ज्ञेयं नान्यथा गन्थकोटिभिः॥
मुंडकेऽपिपरा विद्या विषयो ब्रह्म ब्रह्मणः।
सृष्टिश्चानेकदृष्टांतैरुक्ता तस्मिंश्च संस्थिता॥ (आनन्दरामायणे)

अर्थ=श्रुति ने स्वयं विस्तार पूर्वक ब्रह्म की महिमा का गान किया है। इसलिये जिज्ञासु को चाहिये कि वह गुरु से राम का ज्ञान प्राप्त करे। वैसे करोड़ों ग्रन्थ पढने से भी उनका सच्चा ज्ञान नहीं प्राप्त हो सकता। मुण्डक उपनिषद् में कहा गया है कि ब्रह्म और ब्रह्म का विषय जानने के लिये गुरु प्रधान हैं। उक्त उपनिषद् ने अनेक दृष्टान्तों से सृष्टि का वर्णन किया है।

इसलिये ही श्री गुरु की स्तुति में उनको भव रोग वैद्य कहा है यथा—

आनन्दमानन्दकरं प्रसन्नं ज्ञानस्वरूपं निजवोधरूपम्।
योगीन्द्रमीड्यं भवरोगवैद्यं श्रीमद्गुरुं नित्यमहं नमामि॥

अर्थ=आनन्दरूप, आनन्दकारी, अध्यात्म, प्रसादयुक्त, ज्ञानस्वरूप, निजवोधरूप, योगेश्वर, पूजार्ह और भवरोग वैद्य श्रीगुरुदेव को नित्य प्रणाम करता हूँ।

शास्त्र में गुरु की स्तुति करते समय गुरु को परमात्मा कहा है—

ज्ञानानन्दं भवमय हरं केवलं ज्ञानमूर्तिम्।
द्वन्द्वातीतं गगन सदृशं तत्त्वमस्यादि लक्ष्यम्॥
एकं नित्यं विमलमचलं सर्वदा साक्षि भूतम्।
भावातीतं त्रिगुण रहितं सद्गुरुं तं नमामि॥

अर्थ=जिनका आनन्द ज्ञान में ही है, जो संसारभय के दूर करने वाले और केवल ज्ञानमूर्ति हैं, द्वन्द्व से अतीत, आकाशवत् निर्लिप्त और विभु, तत्त्वमसि आदि महावाक्य के लक्ष्यीभूत, अद्वितीय, नित्य, अविद्यादि मलदोषरहित, परिणामहीन, जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति अवस्था के सदा ही साक्षी रूप भावातीत और गुणरहित सद्गुरु को प्रणाम करता हूँ। इस स्तुति में सारे विशेषण परमात्मा के वाचक हैं। अतः गुरु को परमात्मा का रूप वर्णन करने का क्या रहस्य है सो बताया जाता है।

अविद्या ही जब संसार में जीव का बन्धन-कारण है और ज्ञान सत्ता के द्वारा अविद्या नाश होकर जीव को मुक्ति और स्वरूप स्थिति प्राप्त हो सकती है तो यह निश्चय है कि गुरु-भाव के साथ ज्ञान सत्ता का समवाय सम्बन्ध है, गुरु रक्त, मांस अथवा स्थूल शरीर का नाम नहीं है परन्तु गुरुज्ञानाधिकरण का नाम है। जब ज्ञानाधिकरण का नाम ही गुरु है तो अपरिच्छिन्न ज्ञान ही जिनका स्वरूप है वे ही आदि गुरु और सबके गुरु होंगे।

"तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्"
"(स एव) पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्"। (पातञ्जलि योगदर्शन)

अर्थ=ईश्वर में असीम सर्वज्ञता का बीज है और काल से अपरिच्छिन्न होने के कारण ईश्वर समस्त ऋषि, महर्षि तथा ब्रह्मादि के भी गुरु हैं, क्योंकि ईश्वर से अतिरिक्त वे सभी काल के द्वारा परिच्छिन्न हैं।

पितासि लोकस्य चराचरस्य,
त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान् ।। (श्रीमद्भगवद्गीता)

अर्थ=परमात्मा चराचर विश्व के पिता, पूज्य गुरु और सकल गुरुवों के भी गुरु हैं।

अहं गुरुर्महाबाहो मनः शिष्यञ्च विद्धिमे।
त्वत्प्रीत्या गुह्य मेतच्च कथितं ते धनञ्जय ।। (महाभारत-अनुगीता)

अर्थ=क्षेत्रज्ञ (परमात्मा) ही गुरु हूँ और मन मेरे द्वारा पहचानने योग्य होने से मेरा शिष्य है, यही गुरु-शिष्य का गूढ रहस्य है।

गुरु के अपमान से दोष सेवादि से फल—

आचार्यं मां विजानीयान्नावमन्येत कर्हिचित्।
न मर्त्यं बुद्ध्यासूयेत सर्वदेवमयो गुरुः ।। (श्रीमद्भागवते)

अर्थ=संसार में गुरु मेरा ही स्वरूप ऐसा जानकर कभी अपमान नहीं करना चाहिये मनुष्य भावना से उनके प्रति असूया दर्शन नहीं करना चाहिये क्योंकि गुरु सर्वदेव मय है।

अहं गुरुरहं देवो मन्त्रार्थोऽहं न संशयः।
भेदका नरकंयान्ति नानाशास्त्रार्थवर्जिताः ।। (रुद्रयामल में)

अर्थ=मैं (परमात्मा) ही गुरु और देवता हूँ और मैं ही मन्त्रार्थ हूँ परमात्मा, गुरु और मन्त्र में भेदबुद्धि रखने वाला शास्त्रमर्मज्ञान हीन मनुष्य नरक में जाता है। (गुरु को मनुष्य देवमूर्तियों को पाषाण मन्त्रों को अक्षर समझने वाले नरक जाते हैं)

गुरुः पिता गुरुर्माता गुरुर्देवो गुरुर्गतिः ।
शिवेरुष्टे गुरुस्त्राता गुरौ रुष्टे न कश्चन ।।

अर्थ=गुरु ही पिता हैं, गुरु ही माता हैं, गुरु ही देव तथागति हैं। शिव के रुष्ट होने पर गुरु रक्षाकर सकते हैं किन्तु गुरु के रुष्ट हो जाने पर कोई नहीं रक्षा कर सकता है।

गुरु चरणोदक प्रसाद भक्षण पूजादि का फल निर्णय—

गुरोः पादोदकं यस्तु नित्यं पिवति मानुषः ।
धर्मार्थकाममोक्षाणामधियो जायते च सः ।।

अर्थ=जो शिष्य नित्य गुरुपादोदक पान करता है धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष उसके अनायास ही सिद्ध हो जाते हैं।

गुरोरन्नं महादेवि यस्तु भक्षणमाचरेत् ।
कोटि जन्मार्जितं पापं तत्क्षणात्तस्य नश्यति ।।

अर्थ=गुरुदेव का प्रसाद भक्षण करने से कोटि जन्म का पाप कट जाता है। शास्त्र में गुरुभक्ति और गुरुसेवा का असीम फल वर्णन किया है।

सर्वदेवात्मकश्चासौ सर्वमन्त्रमयो गुरुः ।
तस्मात्सर्वप्रयत्ने तस्याज्ञां शिरसा वहेत् ।। (शिवपुराणे)

अर्थ=यह गुरु सर्वदेवतात्मक और मन्त्रमय हैं; इस कारण सर्व प्रयत्न से गुरु की आज्ञा शिर पर धारण करे।

श्रेयोऽर्थी यदि गुर्वाज्ञां मनसापि न लंघयेत् ।
गुर्वाज्ञापालको यस्माज्ज्ञानसंपत्तिमश्नुते ।।

अर्थ=कल्याण की इच्छा करने वाला जो गुरु की आज्ञा को शिर से उल्लंघन नहीं करता और गुरु की आज्ञा का पालन करता है, वह ज्ञान सम्पत्ति को पाता है।

गच्छंस्तिष्ठन्स्वपन्भुंजन्नान्यत्कर्म समाचरेत् ।
समक्ष यदि कुर्वीत सर्वं चानुज्ञया गुरोः ।।

अर्थ=चलते स्थित होते सोते भोजन करते तथा दूसरे कर्माचरण करने में सर्व कार्य गुरु की आज्ञा से करना चाहिये।

गुरोर्गृहे समक्षं वा न यथेष्ठासनो भवेत् ।
गुरुर्देवा यतः साक्षात्तद्गृहं देवमंदिरम् ।।

अर्थ=गुरु के घर (एवं आश्रम पर) व उनके सन्मुख यथेष्ठ (ऊँचा) आसन पर न वैठे गुरु साक्षात् देवता हैं उनका घर (व आश्रम) देव मन्दिर है।

गुरुभक्तेः परं नास्ति भक्तिशास्त्रेषु सर्वतः ।
गुरुपूजां विना नाथ कोटिपुण्यं वृथा भवेत् ।। (रुद्रयामल में)

अर्थ=भक्ति शास्त्र में गुरुभक्ति से उत्तम कुछ नहीं वताया गया है। गुरु पूजा के विना कोटि पुण्य भी वृथा होता है।

दीक्षा ग्रहण की आवश्यकता—

अदीक्षितानं मर्त्यानां दोषं शृण्वन्तु साधकाः।
अन्नं विष्ठासमं ज्ञेयं जलं मूत्रसमं तथा ॥ (यामलतन्त्रे)
अदीक्षितकृतं श्राद्धं श्राद्धं चादीक्षितस्य च।
गृहीत्वा पितरस्तस्य नरके चाशु दारुणे ॥
पतन्त्येव न सन्देहो यावदिन्द्राश्चतुर्दश।
तथाप्यदीक्षितस्यार्चां देवा गृह्णन्ति नैव हि ॥

अर्थ=इस भूमण्डल पर जो दीक्षा नहीं लिये हैं उनके दोप को वताया जा रहा है अन्नविष्ठा के समान, जल मूत्र के समान, तथा अदीक्षित द्वारा की गयी श्राद्ध को ग्रहण करके निश्चय ही उनके पितर कठोर नरक में जाते ।इसमें कोई सन्देह नहीं है जव तक कि चौदह इन्द्र का राज्य भोग न समाप्त हो जाय। तथा अदीक्षित द्वारा की गयी पूजा को देवता भी नहीं ग्रहण करते हैं।

दीक्षा लेने की विधि और निषेध निर्णय—

ताराकल्प में वताया कि किन से दीक्षा न लें किनसे लें उसका विचार निर्णय—

पितुर्दीक्षा यतेर्दीक्षा दीक्षा च वनवासिनः।
अनाश्रमिण वा दीक्षा सा दीक्षा दुःखदायिनी ॥

अर्थ=पिता से गायत्री मन्त्र की दीक्षा यतियों से संन्यास की वानप्रस्थी से वानप्रस्थ की तथा अनाश्रमियों के द्वारा दीक्षा दी गयी दीक्षा दुःखदायिनी होती है। सद्गृहस्थ से भी दीक्षा का विधान है। (वर्णगुरु ब्राह्मण क्षत्री, वैश्य, शूद्रादि के और आश्रम गुरु-संन्यासी ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यासादि के दण्डी गुरु) दण्ड रहित यतियों से दीक्षा का विधान नहीं है। दण्डी पूज्य एवं आचार्य कोटि के होते हैं। आश्रम की गुरु परम्परा नष्ट हो चुकी है गुरुवों में भी लोलुपता आ गयी है। शिष्य भी उन्हें कुछ हेय ही देखता है। जो धर्म के प्रतिकूल है। अतः शिष्य नाई, धोवी के समान गुरुवों को समझते हैं। गुरु के लक्ष्य को आज सव छोड़ चुके हैं। अतः योग्य गुरु ही शिष्य को मोक्षमार्ग दर्शित करने में समर्थ होते हैं। स्त्री शूद्रादि अनाश्रमियों से दीक्षा लेना महान दोष है।

अनाश्रमी कौन उनका निर्णय—

शाक्यैः पाशुपतैरपि क्षपणकैः कापालिकैर्वैष्णवै।
रप्यन्यैर खिलैः खलैः खलु खिलं दुर्वादिभिर्वैदिकम् ॥
पन्थानं परिरक्षितुं क्षितितलं प्राप्तः परिक्रीडते।
घोरे संसृतिकानने विचरतां भद्रंकरः शंकरः ॥

अर्थ='शाक्य (वौद्ध), पाशुपत, जैन, कापालिक, वैष्णव, तथा अन्य दुष्ट तार्किकों से जव वैदिक मार्ग उच्छिन्न किया जा रहा था इस मार्ग की रक्षा करने के लिये, संसार रूपी घोर कानून में विचरण करने वाले पुरुषों के कल्याण के लिये भगवान् शंकर ने इस पृथ्वी तल पर अवतार धारण किया तथा अपनी लीलावों का विस्तार किया। समस्त वाममार्गियों

को परास्त करके सनातन धर्म की पुनः स्थापना की है । (कबीर पन्थी, दादू पन्थी, सत्सार्यी सतनामी, आरसमाजी नानकशाही, उदासी आदि किसी भी पन्थ के हों इनसे शिक्षा दीक्षा का विधान नहीं है, यदि इनसे शिक्षा दीक्षा लेते हैं तो उन मनुष्यों को नरकादि की प्राप्ति होती है) ।

गुरु की सेवा तन धन मन इत्यादि के द्वारा एवं अपनी उन्नति आदि के हेतु झूठ बोलना दोष—

तोषयेत्तं प्रयत्नेन भाव शुद्धिसमन्वितः ।
वाचा च मनसा चैव कायेन द्रविणे न च ।। (शिवपुराणे)

अर्थ=गुरु को वाणी के द्वारा, मन के द्वारा, शरीर तथा धन के द्वारा सात्विक भाव से प्रयत्न पूर्वक प्रसन्न करना चाहिये ।

अनृतं च समुत्कर्षे राजगामि च पैशुनम् ।
गुरोश्चालीकनिर्बन्धः समानि ब्रह्महत्यया ।। (मनुः)
गोवधोऽयाज्यसंयाज्य पारदार्यात्मविक्रयाः ।
गुरुमातृ पितृत्यागः स्वाध्यायाग्न्योः सुतस्य च ।।

अर्थ=अपनी उन्नति के लिये झूठ बोलना, राजा की चुंगुली करना गुरु से असत्य बोलना ये सब ब्रह्महत्या के समान हैं । गोवध जातिकर्म से च्युत के यहाँ यज्ञ कराना, पर स्त्री गमन अपने को बेचने वाला, गुरु, माता, पिता का त्याग करने वाला वेद न पढना, स्मार्त अग्नि का त्याग, पुत्रों का भरण न करना ये सब उपपातक हैं ।

गुरुभक्ति विहीनायतपोविद्या व्रतं कुलम् ।
निष्फलं हि महेशानि केवलं लोकरञ्जनम् ।। (चिदम्बर रहस्य में)

अर्थ=गुरु भक्ति विहीन व्यक्ति के लिये, तप, विद्या, व्रत, कुल ये सब निष्फल हैं वह केवल संसार में आनन्द लेने के लिये हैं ।

कृते विश्वगुरुर्ब्रह्मा त्रेतायामृषिसत्तमः ।
द्वापरे व्यास एव स्यात् कलावत्र भवाम्यहम् ।। (शंकराचार्य)

अर्थ=सत्य युग में संसार के गुरु थे स्वयं ब्रह्मा, त्रेता में थे ऋषि सत्तम, द्वापर में थे व्यास जी और कलियुग में स्वयं मैं (शंकराचार्य हूँ) ।

अष्टावक्र जी एवं गुरुगीता में भी गुरु त्यागने का विषय है उसका निर्णय—

ज्ञानहीन मिथ्यावादी गुरु को त्यागे एवं गुरु के साथ तुकार शब्द का फल निर्णय—

ज्ञानहीनो गुरुस्त्याज्यो मिथ्यावादी विडम्बकः ।
स्व विश्रांतिं न जानाति परशान्तिं करोति किम् ।।

अर्थ=जो गुरु ज्ञान से हीन हो, मिथ्यावादी हो विडम्बी हो, उसका त्याग कर देना चाहिये । क्योंकि जब वह अपना ही कल्याण नहीं कर सकता है, तो शिष्यों का कल्याण क्या करेगा । ऐसे मूर्ख अज्ञानी गुरु के त्याग में बहुत से शास्त्रोक्त प्रमाण हैं । उनसे आत्मकल्याण नहीं हो सकेगा यदि शिष्य कल्याण चाहता है तो त्याग दे एवं शिष्य भी उसी लक्षण का हो तो विचार कर त्यागे योग्य शिष्य अयोग्य गुरु को त्याग सकता है अयोग्य शिष्य नहीं ।

गुरुं हुंकृत्य तुंकृत्य विप्रं निर्जित्य वादतः ।
अरण्ये निर्जले देशे भवति ब्रह्मराक्षसः ॥ (पराशर जी)

अर्थ=गुरु के साथ अपमान जनक हुंकार तुंकार से बोलने पर तथा ब्राह्मण को उसी प्रकार से वाद में परास्त करने पर ब्रह्मचारी एवं शिष्य को जल हीन जङ्गल में ब्रह्मराक्षस योनि को प्राप्त करनी पड़ती है।

एकमप्यक्षरं यस्तु गुरुः शिष्ये नियोजयेत् ।
पृथिव्यां नास्ति तद् द्रव्यं यद् दत्वाऽप्यनृणी भवेत् ॥ (हारीत महर्षि)

अर्थ=जो एक भी अक्षर गुरु शिष्य को प्रदान करते हैं पृथ्वी में ऐसा कोई धन नहीं है, जिसको देकर शिष्य उस ऋण से उऋण हो सकता है। तथापिलौकिक विधि के अनुसार सेवा।

सद्गुरु एवं सत् शिष्य लक्षण-शास्त्रों में कहा है—

सर्वशास्त्रपरो दक्षः सर्व शास्त्रार्थ वित्सदा ।
सुवचाः सुन्दरः स्वङ्गः कुलीनः शुभदर्शनः ॥
जितेन्द्रियः सत्यवादी ब्राह्मणः शान्तमानसः ।
पितृमातृहिते युक्तः सर्वकर्मपरायणः ॥
आश्रमी देशवासी च गुरुरेवं विधौ यते ।
पञ्चतत्त्वविभेदज्ञः पञ्चभेदान् विशेषतः ॥
सगुणोपासनां यस्तु सम्यग्जानाति कोविदः ।
चतुष्टयेन भेदेन ब्रह्मणः समुपासनाम् ॥
गभीरार्था विजानीते बुधो निर्मलमानसः ।
सर्वकार्येषु निपुणो जीवन्मुक्तस्त्रितापहृत् ॥
करोति जीवकल्याणं गुरुः श्रेष्ठः स कथ्यते ।

अर्थ=सर्व शास्त्रों में पारङ्गत, चतुर, सम्पूर्ण शास्त्रों के तत्त्ववेत्ता और मधुर वाक्य भाषण करने वाले हों, सर्व अङ्ग जिनके पूर्ण और सुन्दर (अधिक या कम न) हों, कुलीन अर्थात् सत्कुलोत्पन्न हों, ब्राह्मण वर्ण हों, शान्त मानस अर्थात् जिनका मन कभी चञ्चल नहीं होता हो, माता पिता के समान हित करने वाले हों, सम्पूर्ण कर्मो में अनुष्ठान शील हों और गृहस्थ वानप्रस्थ, ब्रह्मचारी तथा संन्यासी इन आश्रमों में से (दण्डधारी संन्यासी सब के पूज्य हैं) किसी आश्रम के हों, एवं भारतवर्ष के निवासी हों। इस प्रकार के सर्वगुण-सम्पन्न महात्मा गुरु करने योग्य कहे गये हैं। पञ्चतत्व के अनुसार जो महापुरुष विष्णोपासना सूर्योपासना शक्त्युपासना, गणेशोपासना और शिवोपासना रूप पञ्च सगुण उपासनावों के पूर्ण रहस्यों को समझते हों और जो योगिराज मन्त्र योग हठयोग, लययोग राजयोग इन चारों के अनुसार चतुर्विध निर्गुणोपासना को जानते हों ऐसे ज्ञानी, निर्मल मानस सर्व कार्य में निपुण, त्रितापरहित जीवों का कल्याण करनेवाले जीवन्मुक्त महात्मा श्रेष्ठ गुरु कहलाते हैं (श्रेष्ठ गुरुवों के ये ही सब लक्षण हैं यदि ब्रह्मचारी सद्गृहस्थ वानप्रस्थ तथा संन्यासी दण्डी इनमें से किसी से भी दीक्षा हो सकती है योग्यता होने पर इन चारों के अतिरिक्त सब अनाश्रमी एवं मतावलम्वी हैं अनाश्रमियों से तो योग्यता एवं ब्राह्मण होने पर भी विधि नहीं है दोष है)।

नमोऽन्तं वा नमःपूर्वमातुरः सर्वदा जपेत् ।
तत्र स्त्रीणां तथैवोह्य गुर्रुनिर्दशंयेत्क्रमात् ।। (शिव पुराणे)

अर्थ=आतुर पुरुष नमः चाहे अन्त में लगाकर जप करें गुरु को उचित है कि स्त्री और शूद्र को प्रणव (ॐ) रहित मन्त्र का उपदेश करें। ॐ नमः शिवाय, इस मन्त्र से ब्राह्मण, क्षत्री, और वैश्य को जपने व भस्म लगाने की विधि है।

शिवायनमः, इस मन्त्र से स्त्री शूद्रादि को जपने व भस्म लगाने की विधि है प्रणव (ॐ) के उच्चारण से इन लोगों की अधो गति होगी आचार्य को भी अधो गति की प्राप्ति होगी आवश्य जो इन लोगों का उपदशक होगा। (खाली ॐ) का उच्चारण करने से ब्राह्मण, क्षत्री और वैश्य को भी हानिकर है किसी मन्त्र में लगा कर जपें)

सत्शिष्य लक्षण यथा—

अलुब्धः स्थिरगात्रश्च आज्ञाकारी जितेन्द्रियः ।
आस्तिको दृढभक्तश्च गुरौ मन्त्रे च दैवत ।।
एवंविधो भवेच्छिष्य इतरो दुःख कृद्गुरोः ।

अर्थ=लोभ रहित, स्थिरगात्र अर्थात् जिसका अङ्ग चञ्चल न हो, गुरु का आज्ञा कारी, जितेन्द्रिय, आस्तिक और गुरु मन्त्र एवं देवना में जिसकी दृढ भक्ति हो, ऐसा शिष्य दीक्षा का अधिकारी है और इन गुणों से विरुद्ध गुण रखनेवाला शिष्य गुरु को दुःख देने वाला जानना चाहिये।

● १३—तेरहवाँ गुरुदीक्षा प्रकरण समाप्त ●

ऋषि देवता पितृ तत्त्व प्रकरणम्

मन्दिरादि निर्माण का फल निर्णय—

यश्चद्वारस्यपुरतः कुलान्यष्टोत्तराणितु ।
तारयेदात्मना सार्धंदेवो मन्दिरकारकः ।।

अर्थ=जो व्यक्ति अपने दरवाजे के सामने देवमन्दिर का निर्माण करवाता है वह अपने साथ आठ कुलों को तारने वाला होता है।

गुरु शिष्यादि के बीच से न जाय एवं पुण्यादि किये की प्रशंसा न करे—

हलयोः खरयोश्चैव दम्पत्योर्गुरुशिष्ययोः ।
तयोरन्तरा न कर्तव्या हन्ति पुण्यं पुरा कृतम् ।।

अर्थ= दो हलों के दो गधों के पति पत्नी के तथा गुरु शिष्य के बीच से नहीं जाना चाहिये नहीं तो पहले का किया हुवा भी पुण्य नष्ट हो जाता है।

गतं न शोचामिकृतं न मन्ये खादन्न गच्छामि हसन्न जल्पे ।
द्वाभ्यां तृतीयो न भवामि राजन् किं कारणं भोज भवामि मूर्खः ।।

अर्थ=बीती हुवी सो बात को नहीं शोचता हूं किये हुये की प्रशंसा नहीं करता हूं खाते हुये नहीं जाता हूं हँसते हुये नहीं बोलता हूं दो आदमियों के बीच में नहीं जाता हूं हे राजा भोज किस कारण से मैं मूर्ख हूं। (राजा ऐसी भूल किये थे उसको समझ गये)

यति आश्रम एवं कूप आदि निर्माण का फल निर्णय—

कर्तारश्च तथा ये च यतीनामाश्रमस्य च।
अनाथमण्डपानां तु क्रीडंति च गृहो दरे॥ (शिवपुराणे)

अर्थ=जो व्यक्ति यतियों के आश्रम को, तथा अनाथों के लिये मण्डप बनवाते हैं वे देव लोक में आनन्द पूर्वक निवास करते हैं।

कूप निर्माण का फल—

अर्द्धं पापस्य हरति पुरुषस्यविकर्मणः।
कूपः प्रवृत्तपानीयः सुप्रवृत्तस्यनित्यशः॥
सर्वंतारयतेवंशं यस्यखाते जलाशये।
गावःपिवन्ति विप्राश्चसाधवश्च नरास्सदा॥
तडागकृद्वृक्ष रोपीचेष्ट यज्ञश्चयोद्विजः।
एतेस्वर्गान्निहीयंते पश्चान्ये सत्यवादिनः॥

अर्थ=जो व्यक्ति कूप निर्माण की योजना बनाता है उसका आधा पाप दूर हो जाता है यदि पानी निकल आता है और उस निर्माण में वह प्रवृत्त रहता है तो उस कूप में स्नान करने से सम्पूर्ण कुल तर जाता है, तथा उसका जल गौ, विप्र, साधु, तथा मनुष्य पीते हैं तो उसे निश्चय ही स्वर्ग मिलता है और अन्य भी सत्यवादी होते हैं।

असंस्कृत जल कूप इत्यादि का निषेध है—

सदा जलं पवित्रं स्यादपवित्रमसंस्कृतम्।
कुशाग्रेणापि राजेन्द्र न स्पृष्टव्यमसंस्कृतम्॥
वापीकूपतडागादौ यज्जलंस्यादसंस्कृतम्।
नस्पृष्टव्यं न पेयं च पीत्वा चान्द्रायणं चरेत्॥ (धर्म सिंधुः)

अर्थ=जल सदा शुद्ध होता है असंस्कृत जल अपवित्र माना गया है। असंस्कृत जल को कुश के अग्रभाग से स्पर्श नहीं करना चाहिये बावली कुवाँ तालाब, आदि के अपवित्र एवं असंस्कृत जल को न तो स्पर्श करे न तो पीवे न स्नान करे, यदि करता है तो वह चान्द्रायण व्रत करे तब शुद्ध होवे किसी को भी पीनादि नहीं चाहिये।

गन्दा एवं अन्त्यजशूद्रादि के कूप का जल निषेध है—

तृणपर्णोत्करयुतं कलुषं विष संयुतम्।
योऽवगाहेत वर्षासु पिवेद्वापि नवं जलम्॥ (धन्वन्तरिः)

अर्थ=जिस कूप या तालाब के जल में तिनका या पत्ता आदि गिरा हो कलुष याने सड़ा हो जल में तथा विष मिला हुवा हो उस जल में स्नान करने से रोगादि का भय पुनः नया जल पीना चाहिये उसको निकाल के।

अन्त्यजैः खानिताः कूपास्तडागानि तथैवच ।
एषुस्नात्वा च पीत्वा च पञ्चगव्येन शुद्धयति ॥ (यमः वचनम्)

अर्थ=अन्त्यज (निम्न) जातियों द्वारा खुदवाये गये, कूप तालाव आदि के जल में स्नान करने तथा पीने से वह पञ्चगव्य के द्वारा शुद्ध होता है ।;

स्नानमाचमनं दानं देवता पितृतर्पणम् ।
शूद्रोदकैर्न कुर्वीत तथा मेघाद्विनिःसृतैः ॥ (बृहस्पति वचनम्)

अर्थ=स्नान, आचमन, दान, देवता पितृ का तर्पण ये शूद्र के कूप जल से नहीं करने चाहिये तथा मेघ से निकले हुये जल से भी उक्त कार्य का निषेध दश दिन तक है ।

प्रधान देवादिकों की श्रेणी का निर्णय—

यथा दैवीमीमांसादर्शन में लिखा है कि :—

"चित्सतप्राधान्याद्देवदेव्यौ"

अर्थ=देवतावों में चित् सत्ता की प्रधानता और देवियों में सत् सत्ता को प्रधानता रहती है ।

प्रत्येक ब्रह्माण्ड के नायक ब्रह्मा—विष्णु महेश रूपी त्रिमूर्ति ही उक्त ब्रह्माण्ड के सगुण ईश्वर हैं, इस कारण ये तीनों, देवता होने पर भी, अन्यान्य देवतावों की श्रेणी में इन की गणना नहीं हो सकती प्रधान देवता तैंतीस हैं । यथा—आठ वसु, द्वादशादित्य, एकादश रुद्र और इन्द्र प्रजापति । यथा :—

यजुर्वेद (अ० १४ म० २०) में भी लिखा है कि :—

"वसवो देवताः रुद्रा देवताः, आदित्या देवताः त्रयस्त्रिशाः सुराः" ।

आदि कह कर तैंतीस देवतावों का वर्णन किया गया है । इन के नाम महाभारत में लिखे हैं—

भगोंऽशश्चार्यमा चैव मित्रोऽथ वरुणस्तथा ।
सविता चैव धाता च विवस्वांश्च महाबलः ॥
त्वष्टा पूषा तथैवेन्द्रो द्वादशो विष्णुरुच्यते ।
इत्येते द्वादशादित्याः कश्यपस्यात्मसम्भवाः ॥

अर्थ=भग, अंश, अर्यमा, मित्र, वरुण, सविता, धाता, विवस्वान्, त्वष्टा, पूषा, इन्द्र और विष्णु—ये द्वादश आदित्य हैं ।

वसुवों के नाम महाभारत में लिखे हैं—

धरो ध्रुवश्च सोमश्च विष्णुश्चैवानिलोऽनलः ।
प्रत्यूषश्च प्रभासश्च वसवोऽष्टौ क्रमात् स्मृताः ॥

अर्थ=धर, ध्रुव, सोम, विष्णु, अनिल, अनल, प्रत्यूप और प्रभास ये अष्ट वसु हैं ।

एकादश रुद्र के नाम श्री मद्भागवत में लिखा है ।

अजैकपादहिर्ब्रध्नो विरूपाक्षः सुरेश्वरः ।
जयन्तो बहुरूपश्च त्र्यम्बकोऽप्यपराजितः ॥
वैवस्वतश्च सावित्रो हरो रुद्र इमे स्मृताः ॥

अर्थ=अजैक पाद, अहि व्रध्न, विरूपाक्ष, सुरेश्वर, जयन्त, वहुरूप, त्र्यम्वक, अपराजित वैवस्वत, सावित्र, और हर ये एकादश रुद्र हैं। ये ही तेंतीस देवता प्रत्येक व्रह्माण्ड के रक्षक रूप प्रधान देवता हैं। इनके अधीन अनेक देवता हैं; वे सव देवता सात श्रेणी और चार वर्ण में विभक्त हैं। इनके चार वर्ण का विस्तार—महाभारत में लिखा है—

ब्राह्मणादि चारवर्ण देवतावों में भी हैं—

आदित्याः क्षत्रियास्तेषां विशश्च मरुतस्तथा।
अश्विनौतु स्मृतो शूद्रौ तपस्युग्रे समास्थितौ॥
स्मृतास्त्वङ्गिरसो देवा ब्राह्मणा इति निश्चयः।
इत्येतत् सर्वदेवानां चातुर्वर्ण्यं प्रकीर्त्तितम्" ॥

अर्थ=आदित्यगण क्षत्रिय देवता, मरुद्गण वैश्य देवता, अश्विनीगण शूद्र देवता और आङ्गिरस देवतागण ब्राह्मण देवता इस प्रकार से देवतावों के चार वर्ण हैं। वर्णधर्म तथा सृष्टि स्थिति प्रलय तत्व नामक ग्रन्थ में है। वेद में भी है। वेदादि शास्त्रों में देवतावों की संख्या तथा स्वरूप के विषय में अनेक वर्णन मिलते हैं पुण्य क्षीण का प्रमाण वेद और शास्त्रों में यथा—छान्दोग्योपनिषद् में भी लिखा है कि :—

चन्द्र लोकादि से पुण्यक्षीण की पुनरावृत्ति कैसे होती है—

"तस्मिन् यावत्सम्पातमुषित्वाऽथैत मेवाध्वानंपुनर्निवर्त्तन्ते यथैतमाकाश माकाशाद् वायुं वायुर्भूत्वा धूमो भवति धूमो भूत्वाभ्रंभवति।
अभ्रं भूत्वा मेघो भवति मेघो भूत्वा प्रवर्षति त इह व्रीहि यवा ओषधिवनस्पतयस्तिलमाषा इति जायन्तेऽतो वै खलु दुर्निष्प्रपतरं यो यो ह्यन्नमत्ति यो रेतः सिञ्चति तद्भूय एव भवति" ॥

अर्थ=चन्द्रलोक में पुण्य कर्म का भोग जब तक समाप्त न हो तब तक जीव की स्थिति वहाँ रहती है। तदनन्तर जिस पथ से चन्द्रलोक में गति हुवी थी उसी पथ से जीव लौट आता है। उसका शरीर आकाश से वायु वायु से धूम, धूम से, मेघ, मेघ से वृष्टि, वृष्टि, से व्रीहियवादि ओषधि, ओषधि से अन्न, अन्न से वीर्य इस प्रकार से परिणाम प्राप्त होकर मातृ-गर्भ में आता है और वह जीव पिता की उसी रेतः कण को आश्रय करके मातृगर्भ में प्रवेश करता है।

• १४—चौदहवाँ ऋषिदेवतापितृ तत्त्व प्रकरण समाप्त •

अवतार तत्त्व प्रकरणम्

श्रीभगवान् के अवतार निर्णय—

सर्वव्यापक निराकार परमात्मा स्थूल शरीर के चक्र में आने का प्रयोजन

क्या हो सकता है। क्योंकि जव वे सर्व शक्तिमान् हैं, तो विना स्थूल शरीर धारण किये ही इच्छामात्र से दुष्टदमन तथा संसार की रक्षा कर सकते हैं। अवतार के विषय में वेद में अनेक प्रमाण मिलते हैं। यथा—ऋग्वेद म० ६, अ० ४, सू० ४७, म० १८, में लिखा है कि:—

"रूपं रूपं प्रतिरूपो वभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय।
इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शता दश" ॥

अर्थ=भक्तों के प्रार्थनानुसार प्रख्यात् होने के लिये श्रीभगवान् माया के संयोग से जीव अवतार आदि अनेक रूप धारण करते हैं, उनके शत-शत रूप हैं; उनमें से दश अवतार रूप में दश रूप मुख्य हैं। और भी लिखा है—

यजुर्वेद, अ० ३१, म० १९, में—

"प्रजापतिश्चरति गर्भेऽन्तरजायमानो बहुधा विजायते।
तस्य योनिंपरिपश्यन्ति धीराः तस्मिन् हि तस्थुर्भुवनानि विश्वा" ॥

अर्थ=प्रजापति भगवान् स्थूल गर्भ में उत्पन्न होते हैं, उनका कोई भी वास्तविक जन्म न होने पर भी वे अनेक रूपों में उत्पन्न होते हैं। धीमान योगी लोग ही उनके इस प्रकार के अवतारादि रूपों की महिमा तथा स्वरूप को जान सकते हैं। समस्त विश्व उन्हीं में स्थित है।

श्रीमद्भागवत, १० स्कन्ध, २ अध्याय, में लिखा है—

"विभर्षि रूपाण्यवबोध आत्मा क्षेमाय लोकस्य चराचरस्य।
सत्त्वोपपन्नानि सुखावहानिसतामभद्राणि मुहुः खलानाम्" ॥

अर्थ=चराचर संसार की रक्षा के लिये ज्ञानस्वरूप परमात्मा रूपधारण करके आते हैं, उनका अवतार धार्मिकों के लिये सुखकर और अधार्मिकों के लिये नाशकर होता है।

अवतार के विषय में दैवी मीमांसादर्शन में कहा है कि:—

"समष्टिकर्माधीनं तत्"

अर्थ=अवतार किसी एक जीव कल्याण के लिये नहीं होता है परन्तु समष्टि जीवों के कल्याण के लिये होता है। इस प्रकार समष्टि जीवों का कल्याण श्रीभगवान् की अवताररूप में प्रकट शक्ति द्वारा पाँच प्रकार से होता है। इसलिये अवतार पाँच प्रकार के होते हैं कला भेद से।

कला भेद से अंशानित्या पूर्णः वतारादि पांच प्रकार के हैं—

"कलाभेदेन पूर्णांशत्वम्"
"निमित्ताद् विशेषा विशेषौ"
"अन्तराविर्भूतानां नित्यत्वम्"

अर्थ=कलाभेद से पूर्णावतार और अंशावतार होते हैं। नव कलावों से पन्द्रह कलावों तक अंशावतार कहलाते हैं और सोलह कलावों के अवतार पूर्णावतार कहलाते हैं। निमित्त भेद से विशेष अवतार और अविशेष अवतार होते हैं। अन्तःकरण में प्रकट श्रीभगवान् का नित्यावतार होता है। इस प्रकार से पूर्णः वतार-अंशावतार, विशेषावतार अविशेषावतार और

नित्यावतार— ये पाँच प्रकार के अवतार हुवे। अब इनके प्रकट होने का कारण कहा जाता है। अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत—तीनों कारणों से अवतार का आविर्भाव होता है। इनमें से अध्यात्मकारण यह है कि प्रत्येक युग में धर्म का विकास उस युग में उत्पन्न जीवों के समष्टि कर्मानुसार रहा करता है। पहले प्रादेशमात्र भूमि प्रकट हुयी जिसका वराह भगवान् ने उद्धार किया, इसके पति प्रजापति हैं।

यजुर्वेद संहिता में मन्त्र है। अ० प्र०—म० ३।

"उद्धृतासि वराहेण कृष्णेन शतवाहुना"

अर्थ=हे पृथ्वी, तुम अनेक वाहु कृष्णवराह के द्वारा उद्धृता हो।

अथर्ववेद में भी लिखा है कि:—

"वराहेण पृथिवी संविदाना शूकराय विजिहीते मृगाय"।

अर्थ=वराह रूपी भगवान् ने इस पृथ्वी का उद्धार किया है।

नृसिहावतार के विषय में तैत्तिरीयारण्यक में वर्णन मिलता है।

"वज्रनखाय विद्महे तीक्ष्णदंष्ट्रायधीमहि तन्नो नारसिंहः प्रचोदयात्" ।१।१।३१।

अर्थ=वज्रनख नृसिंह भगवान् को जानते हैं, तीक्ष्णदन्त नृसिंहदेव का ध्यान करते हैं, हमारी बुद्धि को वह भगवान् प्रेरित करें।

ऋग्वेद संहिता म० १, अ० २१ सू० १५४ में वर्णन है कि :—

"प्रतद् विष्णुः स्तवते वीर्येण भृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः।
पस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानिविश्वा ॥

अर्थ=नृसिंह रूपधारी भयानक भगवान् निज तेज से स्तुति को प्राप्त करते हैं, जो वराह रूप में पृथ्वी तथा पर्वत में विचरण करते हैं और त्रिपाद द्वारा समस्त विश्व को कम्पित करते हैं।

वामनावतार के विषय में संहिता, ब्राह्मण तथा अन्यान्य प्रामाणिक ग्रन्थों में अनेक प्रमाण मिलते हैं।

सामवेद संहिता के ३-१-३-६ और १८-२-८-५-१-२ में—

"इदं विष्णुर्विचक्रमें त्रेधा निदधेपदम्।
समूढ मस्ययांसुर्ले" ॥

"त्रीणि पदा विचक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः अतोधर्माणिधारयन्।"

अर्थ=वामनावतारधारी विष्णु भगवान् तीन पाद प्रसारित करते हैं जिससे त्रिलोक अधिकृत होता है। समस्त विश्व उनके चरणरज में स्थित है। संसार के रक्षक अमोघ शक्ति धारी विष्णु भगवान् धर्म की रक्षा के लिये त्रिपाद द्वारा त्रिलोक आवृत करते हैं। कृष्णावतार के विषय में भी श्रुति में अनेक प्रमाण मिलते हैं। यथा—

ऋग्वेद में मं० ४, सू० ७, अ० १, मं० ६ में लिखा है कि :—

"कृष्णं त एम रु शतः पुरोभाश्च रिष्णवर्चिर्वपुषामिदेकम्।
यद प्रवीता दधते ह गर्भं सद्यश्चिज्जातोभवसीदुदूतः॥"

[illegible]=[illegible]। आप का जो ज्ञानमय ग्रानन्दमय रूप है ग्रौर त्रिलोक नाशकारी [illegible] है वह मुझे प्राप्त हो जाय, ग्रापका जो रूप सर्वत्र व्याप्त है और जिसको देव की माता [illegible] में, गर्भ में धारण किया था और जिस रूप में माता से पृथक् होकर आप ने उन [illegible] विरह दुःख प्रदान किया था वह रूप मुझे प्राप्त होवे।

तैत्तिरीय आरण्यक में लिखा है कि :—

"नारायणाय विद्महे वासुदेवाय धीमहि तन्नो विष्णुः प्रचोदयात्"

ग्रर्थ=वासुदेव पुत्र नारायण मेरे ध्यान करने और जानने की वस्तु हैं, वे हमारी बुद्धि को प्रेरित करें।

ब्रह्मा जी के कथनानुसार पूर्णावतार की लीला में सहायता करने के लिये गोपीरूप में जन्म ग्रहण किया था। इसके सिवाय और भी अनेक प्रमाण मिलने हैं जिससे सिद्ध होता है कि बहुत गोपियाँ पूर्वजन्म की श्रुतियाँ थीं और बहुतों का शरीर पूर्वजन्म में ऋषि महर्षियों का था। अनेक गोपियों के पूर्व जन्म में महर्षि होने के विषय में कृष्णोपनिषद् में लिखा है कि :—

"श्री महाविष्णुं सच्चिदानन्दलक्षणं रामचन्द्रं दृष्ट्वा सर्वाङ्गसुन्दरं
मुनयो वनवासिनो विस्मिता वभूवुः।
तं हो चुर्नोऽवद्यमवतारान्वै गण्यन्ते ग्रालिङ्गामो भवन्तमिति।
भवान्तरे कृष्णावतारे यूयं गोपिका भूत्वा मामालिङ्गथ।"

ग्रर्थ=सर्वाङ्गसुन्दर सच्चिदानन्द लक्षमण रामचन्द्र को देखकर वनवासी मुनिगण विस्मित हो गये ग्रौर उन्होंने उनके साथ अङ्ग सङ्ग करने की इच्छा प्रकट की। श्री भगवान् रामचन्द्र जी ने मुनियों को कहा कि उनका रामावतार मर्यादामूलक है इसलिये इस ग्रवतार में अङ्ग-सङ्ग नहीं हो सकता है। आगे जब वे कृष्णावतार धारणकर पृथिवी में आवेंगे, उस समय मुनिगण गोपीरूप से व्रज में उत्पन्न होंगे और उसी समय श्रीभगवान् के साथ उनका अङ्ग सङ्ग हो सकेगा। ये ही वनवासी अनेक मुनि ऋषि कृष्णावतार के समय गोपिका वन कर व्रज में उत्पन्न हुये थे। गोपियों के पूर्वजन्म के विषय में पद्मपुराण के पातालखण्ड में अपूर्व वर्णन मिलता है। मनुष्य भावों का दास है। भावशून्य होकर मनुष्य का अन्तःकरण एक महूर्त भी स्थिर नहीं रह सकता है।

वैदिक दर्शनों का यह सिद्धान्त है कि भावशुद्धि के द्वारा असत्कार्य भी सत् हो जाता है और भावमालिन्य के हेतु सत्कार्य भी असत् होता है। उदाहरण रूप से कहा जा सकता है कि मनुष्य हत्या एक असत् कार्य है, परन्तु यदि वह धर्म युद्ध के लिये या राजा अथवा साधुजनों की रक्षा के लिये हो तो वह धर्म कार्य कहलावेगा; अर्थात् मनुष्य हत्यारूप कार्य ग्रसत् होने पर भी भावशुद्धि के कारण सत् हो जाता है। इसी प्रकार सनातन धर्म में भाव का यथार्थ स्वरूप गृहीत होकर भाव शुद्धि के बहुत से उपाय निश्चित हुये हैं।

• १५—पन्द्रहवाँ अवतार तत्व प्रकरण समाप्त •

मन्त्र योग प्रकरणम्

दिव्य नाम और दिव्य रूपों की साधन विधि मन्त्र योग में बतायी गयी है। मन्त्र योग में स्थूल मूर्त्ति की पूजा हुवा करती है। शास्त्र में स्थूल मूर्त्तिमयी प्रतिमा आठ प्रकार की कही गयी है,

पाषाण आदि की मूर्ति आठ प्रकार की—

यथा—श्रीमद्भागवत पुराण में :—

शैली दारुमयी लौही लेप्या लेख्या च सैकती।
मनोमयी मणिमयी प्रतिमाष्ट विधास्मृता॥

अर्थ=श्रीभगवान् की प्रतिमा आठ प्रकार की हुवा करती हैं, यथाः पाषाणमयी प्रतिमा, काष्ठनिर्मित प्रतिमा, लोहनिर्मित प्रतिमा, लेपन द्वारा बनायी हुयी प्रतिमा, तूलिका से चित्रित प्रतिमा, बालुका द्वारा निर्मित प्रतिमा, अन्तः करण (मन) में ही कल्पित प्रतिमा और विविध प्रकार की मणियों के द्वारा निर्मित प्रतिमा। केवल पुराण में ही नहीं वेद में भी श्रीभगवान् की इस प्रकार पाषणादि मयी.मूर्ति बनाने की आज्ञा है, यथा—अथर्ववेद में :—

"एह्यश्मानमातिष्ठाश्मा भवतु ते तनुः"

अर्थ=हे भगवान्। आप इस पाषाणमयी मूर्त्ति में विराजमान हो जाँय, आपका शरीर यही पाषाण हो। यथा—ऋग्वेद में भी लिखा है किः—

"कासीत्प्रमा प्रतिमा किं निदानमाज्यं किमासीत्परिधिः"

अर्थ=यथार्थ ज्ञान कौन है, प्रतिमा कौन है, समस्त जगत् का कारण कौन है, घृत के समान संसार में सार वस्तु कौन है और समस्त प्रकृति की परिधि में विद्यमान कौन है इत्यादि रूप से प्रतिमा में भगवद् भाव की स्थिति का वर्णन पाया जाता है। अतः सिद्ध हुवा कि मन्त्र योग में विहित मूर्त्तिपूजा सर्वथा वेदादि शास्त्र के अनुकूल है। यथा सूत्रे—

"जीविकार्थे चापण्ये"

अर्थ=इस सूत्र के भाष्य द्वारा महाभाष्यकार ने भी प्राचीन काल में मूर्तिपूजा प्रचलित थी ऐसा प्रमाण कर दिया है; क्योंकि इस सूत्र का यही तात्पर्य है कि जो मूर्ति जीविका निर्वाह के लिये है विक्रियार्थ नहीं है उसमें कन् प्रत्यय का लोप होता है अतः व्याकरण के प्रमाण से मूर्ति पूजा का प्रचलन सिद्ध हुवा।

आज दिन भी भारतवर्ष में देव मूर्ति बनाकर जीवि का निर्वाह करने वाले बहुत हैं। उनके विषय में ही यह सूत्र है। अर्वाचीन पुरुषों ने हिन्दु जाति की मूर्तिपूजा के तत्त्व को न समझ कर उसकी पाषाणपूजा समझ ली है। भाव के अनुसार मूर्ति में दिव्य शक्ति का आविर्भाव किस तरह से हो सकता है सो बताया जाता है। कुलार्णवतन्त्र में लिखा है किः—

गवां सर्वाङ्गजं क्षीरं स्रवेत् स्तनमुखाद् यथा।
तथा सर्वगतो देवः प्रतिमादिषु राजते॥

अर्थ=जिस प्रकार गोदुग्ध गोमाता के समस्त शरीर में व्याप्त रहने पर भी स्तनों के द्वारा ही वह दुग्धक्षरित होता है उसी प्रकार श्रीभगवान् की शक्ति सर्वत्र व्याप्त होने पर भी प्रतिमा रूपी स्तन के द्वारा वह शक्ति प्रकट होती है; परन्तु स्तनों के द्वारा युक्ति से जिस प्रकार गोदुग्ध निकाला जाता है, उसी प्रकार प्रतिमा के अवलम्बन से भगवत् शक्ति प्रकट करने के लिये कौन-कौन उपाय आवश्यकीय है सो विचार करने योग्य हैं।

आभिरूप्याच्च विम्बस्य पूजायाश्च विशेषत:।
साधकस्य च विश्वासाद्देवतासन्निधिर्भवेत् ।।

अर्थ=ठीक ध्यान और भाव के अनुसार मूर्ति का निर्माण होने से, पूर्ण विधि के अनुसार पूजा होने से और प्रतिमा में श्रद्धा तथा विश्वास पूर्ण होने से दैवीशक्ति का विकाश प्रतिमा द्वारा होता है। शास्त्र में इस प्रकार शक्ति विकाश को प्राणप्रतिष्ठा कहा गया है जिसके लिये वेद में भी अनेक मन्त्र पाये जाते हैं।

यजुर्वेद में यज्ञ मूर्ति में प्राणप्रतिष्ठा के अर्थ ऐसे अनेक मन्त्र बताये गये हैं—

"या ते धर्म दिव्या शुग्या गायत्र्या हविर्धाने सा त।
आप्यायतान्निष्ठ्यायतान्तस्मै ते स्वाहा" इत्यादि।

अर्थ=हे धर्म मूर्त्ते। तेरी जो दिव्य शक्ति (दिव्या शुक्) समष्टि प्राण में (गायत्र्यां) तथा समष्टि शरीर में (हविर्धाने) विद्यमान रहती है वह दिव्यशक्ति (सात दिव्या शुक्) इस मर्ति में आकर प्रकट हो जाँय (आप्यायतान्निष्ठ्यायतां) उसी दीप्ति को लक्ष्य करके स्वाहा-मन्त्र का उच्चारण किया जाता है। देवी भागवत में लिखा है कि:—

शिवस्याहं प्रिय: प्राण: शङ्करस्तु तथा मम।
उभयोरन्तरं नास्ति अन्योन्यासक्तचेतसो: ।।

अर्थ=शिव विष्णु के प्राण हैं और विष्णु भी शिव के प्राण हैं, परस्परासक्तचित्त हरिहर में कोई भेद नहीं है। सवसे प्रथम जो विष्णु भगवान् की एक शेषशायी मूर्तिका वर्णन किया गया है वह विष्णु भगवान् की सप्त प्रधान मूर्त्तियों में से एक मूर्त्ति का वर्णन है इसी प्रकार श्रीविष्णुभगवान् की अन्यान्य मूर्त्तियों का भाव भी समझना उचित है और श्रीमहादेव की मूर्ति का एक ही रूप वर्णन करके और और मूर्तियों का कुछ कुछ रहस्य कह दिया गया है जिससे जिज्ञासुवों को साधारण ज्ञान की प्राप्ति हो सके। हरिहर विज्ञान ये है। शिव जी पृथिवी तत्त्व के अधीश्वर हैं इसलिये पृथिवी तत्त्व की सर्वश्रेष्ठ विकाशभूमि हिमालय का सर्वोच्च शिखर कैलास शिव जी का स्थान है ऐसा शास्त्र में पाया जाता है। शिवोपासना-परायण भक्त शिवमूर्ति की व शिवलिङ्ग—पूजा की विधि है शास्त्र में—

शिवलिङ्ग निर्णय पूजादि का महत्त्व—

प्रशस्तं नार्मदं लिंगं पक्वजम्बूफलाकृति।
मधुवर्णं तथा शुक्लं नीलं मरकतप्रभम् ।। (याज्ञवल्क्य संहिता में)

अर्थ=नर्मदा नदी से प्राप्त पक्वजम्बूफल की तरह आकार युक्त, मधुवर्ण तथा शुक्ल या नील मरकत मणितुल्य शिवलिङ्ग पूजन में प्रशस्त है।

दृष्ट्वा लिंगं महेशस्य स्वयम्भूतस्य पार्वती।
सर्वपापविनिर्मुक्तः परे ब्रह्मणि लीयते ॥ (मत्स्य सूक्त)

अर्थ=स्वयम्भू महादेव के लिङ्ग का दर्शन करने से भक्त लोग समस्त पाप से मुक्त होकर परब्रह्म पद में विलीन हो जाते हैं।

आकाशं लिंगमित्याहुः पृथिवी तस्य पीठिका।
आलयः सर्वदेवानां लयनाल्लिङ्गमुच्यते ॥ (स्कन्द पुराणे)
लिङ्गत्वाल्लिङ्गमित्युक्त सदेवासुरकिन्नरैः।
प्रयच्छामि दिवं देवि यो मल्लिङ्गार्चने रतः ॥
त्यक्त्वा सर्वाणि पापानि निर्गदो दग्धकल्मषः
मन्मना मन्नमस्कारो मामेव प्रतिपद्यते ॥

अर्थ=आकाश रूप ब्रह्मलिङ्ग है और पृथिवी रूपिणी जगदम्बा उसकी पीठिका है। लिङ्ग समस्त देवतावों का आलय है और जीव भाव का लय इस के द्वारा होने से इसका नाम लिंग है। लिङ्ग पूजापरायण भक्त समस्त पाप से मुक्त होकर परब्रह्म को प्राप्त करते हैं।

मूले ब्रह्मा तथा मध्ये विष्णु स्त्रिभुवनेश्वरः।
रुद्रोपरि महादेवः प्रणवाख्यः सदाशिवः ॥ (लिङ्गपुराणे)
लिङ्गवेदी महादेवी लिंगं साक्षान्महेश्वरः।
तयोः संपूजनान्नित्यं देवी देवश्च पूजितौ ॥

अर्थ=लिंग के मूल में ब्रह्मा, मध्य में विष्णु और उपरि भाग में ओंकार रूप सदा शिव विराज मान हैं। लिंग की वेदी जगज्जननी जगदम्बा हैं और लिंग साक्षात् परमात्मा है अतः लिंग पीठ की और लिंग की पूजा से प्रकृति और परमात्मा की पूजा हुवा करती है। लिंग विश्वाधार हैं मूर्तियों की प्रतिष्ठा वेदादि शास्त्रानुसार सिद्ध होती है और मन्दिरों की स्थापना शास्त्रानुसार विधि पूर्वक करा के देवी देवतावों की पूजादि द्वारा दैवी शक्ति की प्राप्ति होगी।

अथर्ववेद में इसी सिद्धान्त का प्रकाशक एक मन्त्र आता है :—

"न घ्नंसस्तताप न हिमो जघान प्रनभतां पृथिवी जीरदानुः
आपश्चिदस्मै घृतमित् क्षरन्ति यत्र सोमः सदमित् तत्र भद्रम्"।

इति चतुर्थः परिच्छेदः समाप्तः

अर्थ=इसका अर्थ निम्नलिखित है—जहाँ पर प्रतिमानिहित दैवी शक्ति रहती है वहाँ पर सदा ही कल्याण होता है सूर्य कठिन तथा दुःखदायी उत्ताप नहीं देता है शिलावृष्टि आघात नहीं करती है पृथिवी शीघ्र शीघ्र अन्न उत्पन्न करती है जल भी उपासक को घृत ही देता है सोम तुम आसुरी शक्ति का नाश करो। इस मन्त्र के द्वारा मूर्तिव्यापिनी दैवी शक्ति द्वारा पृथिवी का सम्पूर्ण कल्याण साधन तथा आसुरी शक्ति का नाश ऊपर लिखित वर्णन के अनुसार प्रमाणित होता है। समस्त मनुष्य ही आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक सब प्रकार के लाभ को प्राप्त करते हुये अन्त में निर्गुणोपासना के अधिकारी बन कर ब्रह्मस्वरूप को प्राप्त कर सकते हैं। स्त्रीशूद्रादि की स्थापित मूर्ति वृहन्नारदीय में

निषेध है—जिस मन्दिर में स्त्री शूद्र के हाथ द्वारा मूर्तिप्रतिष्ठा हुयी हो उस में द्विजातिगण प्रणाम न करें-करें तो नरक जांय और जिस मन्दिर में स्त्रीशूद्र पुजारी का काम करते हों वहाँ नैवेद्य का प्रसाद न ले ले तो दोष होगा। स्त्री शूद्र के धन से मन्दिर बना हो ब्राह्मण द्वारा प्रतिष्ठा हुयी हो पुजारी ब्राह्मण ही हो उस मन्दिर में पूजा प्रणाम करना एवं प्रसाद शास्त्र सम्मत है सब को। (अन्त्यज के धन से मन्दिरादि का निर्माण ब्राह्मण द्वारा भी निषेध है)

• १६—सोलहवाँ मन्त्र योग प्रकरण एवं चतुर्थ परिच्छेद समाप्त •

सनातन धर्म मार्तण्डः

पञ्चमः परिच्छेदः

भक्ति योग प्रकरणम्

अतः सकल देव कार्य में गीत की तरह वाद्य भी आनादिकाल से प्रचलित है। इष्ट विशेष में वाद्यविशेष का निषेध भी पाया जाता है। यथा—तिथ्यादि तत्त्व में लिखा है—

मन्दिरों में बाजों का एवं शंख जल महात्म निर्णय—

शिवागारे झल्लकं च सूर्यागारे च शङ्खकम्।
दुर्गागारे वंशीवाद्यं माधुरीं च न वादयेत्॥
गीतवादित्र निर्घोषं देवस्याग्रे च कारयेत्।
विरिञ्चिश्च गृहे ढक्कां घण्टां लक्ष्मीगृहे त्यजेत्॥
घण्टा भवेदशक्तस्य सर्ववाद्यमयीयतः॥

अर्थ=शिव मन्दिर में कांस्य निर्मित करताल, सूर्य मन्दिर में शंख, दुर्गा मन्दिर में वंशी और माधुरी, विरिञ्चिगृह में ढाक और लक्ष्मी गृह में घण्टा नहीं वजाना चाहिये। जो और प्रवन्ध न कर सकें, वे घण्टावाद्य तो सर्वत्र ही वजा सकते हैं।

यही शास्त्रीय विधि है। शंख के जल का महात्म-श्रीमद्देवी भागवत में लिखा है—

तीर्थतोयस्वरूपं च पवित्रं शंभुना विना।
शङ्ख शब्दो भवेद्यत्र तत्रलक्ष्मीः सुसंस्थिरा॥
स स्नातः सर्वतीर्थेषु यः स्नातः शंखवारिणा।
शङ्खो हरेरधिष्ठानं यत्र शङ्खस्ततो हरिः॥
तत्रैव वसते लक्ष्मीर्दूरीभूतममंगलम्।
स्त्रीणां च शंखध्वनिभिः शूद्राणां च विशेषतः॥

अर्थ=जो शंख के जल से स्नान कर लेता है, उसे सम्पूर्ण तीर्थों में स्नान का फल प्राप्त हो जाता है। शंख साक्षात् भगवान् श्री हरि का अधिष्ठान है। जहाँ पर शंख रहता है, वहाँ भगवान् श्रीहरि भगवती लक्ष्मी सहित सदानिवास करते हैं और अमङ्गल दूर से ही भाग जाता है। किन्तु स्त्रियों और शूद्रों द्वारा की गयी शङ्खध्वनि सुनकर लक्ष्मी भयभीत और रुष्ट होकर उस स्थान से अन्यत्र चली जाती हैं।

पूजन सामग्री दीपशंखादि बिना आसन के रखने में दोष—

भूमौदीपं योऽर्पयति स चान्धः सप्त जन्मसु ।
भूमौ शङ्खं च संस्थाप्य कुष्ठं जन्मान्तरे लभेत् ।।
मुक्तां माणिक्यहीरौ च सुवर्णं च मणि तथा ।
पञ्च संस्थापयद् भूमौ स चान्धः सप्त जन्मसु ।।

अर्थ=भूमि पर दीपक रखने वाला सात जन्म तक अन्धा और शंख भूमि पर रखने-वाला जन्मान्तर में कुष्ठ रोगी होता है। मोती, माणिक्य, हीरा, सुवर्ण, मणि, ये पाँच चीजें भूमि पर रखने वाला सात जन्म तक अन्धा होता है ।

शिवलिंगं शिवामार्चां यश्चार्पयाति भूतले ।
शतमन्वन्तरं यावत्कृमिभक्षः स तिष्ठति ।।
शङ्खं यन्त्रं शिलातोयं पुष्पं च तुलसीदलम् ।
यश्चार्पयति भूमौ च स तिष्ठन्नरके ध्रुवम् ।।

अर्थ=शिवलिङ्ग और शिवार्चन की वस्तुयें जमीन पर रखने वाला मनुष्य सौमन्वन्तर पर्यन्त 'कृमिभक्ष' नरक में रहता है। शङ्ख, यन्त्र शालग्राम का जल, पुष्प एवं तुलसीदल भूमि पर रखने वाले को अवश्य नरक में जाना पड़ता है।

शिवनैवेद्य ग्राह्य और अग्राह्य एवं लिंगपरचढेद्रव्य का निर्णय—

शिव पुराण में लिखा है कि :—

शालग्रामोद्भवे लिंगेरसलिंगे तथा द्विजाः ।
पाषाणे राजते स्वर्णे सुरसिद्ध प्रतिष्ठिते ।।

अर्थ=शालग्राम उद्भव लिंग में, तथा रसलिंग में पाषाण, सुवर्ण रजत के बने देवतावों की सिद्धि से प्रतिष्ठित में नैवेद्य भक्षण करना चान्द्रायण व्रत के समान फल है ।

शिवभक्तः शुचिः शुद्धः सद्व्रतीदृढनिश्चयः ।
भक्षयेच्छिव नैवेद्य त्यजेद ग्राह्य भावनाम् ।।

अर्थ=शिव भक्त पवित्र शुद्ध एवं दृढ निश्चय होकर शंकर के नैवेद्य को अग्राह्य भावना का त्यागकर नैवेद्य भक्षण करे ।

काश्मीरेस्फाटिके रात्ने ज्योतिर्लिंगेषु सर्वशः ।
चान्द्रायण समं प्रोक्तं शंभोर्नैवेद्य भक्षणम् ।।

अर्थ=काश्मीर में स्फटिक रत्न ज्योतिर्लिंगों में शिव नैवेद्य भक्षण चान्द्रायण व्रत के समान फल देने वाला है ।

ब्रह्महापि शुचिर्भूत्वा निर्माल्यां यस्तु धारयेत् ।
भक्षयित्वाद्रुतं तस्य सर्वपापं प्रणश्यति ।।

अर्थ=ब्रह्म हत्यारा भी पवित्र होकर जो चढी हुयी माला (निर्माल्य) ग्रहण करे उसके भक्षण से सब पाप दूर हो जाते हैं ।

चण्डाधिकारोयत्रास्ति तद्भोक्तव्यं न मानवैः ।
चण्डाधिकारो नो यत्रभोक्तव्यं तच्चभक्तितः ।।

अर्थ=जहाँ चण्ड (गोसांई) का अधिकार हो वहां नैवेद्य न भक्षण करे तथा जहाँ चण्ड का अधिकार नहीं है वहाँ भक्ति से नैवेद्य भक्षण करे ।

लिंगो परिचयद्रव्यं तद् ग्राह्यं मुनीश्वराः ।
सुपवित्रं च तज्ज्ञेयं यल्लिंगस्पर्श बाह्यतः ।।

अर्थ=लिंग के ऊपर जो द्रव्य है वह अग्राह्य है और जो लिंगस्पर्श से पृथक् है उसे पवित्र जानना चाहिये ।

शिवयज्ञ में तान्त्रिक ऊर्ध्व पुण्ड्रतप्त मुद्राधारी का त्याज्य है—

गौतम ऋषि का शाप ब्राह्मणों को—शिवपुराण में लिखा है कि :—

न तान्त्रिकस्त्वधिकृतो नोर्द्धपुण्ड्रधरोमुने ।
संतप्त चक्र चिह्नोऽत्र शिव यज्ञे वहिष्कृतः ।।

अर्थ=इस शिव यज्ञ में तांत्रिक का, ऊर्ध्वपुण्ड्र धारी का, तथा तप्त शंख चक्र बाहों में लगाने वालों का अधिकार नहीं है । ज्योतिर लिंगों का नैवेद्य ग्रहण से पाप मुक्त—

ग्राह्यमेषां च नैवेद्यं भोजनीयं प्रयत्नतः ।
तत्कर्ता सर्वपापानि भस्मसाद्यान्ति वैक्षणात् ।।

अर्थ=ज्योतिर्लिंग की मूर्तियों के ऊपर चढ़े हुये नैवेद्य का भक्षण करने से सम्पूर्ण पाप भस्म सात् हो जाते हैं ।

शिवजी के ऊपर और देवी के अर्पणधन आदि पुजारी का है—

मदर्पितं च यत्किं चिद्धनधान्यादिकन्तथा ।
तत्सर्वं च त्वया ग्राह्यं न दोषाय भविष्यति ।।
मम कृत्येभवान्मुख्यो देवी कृत्ये विशेषतः ।
घृत तैलादिकं सर्वंत्वया ग्राह्यं मदर्पितम् ।।

अर्थ=पुजारी का होता है—मेरे द्वारा चढाया गया जो कुछ भी धन धान्य है उसे ग्रहण करने से दोष नहीं होता है । तथा मेरे सभी कार्यों में मुख्य आप का है विशेषकर देवी जी के कार्य में घृत तैल आदि आप के ग्राह्य है ।

शिव निर्माल्य पत्र पुष्प फल आदि अग्राह्य है किन्तु शालग्राम के संग से पवित्र हो जाता है—

शिव पुराण में लिखा है कि :—

अग्राह्यं शिवनिर्माल्यं पत्रं पुष्पंफलजलम् ।
शालग्रामस्यसंस्पर्शात् सर्वं यातिपवित्रताम् ।।

अर्थ=शिवलिंग के ऊपर का निर्माल्य पत्र पुष्प फल सब आग्राह्य है किन्तु यदि उसे शालग्राम की मूर्ति से स्पर्श करा दिया जाय तो पवित्र हो जाता है ।

भक्ति के लक्षण—

"साधनलभ्या गौणी वैधी रागात्मिका च"

अर्थ=वैधी और रागात्मिका नाम से द्विधा विभक्त तथा साधन द्वारा प्राप्य भक्ति ही गौणी भक्ति है। गौणी भक्ति दो प्रकार की है—वैधी और रागात्मिका। वैधी भक्ति के—लक्षण के विषय में—

"विधि साध्यमाना वैधी सोपान रूपा"

अर्थ=विधि के द्वारा जिसका साधन होता है इस प्रकार की तथा उन्नत भक्ति भूमि के लिये सोपान रूप से सहायताकारी भक्ति ही वैधी भक्ति है। गुरूपदेशानुसार विधि निषेध के वशवर्त्ती होकर वैधी भक्ति के विविध अगों के नियमित साधन द्वारा साधक भक्ति के उन्नत राज्य में प्रवेशाधिकार प्राप्त करते हैं।

वैधी भक्ति पुनः नव अङ्गों में विभक्त है—

श्रवणं कीर्त्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्च्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥

अर्थ=श्रवण (राजा परीक्षित्) कीर्त्तन (श्रीनारदमुनि) स्मरण (राजा ध्रुव) पाद सेवन (भरत व लक्ष्मण) अर्चन (राजापृथु) वन्दन (भीष्मादि) दास्य (श्रीहनुमान् जी) सख्य (अर्जुन्ने) और आत्म निवेदन (किसने किया राजा बलि ने तन सहित सब कुछ) वैधी भक्ति के ये नव अङ्ग कहे गये हैं। श्रीभगवान् की मधुर गुण कथावों के श्रवण का नाम श्रवण है। यह वैधी भक्ति का प्रथम अङ्ग है। श्रीमद्भागवत में लिखा है कि :—

न यत्र वैकुण्ठ कथा सुधापगा न साधवोभागवतास्तदाश्रयाः।
न यत्र यज्ञेशमखा महोत्सवाः सुरेशलोकोऽपि न वै ससेव्यताम्॥

प्रविष्टः कर्णरन्ध्रेण स्वानांभाव सरोरुहम्।
धुनोति स मलं कृष्णः सलिलस्य यथा शरत्॥

अर्थ=जहाँ पर सुधा सिन्धु की नाईं श्री भगवान् की गुण कथा नहीं प्रभावित होता है, जहाँ पर परम भागवत साधुगण नहीं निवास करते हैं, जहाँ पर यज्ञेश्वर के यज्ञ का महोत्सव नहीं होता है, इन्द्रलोक होने पर भी ऐसा स्थान सेवनीय नहीं हैं। श्रीभगवान् की गुण कथा कर्ण के द्वारा हृदय में प्रविष्ट होकर जैसा शरद ऋतु सरोवर के जल को शुद्ध करता है वैसा ही हृदय की मलिनता को परिशुद्ध किया करती है। इस प्रकार से वैधी भक्ति के श्रवणरूपी अङ्गसेवन द्वारा भक्त जन चित्त धीरे-धीरे श्रीभगवान् के चरण-कमलों में सन्निविष्ट होने लगता है। वैधी भक्ति के द्वितीय अङ्ग का नाम कीर्त्तन है।

श्रीमद्भागवत में लिखा है कि :—

सङ्कीर्त्यमानो भगवाननन्तः श्रुतानुभावो व्यसनं हि पुंसाम्।
प्रविश्य चित्तं विधुनोत्यशेषं यथा तमोऽर्कोऽभ्रमिवातिवातः॥

अर्थ=श्रीभगवान् अनन्तदेव की गुणावली के कीर्त्तन करने से अन्तः करण में उनकी

मधुर मूर्तिविराजमान होकर सूर्य किरण के प्रताप से अन्धकार अथवा प्रचण्डवायु के वेग से मेघ की तरह हृदय निहित समस्त व्यसनों को विदूरित कर देती है।

श्रीभगवान् ने निजमुख से कहा है कि :—

नाहं तिष्ठामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न च।
मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद ॥

अर्थ=मैं वैकुण्ठ में नहीं रहता हूँ और योगियों के हृदय में भी नहीं रहता हूँ। मेरे भक्त लोग जहाँ पर कीर्त्तन करते हैं वहाँ ही मैं रहता हूँ। इस प्रकार से श्रीभगवान् के मधुर नाम-कीर्त्तन द्वारा भक्त हृदय में धीरे-धीरे भगवद्भावका उदय हुवा करता है वैधी भक्ति के तृतीय अङ्ग का नाम स्मरण है। श्रीभगवान् की मधुर मूर्ति, मधुर नाम या मधुर भाव के स्मरण को स्मरण कहा जा सकता है।

भक्त सूरदास ने कहा था हाथ छुड़ा के—

हस्तमुत्क्षिप्य निर्यासि बलादिति किमद्भुतम्।
हृदयाद्यदि निर्यासि पौरुषं गणयामि ते ॥

अर्थ=हे भगवन् तुम हाथ छुड़ा के जाते हो इसमें तुम्हारा पौरुष क्या है। यदि हृदय छोड़ के जासको तभी तुम्हारा पौरुष मानूँगा। इसी प्रणय मूलक जोर और अहङ्कार के साथ भक्त उदयनाचार्य ने कहा था ऐश्वर्य के मद से—

ऐश्वर्यमदमत्तोऽसि मामवज्ञाय वर्त्तसे।
उपस्थितेषु बौद्धेषु मदधीना तव स्थितिः ॥

अर्थ=हे भगवन् तुम ऐश्वर्य के मद से उन्मत्त होकर मेरी अवज्ञा करते हो और दर्शन नहीं देते हो, परन्तु स्मरण रक्खो कि जव वौद्ध लोग आकर तुम्हारी सत्ता के नाश के लिये उद्यत होंगे तव तुम्हें मेरे ही अधीन होना पड़ेगा, क्योंकि उस समय मैं ही नास्तिक बौद्ध मत का खण्डन करके तुम्हारी सत्ता की रक्षा करूँगा। यही रागयुक्त भक्त का श्रीभगवान् के प्रति प्रेम तथा घनिष्ठता मूलक सच्चा भाव है।

भक्त हृदय में इस प्रकार प्रेम भाव का उदय होने पर भक्त वत्सल भगवान् उनके अधीन हो जाते हैं।

श्रीमद्भागवत में लिखा है कि :—

अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।
साधुभिग्रस्त हृदयो भक्तैर्भक्त जनप्रियः ॥
नाहमात्मानमाशासे मद्भक्तैः साधुभिर्विना।
श्रियञ्चात्यन्ति कीं ब्रह्मन्येषां गतिरहं परा ॥
ये दारागारपुत्राप्त प्राणान् वित्तमिमं परम्।
हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे ॥
मयि निर्बद्धहृदयाः साधवः समदर्शनाः।
वशे कुर्व्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा ॥

अर्थ=श्रीभगवान् कह रहे हैं मैं भक्तों के अधीन हूँ स्वतन्त्र नहीं हूँ, मेरे हृदय पर साधु भक्तों का सम्पूर्ण अधिकार है, मेरे भक्त साधुवों के विना मैं अपने आत्मा को तथा परमा श्री को भी नहीं चाहता हूँ मैं साधुवों की ही परम गति हूँ, जिन महात्मावों ने स्त्री, पुत्र, परिवार, धनादि तथा परलोक की सुखेच्छा को भी छोड़कर मेरा आश्रय लिया हुवा है उनको मैं किस प्रकार से त्याग सकता हूँ जिस प्रकार पतिव्रता स्त्री पति प्रेम के द्वारा निजपति को वश किया करती है उसी प्रकार समदर्शी साधु भी मुझ में हृदय को बाँध कर मुझे वशीभूत कर लेते हैं, साधु मेरे हृदय हैं और मैं साधुवों का हृदय हूँ, वे सिवाय मेरे और कुछ भी नहीं जानते हैं और मैं भी सिवाय उनके और कुछ भी नहीं जानता हूँ यही भक्ति की रागदशा में भक्त तथा भगवान् का पारस्परिक प्रेम सम्वन्ध है।

महर्षि शाण्डिल्य एवं नारद सूत्र में लिखा है कि :—

आत्मन्यविरोधेनेति शाण्डिल्यः ।

अर्थ=अविच्छिन्न भाव से आत्मा में रति ही भगवद् भक्ति का परम लक्षण है। इस प्रकार श्रीभगवान् में परमारति और आत्मसमर्पणभाव के उदय होने से भक्त श्रीभगवान् की कृपा से अनायासभव सिन्धु से पार हो जाते हैं।

यथा—योगवासिष्ठ में लिखा है कि :—

नमस्तुभ्यं परेशाय नमो मह्यं शिवाय च।
प्रत्यक् चैतन्यरूपाय मह्यमेव नमोनमः ॥
मह्यं तुभ्यमनन्ताय मह्यंन्तुभ्यं शिवात्मने ।
नमो देवादिदेवाय पराय परमात्मने ॥

अर्थ=हे परम पुरुष परमात्मन्। तुम्हें नमस्कार और प्रत्यक् चैतन्य रूप मुझको भी नमस्कार। अनन्त शिवरूप देवादिदेव मुझको और तुमको नमस्कार। इस प्रकार से तन्मय होकर भक्त अपने को और परमात्मा को नमस्कार करते रहते हैं और भावातिमग्न हो आत्म-रूप हो जाते हैं।

अभिमानं सुरापनं गौरवं घोर रौरवम् ।
प्रतिष्ठा शूकरी विष्ठा त्रयं त्यक्त्वा सुखीभवेत् ॥

अर्थ=किसी प्रकार का अभिमान मदिरा पान के समान है, किसी प्रकार के वडप्पन पाने की वासना रौरव नरक के समान है, प्रतिष्ठा शूकरी के विष्ठा की तरह अपवित्र है, अतः इन तीनों का परित्याग कर सुखी होना चाहिये।

• १७—सत्रहवां भक्तियोग प्रकरण समाप्त •

जीव तत्त्व प्रकरणम्

जीवात्मा परमात्मा का अंश है—

वेदान्त दर्शन में सूत्र है—

"अंशो नानाव्यपदेशात्"

अर्थ=जीवात्मा परमात्मा का अंशरूप है। जिस प्रकार सर्वव्यापक आकाश एक होने पर भी घट, पट आदि उपाधिभेदानुसार घटाकाश, पटाकाश आदि उसकी संज्ञा होती है, परन्तु वास्तव में घटाकाश और व्यापक आकाश में कोई स्वरूपतः भेद नहीं है; ठीक उसी प्रकार जीव और ब्रह्म में स्वरूपतः कोई भी भेद नहीं है, केवल अन्तः करणरूपी उपाधि योग से एक ही ब्रह्म नाना जीवरूप में व्याप्त हो रहे हैं।

अथर्ववेद में लिखा है कि :—

"ब्रह्मदाशा ब्रह्मदासा ब्रह्मेमे कितवा उत"

अर्थ=कैवर्त्त, दास्यकर्मकारी और द्यूतकारी ये सभी ब्रह्म हैं।

श्वेताश्वतर उपनिषद् में भी लिखा है कि :—

वालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च।
भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते ॥

अर्थ=एक वाल के अग्र भाग के सौ टुकड़े किये जाँय। फिर एक भाग के पुनः सौ भाग किये जाँय ऐसे एक भाग परिमाण वाला जीव को समझना चाहिये। वही जीव अनन्त होने योग्य है अर्थात् अनन्त ही है।

त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारि।
त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः ॥

अर्थ= ब्रह्म स्त्री है, ब्रह्म पुरुष ब्रह्म कुमार है, कुमारी है और वृद्धरूप में दण्ड लेकर ब्रह्म ही चलता है, संसार में नानारूप धारण करके ब्रह्म ही सर्वत्र विराजमान है। शास्त्र में और अनेक प्रमाण हैं।

कठश्रुति में भी लिखा है कि :—

ऋतं पिबन्तो सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्द्धे।
छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः ॥

अर्थ=इस शरीर में दो चेतन सत्ता हैं, उनमें से एक स्वकृत कर्मों का फलभोग करती है और दूसरी कर्म फलों का भोग करती है। दोनों ही हृदयाकाश में बुद्धि गुहा में प्रविष्ट हैं। उनमें से एक संसारी और दूसरा असंसारी है। ब्रह्मवेत्तागण और गृहस्थगण उन दोनों को छाया और आतप की तरह परस्पर विभिन्न कहते हैं।

वेद में आत्मा को :—

"अणोरणीयान् महतो महीयान्"

अर्थ—आत्मा अणु से भी अधिक सूक्ष्म है और महत् से भी अधिक महत् महीयान् विभु है इस प्रकार से वर्णन किया गया हैं।

पञ्चदशीकार ने इस विषय में लिखा है कि :—

अविद्यावशगस्त्वन्यस्तद्वैचित्र्यादनेकधा ।
सकारणशरीरंस्यात्प्राज्ञस्तत्राभिमानवान् ॥

अर्थ=अविद्यायुक्त प्रकृति जिसपर आत्मा का प्रतिविम्व पड़ता है उसी को कारण शरीर कहते हैं। जीव उसी अविद्यामयी प्रकृति के साथ अभिमान द्वारा संयुक्त होकर अपने स्वरूप को भूल जाता है और अपने को प्रकृतिवत् मानने लगता है। यहीं जीवका प्रथम वन्धन प्रारम्भ होता है। कारण शरीर के भलीभांति समझने के लिये कई एक आवश्यकीय विषयों के जानने की आवश्यकता है।

सच्चिदानन्दमय कारण ब्रह्म और ब्रह्मप्रकृतिस्वभावजन्य कार्य्य ब्रह्म तीसरा अधिदैव है।

छान्दोग्योपनिषद् में लिखा है कि :—

पुण्यकर्मानुष्ठान से ब्राह्मणादि अपुण्य से शूकरादि योनि की प्राप्ति—

"तद्य इह रमणी याचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन्
ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिय योनिं वा वैश्ययोनिं वाथ प इह
कपूयाचरणा अभ्याशोह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन् श्वयोनिं
वा शूकरयोनिं वा चाण्डालयोनिं वा"

अर्थ=पुण्यमय कर्मानुष्ठानकारी मनुष्य पुण्यमय योनि अर्थात् ब्राह्मणयोनि या क्षत्रिय योनि या वैश्ययोनि को प्राप्त करता है और पापाचरणकारी मनुष्य गर्हित योनि को प्राप्त करता है, यथा-कुक्कुरयोनि, शूकरयोनि या चाण्डालयोनि को प्राप्त करता है। हिन्दु-शास्त्र में मनुष्यादि उन्नतयोनियों से इस प्रकार वेदकथित मूढ़योनि प्राप्ति के विषय में अनेक इतिहास भी मिलते हैं, भरतमुनि की मृगयोनि प्राप्ति और नहुप की सर्प योनि प्राप्ति आदि। उसके सिवाय पुण्य कर्म के फल से स्वर्गादि लोकप्राप्ति की तरह पाप कर्म के फल से नरकादि प्राप्ति भी मनुष्यों को होती हैं।

आनन्दा नाम ते लोका अन्धेन तमसावृता: ।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥ (श्रुति में)

अर्थ=आत्महननकारी पापीगण घोर अन्धकारपूर्ण अनन्दानामक दुःखमयनरक में गमन करते हैं।

"अङ्गप्रत्यङ्गनिर्वृत्तिः स्वाभावादेव जायते" (सुश्रुत में)

अर्थ=प्राक्तन कर्मार्जित स्वभाव के अनुसार ही स्थूल शरीर का अङ्ग प्रत्यङ्ग निर्माण होता है।

जाति आयु आदि के विषय में योगदर्शन में लिखा है कि :-

"सतिमूले तद् विपाको जात्यायुर्भोगः"

अर्थ=प्रारब्ध कर्म के मूल में रहने से उसी के ही परिणामरूप जाति, आयु और भोग जीव को मिलते हैं। जिस श्रेणी का प्रारब्ध कर्म होता है, उसी तरह की जाति में जीव का जन्म होता है, उतनी ही आयु जीव को प्राप्त होती है जितनी आयु में प्रारब्ध भोग हो और भोग भी प्रारब्ध के अनुसार ही अच्छा या खराब मिलता है।

• १८—अठरहवां जीव तत्त्व प्रकरण समाप्त •

सृष्टि स्थिति प्रलय तत्त्व प्रकरणम्

पहले कुछ नहीं था। परमात्मा से सृष्टि कैसे हुवी —

जब कुछ नहीं था—इस विषय में वेदादि समस्त शास्त्रों की एक वाक्यता है, यथा ऋग्वेद में :—

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमापरोयत्।
किमावरीवः कुहकस्य शर्मन्नम्भः कि या सीद् गहनं गभीरम्॥
न मृत्युरासीद मृत न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत एकेतः।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्नपरः किं च नास॥
तम आसीत् तमसा गूढमग्रऽमकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।
तुच्छयेनाभ्यपि हितं यदासीत्तपसस्तन्महिमा जायतैकम्॥

अर्थ=सृष्टि के पहले असत् नहीं था, सत् नहीं था, रजो मूलक क्रिया कार्य नहीं था, आकाश नहीं था और उससे परे भी कुछ प्राकृतिक पदार्थ नहीं था। सत् असत् दोनों का अभाव होने से आवरक तथा आवरण योग्य कोई भी पदार्थ नहीं था। गहन और गंभीर नैमित्तिक प्रलयकालीन जल भी नहीं था। मरण और अमरण दोनों ही नहीं था और रात्रि तथा दिन का ज्ञान भी नहीं था। केवल निज हृदय में लवलीन माया के साथ अद्वितीय ब्रह्म एकाकी थे उनके सिवाय और कुछ भी नहीं था। प्रलयकाल में समस्त ब्रह्माण्ड में प्रगाढतम था, अज्ञानमयी अव्याकृत प्रकृति ब्रह्म में विलीन थी, सर्वत्र तम से आच्छादित था और कुछ भी नहीं था। तदनन्तर परमात्मा के तप की ही महिमा थी जिससे समस्त संसार का विकाश हुवा है।

ऐतरेयोपनिषद् में लिखा है कि :—

आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत्किञ्चनमिषत्।"

अर्थ=सृष्टि के पूर्व अद्वितीय आत्मा ही था, व्यापारवान् और कोई भी वस्तु नहीं थी।

आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः॥ (मनुसंहिता)

अर्थ—प्रलयदशा में समस्त ब्रह्माण्ड घोर तमोगुण में आच्छन्न रहता है। वह अवस्था

सर्वथा अप्रत्यक्ष, अननुमेय, शब्द के द्वारा भी अप्रकाशनीय, अविज्ञेय तथा क्रियाऽभाव के कारण गाढसुषुप्ति समाच्छन्न की तरह रहता है।

नाहो न रात्रिर्न नभो न भूमिर्नासीत्तमो ज्योतिरभून्न चान्यत्।
श्रोत्रादिबुद्धचनुपलभ्यमेकं प्राधानिकं ब्रह्म पुमांस्तदासीत्॥ (विष्णुपुराणे)

अर्थ=प्रलयावस्था में दिन, रात्रि, आकाश, भूमि, अन्धकार, प्रकाश या और कुछ भी नहीं था। इन्द्रिय तथा मन बुद्धि से अगोचर एक मात्र ब्रह्म पुरुष ही उस समय विराजमान थे। सृष्टि कैसे हुयी-श्रुति में लिखा है कि—

सोऽकामयत वहुस्याम् प्रजा ये येति। स तयोऽतप्यत॥
यस्य ज्ञानमयं तपः तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽन्नमभिजायते॥

अर्थ=परमात्मा ने इच्छा की कि मैं एक से बहुत हो जाऊँ और प्रजावों की सृष्टि करूँ, इस प्रकार इच्छा करके परमात्मा ने तप किया। उनका तप ज्ञानरूप ही है, साधारण तपश्चर्या नहीं है। ज्ञानमय तप के अनन्तर ब्रह्म में ईश्वरभाव का अभिनिवेश हुवा जिससे प्रलयविलीन ब्रह्माण्ड प्रकृति में अव्याकृत से व्याकृतावस्था की सूचना हुवी इस तरह से अद्वितीय परमात्मा की इच्छा से उनकी शक्ति रूपिणी प्रकृति का विकाश होता है और तदनन्तर त्रिगुणमयी प्रकृति के गुणस्पन्दन द्वारा क्रमशः ब्रह्माण्ड सृष्टि का विकाश होता है। विविध शक्तियों का मूल केन्द्र शक्तिमान् परमात्मा को ही माना गया है। यथा श्रुति में लिखा है कि :—

"ब्रह्मणः सकाशान्नानाविचित्र जगन्निर्माणसामर्थ्यं वृद्धिरूपा ब्रह्मशक्तिरेव प्रकृतिः"

अर्थ=जिसमें विचित्र जगन्निर्माण सामर्थ्य है और जो ब्रह्म से ही उत्पन्न होती है उस ब्रह्मशक्ति को प्रकृति कहते हैं। समस्त शक्तियों के केन्द्र रूप में शक्तिमान् को ही माना है :—

चिच्छक्तिर्ब्रह्मणोंराम। शरीरेषूपलभ्यते।
स्पन्द शक्तिश्च वातेषु दाढर्यशक्तिस्तथोपले॥
द्रवशक्तिस्तथाम्भःसु दाहशक्तिस्तथाऽनले।
शून्यशक्तिस्तथाकाशे नाशशक्तिर्विनाशिनि॥ (योगवाशिष्ठे)

अर्थ=जीव शरीर में चेतनशक्ति, पवन में स्पन्द शक्ति, प्रस्तर में काठिन्य शक्ति, जल में द्रवशक्ति, अग्नि में दाहिका शक्ति, आकाश में शून्य शक्ति तथा विनाशी में नाशशक्ति ये सभी परमात्मा से स्वतः निर्गत माया के आश्रय से अभिव्यक्त शक्ति समूह हैं। प्रथम पुरुष ब्रह्मा प्रकट होते हैं, श्रुति ने कहा है :—

"ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव विश्वस्य कर्ता भुवनस्यगोप्ता।"
"हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वम्"
"यो वैब्रह्माणं विदधाति पूर्वम्।"

अर्थ=समस्त दैवी सृष्टि के पहले विश्वकर्ता भुवनपालक ब्रह्मा प्रकट हुवे। परमात्मा ने ब्रह्मा को ही प्रथमतः प्रकट किया। अतः पर ब्रह्माजी ने उसी चेतन शक्ति से युक्त व्याकृतावस्था प्रकृतिपर अधिष्ठान करके अपनी क्रिया शक्ति के बहुधा संयोग द्वारा उसी अण्ड को स्थूल-सूक्ष्मरूप से द्विधा विभक्त किया जिससे स्वर्गलोक भूलोक और बीच में अन्तरीक्ष लोकादि क्रम से समस्त ब्रह्माण्डों का विकाश हुवा। इस प्रकार से सृष्टि के पहले ब्रह्माजी प्रकट होते हैं। निर्गुण निष्क्रिय ब्रह्मभाव में प्रकृति के विलीन रहने से महा प्रलय के समय गुणत्रयों की साम्यावस्था रहती है। इसलिये उस समय प्राकृतिक किसी गुण के साथ परमात्मा का अभिनिवेश नहीं रहता है। यही कारण है कि, प्रलयकाल में त्रिगुण प्रेरक ब्रह्मा, विष्णु तथा रुद्रशक्ति ब्रह्मभाव में विलीन रहती है। परन्तु प्रलयानन्तर जिस समय प्राकृतिक प्रेरणा से ब्रह्मभाव में ईश्वरभाव का समावेश होने लगता है उसी समय प्राकृतिक तीनों गुणों के सम्पर्क से परमात्मा में युगपत् त्रिशक्ति की पृथक्-पृथक् सत्ता प्रकट होने लगती है जिससे ब्रह्मा विष्णु और रुद्र–तीनों ही एक साथ परमात्मा से उत्पन्न हो जाते हैं। क्रिया रजोगुण का धर्म है और सृष्टि के लिये प्रथम क्रियाशक्ति की अभिव्यक्ति ही प्रयोजनीय है, इसलिये क्रियाशक्ति के केन्द्ररूप ब्रह्मा का प्रकट होना प्रथम बताया गया है। परन्तु वास्तव में ब्रह्म, विष्णु, रुद्र–ये तीनों शक्तियाँ ही साथ-साथ उत्पन्न होती हैं, क्योंकि उत्पत्ति के साथ ही साथ स्थिति और लय की क्रिया प्राकृतिक रूप से सम्मिलित है। केवल प्रथम दशा में उत्पत्ति क्रिया के ही अभिव्यक्ति होने से पितामह ब्रह्मा का प्रकट होना सर्व–प्रथम कहा गया है। जिस प्रकार शरीर के बीच में स्थित होने से नाभि शरीर के उद्ध्व भाग तथा अधोभाग की समता का विधान करती है और सृष्टि का भी केन्द्र स्थान है, इसी प्रकार महाविष्णु के नाभिदेश से उत्पन्न होने के कारण ही ब्रह्मा जी में सृष्टि करने की शक्ति उत्पन्न हुवी थी और वे उस अण्ड को द्विधा विभक्त करके ब्रह्माण्ड शरीर के ऊद्ध्वं भाग तथा अधो भाग को ठीक-ठीक निम्र्माण तथा सामञ्जस्य-युक्त किये थे। यहीं नाभि से ब्रह्माजी के उत्पन्न होने का रहस्य है। श्रुति में लिखा है कि :—

"शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः पृथिवी गुणाः।
शब्दस्पर्शरूपरसा अपां गुणाः।
शब्दस्पर्शरूपाण्यग्नेर्गुणाः॥
शब्दस्पर्शाविति वायुगुणौ॥
शब्दमेकमाकाशस्य॥"

अर्थ=आकाश का गुण केवल शब्द है, वायु के गुण शब्द और स्पर्श हैं, अग्नि के गुण शब्द,स्पर्श और रूप हैं, जल के गुण शब्द, स्पर्श, रूप और रस हैं। पृथ्वी के गुण शब्द, स्पर्श, रूप रस और गन्ध हैं। जैसा कि शास्त्र में कहा है :—

पुण्य और पाप अति उग्र होने से शीघ्र फल—

त्रिभिर्वर्षैस्त्रिभिर्मासैस्त्रिभिः पक्षैस्त्रिभिर्दिनैः।
अत्युत्कटैः पापपुण्यैरिहैव फलमश्नुते।

अर्थ=पाप अथवा पुण्य कर्म अति उग्र होने से इसी जन्म में तीन वर्ष, तीन मास, तीन पक्ष अथवा तीन दिन में उसका फल मिलता है। दूसरी ओर विवर्त्त और परिणाम सृष्टि

पुरुष और प्रकृति से सम्बन्ध रखती है, क्योंकि वह समष्टि रूप ब्रह्माण्ड सम्बन्धीय है। आनन्द प्रकाश के लिये जो सृष्टि की भावना होती है जिसका वर्णन पहले हो चुका है, वही विवर्त्त सृष्टि का कारण है और त्रिगुणमयी प्रकृति के स्वाभाविक, परिणाम के अनुसार सहज कर्म के द्वारा जो चिज्जडग्रन्थि बँधकर जीव सृष्टि का प्रवाह ब्रह्माण्ड में चलता रहता है वही परिणाम सृष्टि कहाती है।

महर्षियाज्ञवल्क्य जी ने कहा है कि :—

"प्रजापीडन-सन्तापात् समुद्भूतो हुताशनः।
राज्यं कुलं श्रियं प्राणाँश्चऽदग्ध्वा न निवर्त्तते ॥"

अर्थ=राजा यदि प्रजा की रक्षा न करके उसको पीडित करे, तो प्रजा पीडन रूपी सन्ताप से उत्पन्न अग्नि राज्य, कुल, श्री और राजा के प्राणतक को जलाये विना निवृत्त नहीं होती है। इसी प्रकार सकल वर्णो और सकल आश्रमों के लिये धर्मानुकूल कर्तव्य का पालन ही रक्षा तथा उन्नति का मूल मन्त्र है; अन्यथा नाश अवश्यम्भावी है। यही चेतन-जगत् में जगत् की रक्षा करने वाली शक्ति का अनुपम धर्म का कार्य है जो शक्ति स्थूल जगत् में आकर्षण-विकर्षण रूप से कार्य करती है वही शक्ति सूक्ष्म जगत् में अर्थात् मनो जगत् में रागद्वेष-रूप से कार्य करती है।

कला काष्ठा मुहूर्त्त तथा ब्रह्मा के दिन रात्रि का निर्णय—

"काष्ठाः पञ्चदश ख्याता निमेषा मुनिसत्तम।
काष्ठास्त्रिंशत्कलास्तास्तु त्रिंशन्मौहूर्तिकोविधिः॥
तावसंख्यैरहोरात्रं मुहूर्तैर्मानुषं स्मृतम्।
अहोरात्राणि तावन्ति मासः पक्षद्वयात्मकः॥
तैः षड्भिरयनं वर्षं द्वेऽयने दक्षिणोत्तरे।
अयनं दक्षिण रात्रिर्देवानामुत्तर दिनम्॥
दिव्यैर्वर्ष सहस्रैस्तुकृतत्रेतादिसंज्ञितम्।
चतुर्युगं द्वादशभिरतद् विभागं निबोध मे
चत्वारि त्रीणिद्वे चैकं कृतादिषु यथाक्रमम्।
दिव्याब्दानां सहस्राणि युगेष्वाहुः पुराविदः॥
तत्प्रमाणैः शतैः सन्ध्या पूर्वा तत्राभिधीयते।
सन्ध्यांशकश्च तत्तुल्यो युगस्थानन्तरोहिसः॥
सन्ध्यासन्ध्यांशयोरन्तर्यः कालो मुनिसत्तम।
युगाख्यः स तु विज्ञेयः कृतत्रेतादि संज्ञितः॥ (विष्णु पुराणे)

अर्थ=पन्द्रह निमेषों में एक काष्ठा होता है तीस, काष्ठावों में एक कला होती है, तीस कलावों में एक घटिका और दो घटिकावों में एक मुहूर्त्त होता है। तीस मुहूर्त्तों में मनुष्य लोक का एक अहोरात्र होता है और तीस अहोरात्रों में पक्षद्वयात्मक मास होता है, छः मासों में एक अयन और उत्तर दक्षिण नामक दो अयनों में एक वर्ष होता है। दक्षिणायन देवतावों की रात्रि और उत्तरायण देवतावों का दिन है। इस प्रकार से दैव दिवा रात्रि के हिसाब से दैव

द्वादश सहस्र वर्षों में सत्य त्रेता द्वापर कलि—ये चार युग होते हैं इनके विभाग इस प्रकार के हैं। सत्यादि चार युगों का परिमाण यथा क्रम चार, तीन-दो और एक सहस्र वर्ष है। प्रत्येक युग के पूर्व सन्ध्या का परिमाण यथाक्रम चार, तीन, दो और एक सौ वर्ष है और सन्ध्यांश भी उतना ही है। सन्ध्या और सन्ध्यांश का मध्यवर्ती (बीच का) जो काल है वह सत्यादि चार युग है। इस हिसाब से मानवीय परिमाण के अनुसार १७२८००० वर्ष का सतयुग, १२९६००० वर्ष का त्रेता युग, ८६४००० वर्ष का द्वापर युग और ४३२००० वर्ष का कलियुग होता है। ब्रह्मा के एक दिन में १४ मनु होते हैं। उनका कालपरिमाण इस प्रकार है। सप्तर्षि गण, सुरगण, इन्द्र, मनु और उनके पुत्र नृपगण सब एक ही काल में उत्पन्न और एक ही काल में विनष्ट होते हैं। कुछ अधिक ७१ चतुर्युगों में मनु और सुरगणों का काल है जिसको मन्वन्तर कहते हैं।

दिव्य संख्या में मन्वन्तर का परिमाण अष्ट लक्ष द्विपञ्चाशत् सहस्र (८५२०००) वर्ष है। मानुषी संख्या में उसका परिमाण त्रिशत् कोटि सप्तषष्टिलक्ष विंशति सहस्र (३०६७२००००) वर्ष है। इस काल का चतुर्दश गुण एक ब्राह्म दिन है। इसके अन्त में ब्रह्मा की रात्रि होती है जिसमें नैमित्तिक प्रलय हो जाता है ब्रह्मा की जाग्रद्दशा में उनकी प्राण-शक्ति की प्रेरणा से ब्रह्माण्ड का चक्र चलता है। इसलिये जैसे निद्रा के समय इन्द्रियां निश्चेष्ट हो जाती हैं वैसे ही ब्रह्मा के निद्रा के समय समस्त ब्रह्माण्ड में क्रिया बन्द हो जाती है। इसी को नैमित्तिक प्रलय कहते हैं।

उस समय भूर्भुवः स्वः ये तीन लोक दग्ध हो जाते हैं और महर्लोक के निवासिगण ताप से पीडित होकर जनलोक में चले जाते हैं।

• १९—उन्नीसवाँ सृष्टिस्थितिप्रलय तत्त्व प्रकरण समाप्त •

वर्ण धर्म प्रकरणम्

आर्य जाति और अनार्य्य जाति निर्णय—

आर्य जाति के लक्षण के विषय में शास्त्र में अनेक प्रमाण मिलते हैं—

उभयोपेताऽऽर्य्य जातिः।
तद्विपरीताऽनार्य्याः । (कर्म मीमांसा में)

अर्थ=जो जाति चतुर्वर्ण धर्म्म और चतुराश्रम धर्म से युक्त है वही आर्य जाति है। वर्णाश्रमधर्म्म विहीन जाति अनार्य्य जाति है। इसके सिवाय धात्वर्थ और गुणानुसार भी आर्य जाति के अनेक लक्षण होते हैं। यथाः—गमन या व्याप्ति अर्थ के 'ऋ' धातु से ण्यत् प्रत्यय द्वारा आर्य शब्द के बनने के कारण वेदों के भाष्यकार सायणाचार्य ने आर्य जाति का यही लक्षण किया है कि जो जाति पृथिवी के अनेक स्थानों में जाकर अपनी कीर्तिध्वजा की स्थापना करती थी, वही आर्य जाति है।

म्लेच्छाश्चाऽन्ये बहुविधाः पूर्वं ये निकृंतारणे ।
आर्याश्च पृथिवीपालाः ।

अर्थ=पूर्व काल में वहुत प्रकार की अनार्य जाति को युद्ध में परास्त करके जो जाति पृथिवी की अधिपति हो गयी थी वही आर्य जाति है। यास्क मुनि ने अपने प्रणीत निरुक्त ग्रन्थ में लिखा है किः—

आर्य ईश्वर पुत्रः ।

अर्थ=ईश्वर-पुत्र को आर्य कहते हैं। इस प्रकार आर्य जाति का लक्षण वर्णन करके उल्लिखित वीरता के अतिरिक्त आध्यात्मिक पूर्णता का भी प्रमाण आर्य जाति के लिये प्रदर्शित किया है। तदनुसार किसी किसी ने 'ऋ' धातु का अर्थ इस प्रकार भी वर्णन किया है। यथाः—

अर्तुं सदाचरितुं योग्यः इति आर्यः ।

अर्थ=इस लक्षण के अनुसार न्याय पथ पर चलने वाली, सदाचारशील, कर्त्तव्य परायण जाति ही आर्य जाति है ऐसा सिद्ध होता है।

योऽहमार्येण परवान् भ्रात्रा ज्येष्ठेन भामिनि । (वाल्मीकि रामायणे)

अर्थ=इस प्रकार कह कर महर्षि वाल्मीकि ने आर्य शब्द के उपर्युक्त लक्षणों का ही निर्देश किया है। स्मृति में आर्य जाति का निम्नलिखित लक्षण वर्णन किया है किः—

कर्त्तव्य मा चरन् काममकर्त्तव्यमना चरन् ।
तिष्ठति प्राकृताचारे स तु आर्य इतिस्मृतः ॥

अर्थ=वर्णाश्रमानुकूल कर्त्तव्य परायण, अकर्त्तव्य विमुख, आचारवान् पुरुष ही आर्य है। अतः उपर्युक्त समस्त लक्षणों को मिलाकर यह सिद्धान्त हुवा कि जो जाति सदाचार सम्पन्न, सकल विषयों में आध्यात्म लक्ष्य युक्त, दोष रहित और चतुर्वर्ण तथा चतुराश्रम धर्म परायण है वही जाति आर्य्य जाति की ही प्राचीन निवास भूमि है जिसके लिये ऋग्वेद के प्रथम, तृतीय, चतुर्थ आदि मण्डलों में आर्य्य जाति की गुण कथा वर्णित की गयी है।

यथा :—ऋग्वेद के तृतीयाष्टक के प्रथमाध्याया में लिखा है कि:—

अहं भूमिमददामार्या याहं वृष्टि दाशुषे मर्त्यायेति ।

अर्थ=वामदेव ऋषिने स्वरूपस्थित होकर कहा कि "मैंने प्रजापति रूप होकर आर्य अङ्गिरा—को भूमिदान किया और इन्द्र रूप होकर यज्ञ करने वाले मनुष्यों को वृष्टिदान किया।" इस प्रकार भगवान् के निःश्वास रूपी अनादि वेद में भी आर्य जाति की गौरव कथा देखने में आती है। आर्य्य जाति का आदि निवास स्थान भारतवर्ष है अपने देश मे विदेशी बनना केवल धर्म और शास्त्र विरुद्ध ही नहीं है अधिकन्तु युक्ति और वुद्धिमत्ता से भी विरुद्ध है। हिन्दु शब्द वहुत ही गौरवान्वित शब्द है और हिन्दु जाति करके आर्य जाति को ही समझना चाहिये।

हीनं च दूषयत्येव हिन्दुरित्युच्यते प्रिये । (मेरुतन्त्र में)

अर्थ=हीनता के विरोधी उच्च गौरवान्वित जाति ही हिन्दु जाति है ऐसा कहकर

हिन्दु जाति की परम प्रतिष्ठा की गयी है और इसी सिद्धान्त के अनुसार इस ग्रन्थ में हिन्दु व आर्य शब्द एकार्थ वाचक रूप से व्यवहृत हुवे हैं।

भारत आकाश में अज्ञान की घनघटा आच्छन्न होने से ज्ञान सूर्य विलुप्त प्राय हो गया है इससे वर्तमान भारतवासियों के हृदय से उनके प्राचीन पितृ पितामह पुण्य श्लोक आर्यगण की गौरवस्मृति दिन प्रतिदिन नष्ट होकर नवीन विदेशीय जाति की अकिञ्चित्कर गौरव कहानी उनके चित्त पर प्रभाव जमा रही है जिसका यह विषमय फल देखने में आ रहा है, कि स्वाधीन सन्धान प्रवृत्ति नष्ट हो कर अनुकरण प्रवृति बढ रही है और इसी से हिन्दु जाति का अधःपतन हो रहा है। इसलिये वर्तमान प्रवन्ध में प्राचीन आर्य गौरव की स्मृति दिला कर उसी के साथ आर्य और अनार्य्य की पृथक्ता बतायी जायगी। पाश्चात्य मनस्वी मोक्षमूलर साहव ने कहा है कि "जो जाति अपने प्राचीन गौरव इतिहास और साहित्य से अपने को गौरवान्वित नहीं समझती वह अपने जातीय जीवन के प्रधान आश्रय को नष्ट कर डालती है जिस समय जर्मन जातिराज नैतिक अवन्नति के अन्धकूप में निमग्न हो गयी थी उस समय उसने उपायान्तर न देख कर अपने ही प्राचीन साहित्य पर दृष्टि डाली थी और उसी अतीत की आलोचना द्वारा उसकी भावी आशालता फल फूलों से सुशोभित हो गयी थी जो जाति अपने प्राचीन पुरुषों के गौरव को भूल जाती है या उनके प्रतिदोष-दृष्टि परायण हो जाती है वह जातीय जीवन में कदापि उन्नति नहीं कर सकती। दुर्भाग्य है हमारा कि हम अपने प्राचीन पुरुषों की जीवनचर्य्या को छोड़कर किसी विदेशीय जाति का अनुकरण करते हैं और उसी में अपना गौरव और उन्नति समझते हैं।

येनाऽस्य पितरो याता येन याताः पितामहाः।
तेन यायात् सतां मार्गं तेन गच्छन्न रिष्यति ॥

अर्थ=पिता, पितामह आदि के द्वारा प्रदर्शित पथ ही उत्तम पथ है। उसी के अवलम्बन से कोई विपति भी नहीं होती है अतः अपनी उन्नति के लिये हमें प्राचीन आर्य पुरुषों की सर्वतो मुखिनी महिमा पर अवश्य ही ध्यान देना चाहिये।

धर्मशास्त्र में सती के लिये मृतपति के साथ सहमृता होने तक की आज्ञा दी गयी है। प्राचीनकाल में इस प्रकार की आज्ञा का पूर्णतया प्रतिपालन हुवा करता था। ऋग्वेद के दशम मण्डल में अष्टादश सूक्त के अष्टम् ऋक् में संकुशक ऋषि ने पति के वियोग से कातरा सहगमन के लिये उद्यता किसी स्त्री को लक्ष्य करके कहा है कि:—

उदीर्ष्व नार्यभिजीवलोक मितासुमेतमुपशेष एहि।
हस्ताग्राभस्य दिधिषोस्त्ववेदं पत्युर्जनित्यमभि सम्वभूव ॥

अर्थ=हे स्त्री। संसार की ओर लौट जावो उठो तुम जिसके साथ सोने को जा रही हो वह मृत हो गया है इसलिये उसके साथ तुम्हारा गर्भाधानादि कार्य समाप्त हो गया है। अब घर में वालवच्चों को लेकर रहो इस मन्त्र से यही भावार्थ निकलता है कि स्त्री सहमरण में जाना चाहती है और लोग उसे निवृत कर रहे हैं। राजा पाण्डु की मृत्यु से माद्री का सहमरण, इत्यादि आर्य्यरमणी की पूर्णता के ज्वलन्त दृष्टान्त यहाँ पर ही मिलेंगे। अतः प्राचीन आर्य जाति की आध्यात्मिक उन्नति की पूर्णता सर्व वादि सम्मत है। प्राचीन आर्य-

जाति में मानसिक उन्नति कितनी हुवी थी आर्य जाति के व्यवहारिक जीवन पर पर्यालोचना करने से उसका स्वरूप पूर्णतया प्रकट होगा। जहाँ पर हरिश्चन्द्र जैसे महात्मा सत्य रक्षा के लिये राज्य, धन, स्त्री पुत्र तक को उत्सर्ग कर के चाण्डाल का दासत्व कर सकते हैं, जहाँ पर शरणागत पक्षी तक की रक्षा के लिये शिविराजा अपने शरीर को खण्ड-खण्ड कर-करके काट दे सकते हैं, जहाँ पर आसुरी शक्ति को दमन करने के लिये महर्षि दधीचि अपने अस्थि तक को प्रदान कर सकते हैं, जहां पर मयूरध्वज जैसे गृहस्थ अतिथिसत्कार की पराकाष्ठा का आदर्श स्थापन करने के लिये स्त्री-पुरुष मिलकर अपने बालक के शरीर के सिर से पैर तक दो टुकड़े कर सकते हैं, जहाँ पर पिता राजा दशरथ के सत्य-प्रति पालन के लिये श्री रामचन्द्र जटा धारण करके वनवासी हो सकते हैं, जहाँ पर पिता की तृप्ति के लिये भीष्मदेव आजीवन ब्रह्मचारी रह सकते हैं, जहाँ पर समस्त राज्य से च्युत होकर वनवास क्लेश सहन करने पर भी महाराज युधिष्ठिर सत्य की मर्यादा को नहीं भूल सकते हैं, वहाँ की जातियों में मानसिक, नैतिक तथा चरित्र सम्बन्धीय कितनी उन्नति हुयी थी सो सामान्य पुरुष भी विचार कर निर्णय कर सकेंगे। प्राचीन आर्यजाति की उदारता सरलता, सत्यप्रियता, साहसिकता, शिष्टाचार सदाचार, दया, परोपकार वृत्ति आदि सभी दैवी सम्पतियाँ संसार में आदर्श रूप हैं।

वर्णाश्रम धर्म पालन का फल निर्णय—

प्रवृति रोधको वर्णधर्मः।
निवृत्तिपोषकश्चाऽपरः । (कर्म मीमांसा दर्शन में)

अर्थ=वर्ण धर्म प्रवृतिरोधक है और आश्रमधर्म निवृत्ति पोषक है। जो जाति वर्ण तथा आश्रम दोनों धर्मों से युक्त हो वही आर्य जाति है। इससे विपरीत अर्थात् वर्णाश्रम—धर्म विहीन जाति अनार्य जाति है। जिस प्रकार प्रवृति का निरोध करके मनुष्य को वर्ण धर्म नीचे जाने से रोकता है, उसी प्रकार आश्रमधर्म भी निवृत्तिभाव को बढाकर जीव को आध्यात्मिक उन्नति की पराकाष्ठा तक पहुँचाकर मुक्ति पद प्रदान करता है। ब्रह्मचर्याश्रम में संयम के साथ धर्म मूलक प्रवृत्ति की शिक्षा के अनन्तर, गृहस्थाश्रम में भावशुद्धि-पूर्वक प्रवृति के पालन से जब निवृत्ति का उदय होने लगता है, तब वानप्रस्थाश्रम में तपस्या के द्वारा शरीर और मन को शुद्ध करके निवृत्ति के अभ्यास की पूर्णता में निवृत्ति के चरम आश्रम संन्यास को मनुष्य प्राप्त करते हैं। इसी प्रकार से पूर्ण निवृत्ति की प्राप्ति होने से जीव को निःश्रेयस लाभ होता है।

उपनिषद् में लिखा है कि :—

नकर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैकेऽमृतत्वमानशुः।

अर्थ=सकाम कर्म, सन्तान या धन के द्वारा नहीं, किन्तु त्याग के द्वारा ही अमृतत्व की प्राप्ति होती है। जिस जाति में आश्रमधर्म का ठीक-ठीक प्रतिपालन होता है, वह जाति स्वाभाविक प्रवृत्ति बाधा को दूर करके अवश्य ही निवृत्ति की पूर्णता में मुक्ति पद को प्राप्त कर सकती है, परन्तु जिस जाति में आश्रमधर्म का प्रचार नहीं है, वह तो निवृत्ति भाव के पोषण न होने से दिन व दिन प्रवृत्ति के अन्धकूप में डूबती जाती है जिससे उसकी जातीयता का नाश अधःपतन और अन्त में अस्तित्व तक का नाश हो जाता है। जिस जाति में आश्रम-

धर्म्म नहीं है वह जाति कभी आध्यात्मिक मार्ग में उन्नति नहीं कर सकती और न निवृत्ति मूलक आर्यभाव को ही स्थिर रखने में समर्थ हो सकती है। आश्रम धर्म के दुर्बल होने से आर्यजाति आज हीन दशा को प्राप्त हो रही है और इसमें से निवृत्ति का भाव दूर होकर इस में दिन प्रति दिन विलास वुद्धि और पाशविक भाव वढ रहा है। आश्रमधर्म के नष्ट होने से यह जाति अपनी आर्यता से गिर कर अनार्य वन जायगी। अतः आर्य जाति की जातीयता की रक्षा के लिये आश्रमधर्म का प्रतिपालन करना आवश्यक है और यही अनार्य जाति से आर्य जाति की विशेषता का अन्यतम लक्षण है।

आचार्यो ब्रह्मणो मूर्तिः पिता मूर्तिः प्रजापतेः।
भ्राता मरुत्पतेर्मूर्तिर्मातासाक्षात्क्षितेस्तनुः।
दयाया भगिनी मूर्तिधर्मस्यात्माऽतिथिः स्वयम्।
अग्नेरभ्यागतो मूर्तिः सर्वभूतानि चात्मनः॥

अर्थ=आचार्य ब्रह्म की मूर्ति पिता प्रजापति की मूर्ति, भ्राता पवन देवता की मूर्ति और माता साक्षात् पृथिवी की मूर्ति है। भगनीदया की मूर्ति, अतिथि स्वयं धर्म रूप अभ्यागत अग्नि की मूर्ति और समस्त जीव आत्मा के रूप हैं। यहीं आर्य जातीय प्रीति तथा पारिवारिक सम्वन्ध के मूल में दिव्य भाव का समावेश है। आर्य जाति का स्वदेश और स्वजाति-वात्सल्य पाश्चात्य जातियों की तरह उपधर्म रूप से निन्दित नहीं हुवा है और इसमें अभिमान वाह्य आडम्वर पर जाति के प्रति विद्वेष परदेश पीडन आदि कलंक नहीं लगे हुवे हैं। आर्य जाति का स्वजाति तथा स्वदेश वात्सल्य परजाति विद्वेष मूलक नहीं है, किन्तु स्वजाति प्रेममूलक है। महर्षि भरद्वाज जी ने कहा है कि :—

यज्ञ प्रधान पुरुष तप प्रधान नारी—

यागपरः पुरुषधर्म्मः।
तपः प्रधानो नार्य्याः।

अर्थ=यज्ञ प्रधान पुरुष धर्म्म और तपो धर्म प्रधान स्त्री जाति का धर्म है। इससे यही सिद्ध हुवा कि पुरुष जाति के जितने धर्म वताये गये हैं वे सव यज्ञ लक्षण से संयुक्त हैं और स्त्री जाति के जितने धर्म्म निश्चय किये गये हैं सो सव तप धर्म मूलक हैं।

"सतिमूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगः॥ (योगदर्शन सूत्र में)

अर्थ=दृष्ट और अदृष्ट जन्मों में भोगे जाने वाले कर्म्म संस्कारों के मूल में रहने से ही जीवों को व्राह्मण क्षत्रियादि जाति आयुः और भोग मिलता है।

पूर्व कर्मों के अनुसार शरीर निर्माण—

कर्म्मणा चोदितो येन तदाप्नोति पुनर्भवे।
अभ्यस्ताः पूर्वदेहे ये तानेव भजते गुणान्॥
अङ्ग प्रत्यङ्ग निर्वृत्तिः स्वभावादेव जायते।
अङ्ग प्रत्यङ्ग निवृत्तौ ये भवन्ति गुणाऽगुणाः॥
ते ते गर्भस्य विज्ञेया धर्म्माऽधर्म्म निमित्तजाः।
शुक्रशोणित संयोगे यो भवेद्दोष उत्कटः॥

प्रकृतिर्जायते तेन तस्या मे लक्षणं शृणु। (सुश्रुत में)

अर्थ=इन श्लोकों से तात्पर्य्य यह निकलता है कि पूर्व जन्म में मनुष्य जिस प्रकार का कर्म्म करता है अगले जन्म में उसी प्रकार के गुणों को प्राप्त करता है और केवल गुण ही नहीं प्रत्युत शरीर के प्रत्येक अङ्ग प्रत्यङ्ग भी पूर्व कर्मों के साथ सम्बन्ध रखते हैं, पूर्व कर्म में जिस प्रकार का गुण या दोष होता है शुक्र शोणित का संयोग भी ठीक वैसा ही होता है जिससे स्थूल शरीर का लक्षण भी कर्मानुकूल होने से वैसा ही होता है।

अपना आत्मा ही पुत्ररूप में उत्पन्न होता है—

आत्मा वै जायते पुत्रः अङ्गादङ्गात् सम्भवसि,
हृदयादधिजाय से, आत्मा वै पुत्रनामाऽसि। इत्यादि। (श्रुति में)

अर्थ=पुत्र आत्म रूप से उत्पन्न होता है, अङ्ग से अङ्ग वनता है, हृदय से हृदय वनता है, आत्मा (स्वयं) ही पुत्रनाम से उत्पन्न होता है इत्यादि। संसार में देखा जाता है कि प्रायः पिता की आकृति रंग और अभ्यास पुत्र में स्वतः ही हुआ करते हैं।

मन्त्रों का अशुद्ध उच्चारण नाश कर देता है—

दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥ (महाभाष्ये)

अर्थ=वेद-मन्त्र के शव्दों को उच्चारण करते समय स्वर से अथवा वर्ण से ठीक-ठीक उच्चारण न किया जाय या अस्तव्यस्त और अशुद्ध उच्चारण किया जाय तो वह वाग्वज्री यजमान को नाश करता है जैसे स्वर के दोष से इन्द्र शत्रु शव्द पर हुआ था।

क्या शुद्धि करने वाले लोग जिनको शुद्ध करते हैं, उनके शुद्ध मन्त्रोच्चारण के विषय में निश्चय कर सक्ते हैं। शास्त्रों में जो लिखा है किः—

स्त्री शूद्र को वेद मन्त्र के पढने में दोष—

स्त्री शूद्रौ नाऽधीयाताम्।

अर्थ=स्त्री और शूद्र वेद पाठ न करें। इन श्रुति के वाक्यों से स्त्री व शूद्रों को वेद में अधिकार नहीं दिया गया है।

वेदाऽक्षरविचारेण शूद्रश्चाण्डालतां व्रजेत्। (शास्त्रों में)

अर्थ=वेद मन्त्रों के अक्षरों का विचार करने से शूद्र चाण्डाल होता है इसमें ऋषियों का तथा ब्राह्मणों का पक्षपात नहीं, परन्तु शूद्रों पर उनकी दया है, इस वात को न जानकर आज कल के लोग उन्मत्तों की तरह प्रलाप किया करते हैं। और किसी-किसी अर्व्वाचीन पुरुष ने यह धृष्टता की है कि एक आधे मन्त्र वेद से उठाकर उसके अर्थ का अनर्थ कर, कह दिया कि वेद में शूद्र का अधिकार लिखा है यह सव भ्रममात्र है वेद में ऐसा कह नहीं लिखा है।

पूर्व्व जन्मार्ज्जित विद्याधनादि—

पूर्व्वजन्माऽर्ज्जिताविद्या पूर्व्वजन्माऽर्ज्जितं धनम्।
पूर्व्वजन्माऽर्ज्जितं पुण्यमग्रे धावति धावति॥

अर्थ=पूर्व्व जन्मार्जित विद्या, धन व पुण्य शीघ्र फल को देता है। इसलिये संस्कार के अनुसार उन्नति में प्रभेद रहे होगा। इसी के अनुसार ही वर्णव्यवस्था की विधि निर्देश की गयी है; अर्थात् पूर्व्वसंस्कार के अनुसार इस जन्म के पुरुषार्थ में कितनी उन्नति साधारण रीति से हो सक्ती है उसी को देखकर जान ले। महाभारत के शान्ति पर्व्व में लिखा है कि:--

जिस अवस्था में जैसा शुभ अशुभ कर्म किया उसी में फल अफल मिलता है--

वालोयुवा च वृद्धश्च यत्करोति शुभाऽशुभम्।
तस्यां तस्यामवस्थायां तत्फलं प्रतिपद्यते ।।

अर्थ=वाल्य, यौवन या वार्द्धक्य जिस-जिस अवस्था में जो जो पाप पुण्य कर्म किया जाय उस उस कर्म्म का फल उसी उसी अवस्था में मिलता है। इसलिये भिन्न-भिन्न अवस्था में भिन्न-भिन्न पाप पुण्य कर्मों के फल भोग होने से कोई नहीं कह सक्ता है कि किस कर्म का कव किस प्रकार का फल होगा। जव जैसा कर्म फल का समय भोगने के लिये आवेगा वैसा ही भोगेंगे। पूर्व संस्कार के कारण से ही पुण्यात्मा पापी वन जाते हैं पापी पुण्यात्मा वन जाते हैं आस्तिक नास्तिक वन जाते हैं और नास्तिक आस्तिक हो जाता है यही रहस्य है।

दैवे पुरुषकारे च कर्म सिद्धिर्व्यवस्थिता।
तत्र दैवमभिव्यक्तं पौरुषंयौर्वदैहिकम् ।। (याज्ञवल्क्य स्मृतिः)

अर्थ=(इष्ट या अनिष्ट) फल की प्राप्ति दैव (भाग्य) और पुरुष (अपने कर्म) से होती है इसमें दैव (भाग्य) इस जन्म में अल्प प्रयत्न से अधिक फल के रूप में। अभिव्यक्त पूर्व शरीर द्वारा किया गया कर्म होता है।

यथा ह्येकेन चक्रेण रथस्य न गतिर्भवेत्।
एवं पुरुषकारेण विनादैवं न सिद्धयति ।। (याज्ञ०)

अर्थ=जिस प्रकार एक पहिया से रथ नहीं चल सकता, उसी प्रकार पौरुष के विना भी भाग्य या दैव की सिद्धि नहीं होती है।

हिरण्य भूमि लाभेभ्यो मित्र लब्धिर्वरा यतः।
अतो यतेत तत्प्राप्त्यै रक्षेत्सत्यं समाहितः ।।

अर्थ=सुवर्ण और भूमि के लाभ से मित्र की प्राप्ति उत्कृष्ट है। अतएव मित्र की प्राप्ति के लिये यत्न करना चाहिये और सावधान होकर सत्य इस की रक्षा करनो चाहिये।

संकर वर्णों की शुद्धि का निर्णय—

जात्युत्कर्षो युगे ज्ञेयः सप्तमे पञ्चमेऽपि वा।
व्यत्यये कर्मणां साम्यं पूर्ववच्चाधरोत्तरम् ।। (याज्ञवल्क्यस्मृतिः)

अर्थ=मूर्धा व सिक्त आदि जातियों का सातवें या पाँचवे जन्म में (अर्थात् किसी जाति की कन्या अपनी से वड़ी जाति के पुरुप के साथ व्याही जाय उससे उत्पन्न कन्या भी उससे बड़ी जाति में व्याही जाय, इस प्रकार सातवीं पीढी में) जाति का उत्कर्ष होता है।

आपत्काल में दूसरी निम्न जाति का कर्म स्वीकार करने पर, आपत्काल समाप्त होने पर भी जो उस वृत्ति को नहीं छोड़ता उसकी जाति पाँचवीं या सातवीं पीढी में वही हो जाती है। (जिसका वह कर्म करता वही होता है) इन वर्ण संकरों में निम्न प्रतिलोमज होते हैं।

संकर वर्णों का संस्कार निषेध है—

शूद्रायां ब्रह्मणाज्जाता: श्रेयसा चेत्प्रजायते।
अश्रेयान् श्रेयसीं जातिं गच्छत्यासप्तमाद्युगात् ।। (मनु जी)

अर्थ=ब्राह्मण से शूद्र (शूद्र जाति के स्त्री में) उत्पन्न कन्या यदि ब्राह्मण के साथ व्याही जाय और आगे भी यही क्रम रहे तो वह अपनी सातवीं पीढी में अपनी नीच योनि से उद्धार पाकर ब्राह्मण हो जाती है।

जातो नर्यामनार्यायामार्या दार्यो भवेद्गुणैः।
जातोऽप्य नार्यादार्यायाऽनार्य इति निश्चय: ।।

अर्थ=ब्राह्मण से शूद्र कन्या में उत्पन्न पुत्रपाकादि यज्ञगुणों से युक्त होने के कारण श्रेष्ठ है। शूद्र से ब्राह्मण के कन्या में उत्पन्न पुत्र प्रति लोमज होने के कारण अप्रशस्त है, यही निश्चय है।

तावुभावप्यसंस्कार्या विति धर्मो व्यवस्थित:।
वैगुण्याज्जन्मन: पूर्व उत्तर: प्रतिलोमत: ।। (मनुस्मृति:)

अर्थ=ये दोनों (पूर्वोक्त उत्पन्न पुत्र) उपनयादि संस्कारों के अधिकारी नहीं होते, यही धर्म शास्त्र की व्यवस्था है मन्त्र से ही वैगुण्य होने के कारण और दूसरा प्रति लोमज होने के कारण यज्ञोपवीतादि संस्कारों के योग्य नहीं हैं। किया हुवा पाप समय पर फल देता है—

पाप कर्म का फल स्वयं एवं पुत्र पौत्र तक में मिलता है—

नाधर्मश्चरितो लोके सद्य: फलति गौरिव।
शनैरावर्तमानस्तु कर्तुर्मूलानि कृन्तति ।। (मनुस्मृति:)

अर्थ=किया हुवापाप पृथ्वी में वोये हुये वीज की भाँति तत्काल फल नहीं देता। किन्तु धीरे-धीरे फलित होने का समय आने पर पापकर्त्ता का मूलोच्छेदन कर देता है।

यदि नात्मनि पुत्रेषु न चेत्पुत्रेषुनप्तृषु।
न त्ववे तु कृतोऽधर्म: कर्तुर्भवति निष्फल: ।।

अर्थ=यदि पाप का फल अपने आपको न मिला तो पुत्रों को पुत्रों को न हुवा तो पौत्रों को मिलता ही है। पापी का किया हुवा पाप कभी निष्फल नहीं होता।

अधर्मेणैधते तावत्ततो भद्राणि पश्यति।
तत: सपत्नाज्जयति समूलस्तु विनश्यति ।। (मनु:)

अर्थ=अधर्म से कुछ काल वृद्धि होती है, उससे सभी प्रकार के वैभव दिखायी देते हैं। उससे शत्रुवों पर विजय प्राप्त होती है। उसके वाद उसका जड़मूल से नाश हो जाता है। मांसखाने वाले व मारने वेंचने वाले वकरी आदि कि उसका फल निर्णय——

मांस खाने में पाप किन-किन को न खाने से क्या पुण्य उसका फल निर्णय—

अनुमन्ता विशसिता निहन्ता क्रयविक्रयी।
संस्कर्ता चोपहर्ता च खादकश्चेति घातकाः॥

अर्थ=मारने की आज्ञा देने वाला, उसके खण्ड-खण्ड करनेवाला, मारने वाला वेंचने और मोल लेने वाला पकाने वाला, परोसनेवाला और खाने वाला-ये आठों घातक इन सब को याने आठों को पाप होते हैं।

वर्षे वर्षेऽश्वमेधेन यो यजेत शतं समा:।
मांसानि च न खादेद्यस्तयो: पुण्यफलं समम्॥

अर्थ=जो प्रत्येक वर्ष सौ वर्ष तक अश्वमेधयज्ञ करता है और जो विलकुल ही मांस नहीं खाता, इन दोनों का पुण्य फल वरावर है।

चोरी आदि का दण्ड निर्णय चारोवर्णों को—

स्यात्साहसं त्वन्वयवत्प्रसभं कर्म यत्कृतम्।
निरन्वयं भवेत्स्तेयं हृत्वापव्ययते च यत्॥ (मनुस्मृति)

अर्थ=स्वामी के समक्ष वलपूर्वक कोई चीज लेने को साहस कहते हैं और स्वामी के परोक्ष में कोई चीज लेना या लेकर छिपा रखने को चोरी कहते हैं।

अष्टापाद्यं तु शूद्रस्य स्तेये भवति किल्विषम्।
षोडशैव तु वैश्यस्य द्वात्रिंशतक्षत्रियस्य च॥
ब्राह्मणस्य चतु: षष्ठि: पूर्णं वापि शतं भवेत्।
द्विगुणा वा चतु: षष्ठिस्तद्दोषगुण विद्धि स:॥ (मनु:)

अर्थ=चोरी के गुण दोष को जानने वाला शूद्र चोरी करे तो उसे चोरी के माल का अठगुना, वैश्य को सोलह गुना क्षत्रिय को वत्तीसगुना और ब्राह्मण को चौसठ गुना, या सौ गुना या एक सौ अट्ठाइस गुना दण्ड देना चाहिये।

उपाया: साम दानं च भेदोदण्डस्तथैवच।
सम्यक्प्रयुक्ताः सिद्धयेयुर्दण्डस्त्वगतिकागति:॥ (याज्ञवल्क्यस्मृति:)

अर्थ=साम (प्रियभाषण) दान (सुवर्णादि उपहार देना) भेद (फूट डालना) और दण्ड (धनापहरण और वध आदि कर्म) ये चार उपाय हैं इनका उचित रूप से (देश काल आदि के अनुसार) प्रयोग करने पर सफलता मिलती है। और कोई उपाय न चलने पर ही दण्ड का आश्रय लिया जाता है।

ब्राह्मण वर्णाश्रम धर्म रक्षार्थ शस्त्र ग्रहण करें—

शस्त्रं द्विजाति भिर्ग्राह्यं धर्मो यत्रोपरुध्यते।
द्विजातीनां च वर्णानां विप्लवे कालकारिते॥
आत्मनश्च परित्राणे दक्षिणानां च संगरे।
स्त्रीविप्राभ्युपपत्तौ च घ्नन्धर्मेण न दुष्यति॥ (मनुस्मृति:)

अर्थ=जब द्विजातियों के वर्णाश्रम धर्म के नाश होने की संभावना हो, जब आपत्काल के कारण देश में अराजकता फैली हो, अपनी रक्षा के लिये अथवा धन, गौ आदि की रक्षा के लिये युद्ध करने का प्रसंग हो उसी प्रकार जब स्त्रियों और ब्राह्मणों की रक्षा के लिये आवश्यक हो तब द्विजातियों को शस्त्र ग्रहण करना चाहिये ऐसे समय धर्मतः हिंसा करने में दोष नहीं है।

छः आततायी एवं ब्राह्मणादि चारो वर्ण का अहिंसा धर्म निर्णय—

अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रोन्मत्तो धनापहः।
क्षेत्रदार हरश्चैव षड् विधा ह्याततायिनः।
आततायिन मायान्तं हन्यादेवाऽविचारयन्॥ (शुक्रनीतिः)

अर्थ=अग्नि में जलाकर मारने वाला विष देने वाला, हथियार से मारने वाला, धन चुराने वाला, खेती का हरण करने वाला तथा स्त्री का अपहरण करने वाला ये छः प्रकार के आततायी होते हैं। अतः आततायी को आता हुवा देखकर बिना विचारे ही मार देना चाहिये। इनके मारने में हन्ता दोष का भागी नहीं होगा।

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौच मिन्द्रियनिग्रहः।
एतं सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः॥ (मनुः)

अर्थ=अहिंसा (किसी को भी मन वाणी और शरीर से दुःख न देना) सत्य बोलना, चोरी नहीं करना, पवित्रता और इन्द्रियों का निग्रह करना ये संक्षेप से चारो वर्णो का धर्म मनुजी ने कहा है।

चौरासी लाख के बाद गो जन्म फिर मनुष्य का जन्म होता है—

चतुरशीतिलक्षान्ते गोजन्मा तत्परं नरः।
ततस्तु ब्राह्मणश्च स्याद भयं नात्र संशयः॥ (पद्मपुराणे)

अर्थ=चतुरशीति लक्ष के (चौरासी लाख के) अनन्तर अन्तिम योनि गौ की होती है, तदनन्तर मनुष्य जन्म होता है। मनुष्य जन्म में ब्राह्मण होकर ही जीव अभय को प्राप्त होता है।। मनुष्य सृष्टि सर्वोच्च सृष्टि है। पञ्चकोशों की पूर्णता से मनुष्य सृष्टि पूर्ण है, इसी कारण मनुष्य देह ही में जीव को मुक्ति की प्राप्ति हुवा करती है। सुतरां मनुष्य में तीन गुणों के अनुसार तीन अधिकार विद्यमान हैं इसमें सन्देह ही क्या है। मनुष्य जाति में दैवी सम्पत्ति आसुरी सम्पत्ति और राक्षसी सम्पत्ति के स्त्री पुरुष सदा दिखायी देते हैं।

गोमाता की महिमा और ब्राह्मण की ऋग्वेद में लिखा है कि:—

"गोर्मे माता वृषभः पिता मे दिवं शर्म जगती मे प्रतिष्ठा। (ऋग्वेद में)

अर्थ=गाय मेरी माता और वृषभ पिता है, वे इह लोक पर लोक में सुख मङ्गल तथा प्रतिष्ठा प्रदान करें।

वृषो हि भगवान् धर्मश्चतुष्पादः प्रकीर्तितः।
वृणोमि त्वामहं भक्त्या, स मां रक्षतु सर्वदा॥

अर्थ=वृष ही भगवान् चतुष्पाद–पूर्ण धर्म है। उन्हें।वरण करता हूँ। वे सर्वदा

मेरी रक्षा करें। इस मन्त्र द्वारा श्राद्ध में वृप की स्तुति की जाती है। और भी अग्नि पुराण में लिखा है कि :—

ब्राह्मणाश्चैव गावश्च कुलमेकं द्विधा कृतम्।
एकत्र मन्त्रास्तिष्ठन्ति हविरेकत्र तिष्ठति।।
यन्न वेदध्वनिध्वान्तं यन्न गोभिरलंकृतम्।
यन्न बालैः परिवृतं श्मशानमेव तद् गृहम्।। (अग्निपुराणे)

अर्थ=ब्राह्मण और गऊ एक ही कुल के ये दो हैं, एक में वेद मन्त्र और दूसरे में यज्ञीय हवि का स्थान है। जो मकान वेद के शब्द से गूँजता नहीं, गऊमाता से सुशोभित होता नहीं और बाल गोपालों से भरा रहता नहीं, वह श्मशान है।

अतः गोमाता सदा प्रणाम करने योग्य है—

यावद् गोब्राह्मणाः सन्ति तावत् पृथ्वी च सुस्थिरा।
तस्मात् पृथ्वीरक्षणार्थं पूजयेद् द्विजगोसती:।।
स्त्रियो गावो ब्राह्मणाश्चपृथिव्यां मंगलत्रयम्।
एतेषां द्वेषकृद् यस्तु स मङ्गलपरिच्युतः।। (वृहद्धर्मपुराणे)

अर्थ=जब तक पृथ्वी पर गौ ब्राह्मण तभी तक पृथ्वी सुरक्षित है, इसलिये पृथ्वी रक्षा के अर्थ ब्राह्मण गौ और सती स्त्री की पूजा करनी चाहिये। पृथिवी में सती स्त्री, गौ और ब्राह्मण ये तीन मङ्गल रूप हैं इनके प्रति जो द्वेष करता है उसका मङ्गल नष्ट होता है।

पृष्ठे ब्रह्मा गले विष्णुर्मुखेरुद्रः प्रतिष्ठितः।
मध्ये देवगणाः सर्वे रोमकूपे महर्षयः।।
नागाः पुच्छे खुराग्रेषु ये चाष्टौ कुलपर्वताः।
मूत्रे गङ्गादयो नद्यो नेत्रयोः शशिभास्करौ।।
एते यस्यास्तनौ देवाः साधेनुर्वरदास्तु मे।। (भविष्यपुराणे)

अर्थ=गोमाता के पृष्ठ देश में ब्रह्मा का स्थान, गल देश में विष्णु का स्थान और मुख में रुद्र का स्थान है। बीच के अवयवों में समस्त देवता और रोमकूप में महर्षि गण बसते हैं। पुच्छ में अनन्त नाग, खुरों में कुलपर्वत मूत्र में गङ्गादि नदियाँ और नेत्रों में चन्द्र सूर्य हैं ऐसी। अनन्त देवमयी माता मेरे लिये वरदा बने।

'गोस्पर्शनमायुर्वर्द्धनानाम्' (देवीपुराणे)

अर्थ=आयु बढाने वाले कार्यों में से गाय का स्पर्श एक उत्तम कार्य है, जिससे आयु बढती है।

विप्राणां चरणौ तीर्थौ गवां पृष्ठ तथा मतम्।
एते यत्र हि तिष्ठन्ति तच्च तीर्थमुदाहृतम्।।

अर्थ=ब्राह्मणों के चरण में तीर्थ और गौ के पीठ में तीर्थ हैं। वे जहाँ ठहरें वह भी तीर्थ माना जाता है।

शास्त्र में पञ्च माता भी बतायी गयी हैं—

जननी जन्म भूमिश्च जाह्नवी वेदमातरः।
सुरभी तत्र विज्ञेया पञ्चैते मातरः स्मृताः।।

अर्थ=गर्भधारिणी माता, जन्मभूमि गङ्गा गायत्री और गाय ये पाँच माता होती हैं। विचार करने पर प्रमाणित होगा कि इन पाँचों में गौ माता ही सबसे अधिक उपकार करने वाली है। अपनी माता एक या दो वर्ष दूध से बच्चे को पालती है किन्तु गौमाता मरण पर्यन्त और उसके बाद भी हमारी सेवा करती है जन्मभूमि अन्न उत्पन्न करके उसके द्वारा हमें पालती है किन्तु गौ के बिना न अन्नोत् पादक यज्ञ ही हो सकता है और न कृषिकार्य ही हो सकता है। अतः यह माता गोमाता की मुखापेक्षिणी हुयी। गङ्गा माता के विषय में यह बात प्रसिद्ध है कि भगीरथ जब गङ्गा को लेने गये तो गङ्गा ने पूछा कि अब तक कौन पाप नाश करता था। भगीरथ ने उत्तर दिया कि गौमाता ही पाप नाश करती थी। इस पर गङ्गाजी ने गौ से पुछवाया कि उनका पृथिवी में आना गौमाता को अप्रीति कर तो नहीं होगा। गौमाता ने शर्त लगाया इस प्रतिज्ञा पर गङ्गा आ सकती हैं गौजगत् में रहें तभी तक मैं रहूँगी।

काम में शूद्र अर्थ में वैश्य धर्म में क्षत्री तप में ब्राह्मण कुशल होता है--

मीमांसा शास्त्र का सिद्धान्त है कि :--

काम प्रधानः शूद्रः। अर्थप्रधानो वैश्यः।।
धर्म प्रधानः क्षत्रियः। मोक्षप्रधानो ब्राह्मणः।।

अर्थ=शिल्पकला, कारीगरी वस्त्रादि निर्माण इत्यादि-इत्यादि स्थूल कामना पूर्त्ति का सामान प्रस्तुत करके जाति की शारीरिक सेवा में सहायता करना शूद्रवर्ण का प्राकृतिक धर्म है। कृषि वाणिज्य आदि द्वारा यथेष्ठ अर्थ—संग्रह करके जाति का स्थूल शरीर बहुमूल्य सरत्नों से सुसज्जित कर देना तथा जातीय दरिद्रता का एक बारही अमूल नाश कर देना वैश्यवर्ण का प्राकृतिक धर्म है। शिल्पकला, धन, रत्नभूसम्पत्ति को विदेशी आकर लुण्ठित तथा अधिकृत न कर सकें, इसलिये बाहुबल, अस्त्रबल सैन्य बल युद्ध कौशल द्वारा जाति को विजातीय आक्रमण से सुरक्षित रखना क्षत्रियवर्ण का प्राकृतिक धर्म है। अनर्गल अर्थ काम में या अनर्गल क्षात्रशक्ति में जो जातीय अवनति कर उन्माद की स्वाभाविक स्थिति है, उस को धर्म बल से रोककर समग्रजाति को आत्मा तथा मोक्ष की ओर नियोजित रखना ब्राह्मण वर्ण का स्वाभाविक धर्म है।

धिग् बलं क्षत्रियबलं ब्रह्मतेजोबलं बलम्।
एकेन ब्रह्मदण्डेन सर्वास्त्राणि हतानि मे।। (श्रीमद्वाल्मीकीय रामायणे)

अर्थ=क्षत्रिय के बल को धिक्कार है ब्रह्म तेज से प्राप्त होने वाला बल ही वास्तव में बल हैं, क्योंकि आज एक ब्रह्मदण्ड ने मेरे सभी अस्त्र नष्ट कर दिये। (वसिष्ठ से पराजित होने पर विश्वामित्र ने कहा है) इसी से बुद्धिमान् मनुष्य समझ सकते हैं कि दूरदर्शी महर्षियों ने केवल चार वर्ण की नैसर्गिक व्यवस्था के द्वारा ही शरीर-मन-बुद्धि आत्मामय चतुष्पाद पूर्ण स्वराज्य सिद्धि की पूर्ण अनुशासन विधिवता दी है वैश्य, शूद्र-क्षत्रिय के ऊपर शारीरिक स्वराज्य प्राप्त का भार है और क्षत्रिय ब्राह्मण के ऊपर मन-बुद्धि आत्मा सम्बन्धीय स्वराज्य लाभ का भार है। बिना क्षात्र शक्ति तथा ब्राह्मण शक्ति की समवेत सहायता से वैश्यशक्ति और शूद्र शक्ति भी निरापद नहीं रह सकती है, इसलिये महर्षियों की आज्ञा थी कि क्षात्र शक्ति और ब्राह्मण शक्ति परस्पर सहायक बनकर सबकी रक्षा करें।

स्वधर्म सेवी राजा :—

"अष्टानां लोकपालानां मात्राभिर्निर्म्मितो नृपः ।"

अर्थ=यह आर्य शास्त्र का सिद्धान्त ही है। इसलिये राज भक्ति ईश्वरभक्ति मूलक है। ईश्वर भक्ति जितनी नष्ट होगी, राज भक्ति भी उतनी ही नष्ट होगी। अतः ईश्वर भक्ति हीन भौतिक विज्ञान के प्रभाव से संसार में से राज भक्ति अवश्य ही उठ जायगी और राज-तन्त्र के वदले प्रजातन्त्र प्रथा चल जायगी यह निश्चय है। पश्चिमी सभ्यता आस्तिक्य हीन भौतिक विज्ञान मूलक है, अतः पश्चिमी सभ्यता ही राज्य तन्त्र का नाश करके प्रजातन्त्र राज स्थापन का मूल कारण है।

प्रजा पीडन से राजा का नाश होता है—

यो हिंधर्मपरोराजा देवांशोऽन्यश्च रक्षसाम् ।
अंशभूतोधर्म तोपी प्रजापीडाकरोभवेत् ॥

अर्थ=धर्मानुसार प्रजा पालक राजा में देवांश प्रकट होता है, अन्यथा राक्षसांश प्रकट होकर राजा को प्रजापीडक वनाता है और इसी प्रजा पीडन रूपी पाप से राजा की क्या दुर्गति होती है। सो भी महर्षि याज्ञवल्क्यजी ने वताया है—

प्रजापीडनसन्तापात् समुद्भूतो हुताशनः ।
राज्यं कुलं श्रियं प्राणान् नाऽदग्ध्वा विनिवर्तते ॥

अर्थ=प्रजापीडन जन्य सन्ताप से उत्पन्न अग्नि राजा के राज्य, वंश सम्पत्ति और प्राण को जलाये विना निवृत्त नहीं होती है। इतिहास की पर्यालोचना करने से ऐसा ही मालूम होता है। नहुप इन्द्र वन कर भी प्रजा पीडन पाप से ही गिर गया था। वेणु, दुर्योधन, कंस आदि का नाश भी इसी प्रकार से हुवा था। वर्त्तमान समय में भी समस्त जगत् के राजावों में दैवविभूतियों का विरल ही विकास देखने में आ रहा है। उलटा असुर या राक्षस विभूति के विकाश द्वारा प्रजा पीडन तथा तज्जन्य पाप से राजावों का तपः क्षय हो रहा है। यह पूर्वजन्म की तपस्या जब तक थोड़ी वहुत शेप है तव तक तो उनका राज्य चलेगा, उसके वाद सम्पूर्ण तपस्या के नाश होते वे सव नष्ट हो जायेंगे और संसार में राज तन्त्र के वदले प्रजातन्त्र राज्य हो जायगा, यही वर्त्तमान समय में राजनैतिक जगत् के अदृष्टचक्र का परिवर्त्तन दृष्टिगोचर हो रहा है। श्रीमद्भागवत के १२वें स्कन्ध में कहा है:—

देवापिः शान्तनोर्भ्राता मरुस्त्विक्ष्वाकुवंशजः ।
कलापग्राम आसाते महायोग वलान्वितौ ॥
ताविहेत्य कलेरन्ते वासुदेवानुशिक्षितौ ।
वर्णाश्रमयुतान् धर्मान् पूर्ववत् प्रथयिष्यतः ॥

अर्थ=सूर्यवंशीय मरुराजा और चन्द्रवंशीय देवापिराजा अतीन्द्रिय योग शरीर में कलाप ग्राम में निवास करते हुये अभी से योग तथा तपस्याचरण कर रहे हैं। कलियुग के अन्त में जव श्रीभगवान् कल्किरूप में व्राह्मण वंश में अवतार धारण करेंगे और पापी म्लेच्छों का नाश करके धर्म तन्त्र की व्यवस्था करेंगे उस समय देवापि और मरु कल्कि भगवान् की आज्ञानुसार आर्य जाति के अधिपति होकर भारतवर्ष का शासन भार अपने हाथ में लेंगे और

उसी समय से पुनः वर्णाश्रमानुकूल धर्मानुकूल राजतन्त्र की प्रतिष्ठा होगी। अतः हिन्दु जाति को वर्तमान राजनैतिक जगच्चक्र की गति के अनुसार आत्मरक्षा तथा चतुष्पादपूर्ण स्वाराज्य लाभ के लिये पुरुषार्थ करना चाहिये और श्रीभगवान् वेदव्यास कथित भावी शुभ समय की शुभ उदय आकाङ्क्षा से आर्य शास्त्र सम्मत पवित्र वर्णाश्रम धर्म की वीज रक्षा करनी चाहिये यही दूरदर्शी मुनिगण का अकाट्य सिद्धान्त है।

जिस राज्य में वर्णसंकर प्रजा उत्पन्न हो वह शीघ्र नाश होती है—

यत्र त्वते परिध्वंसा जायन्ते वर्णदूषिकाः।
राष्ट्रिकैः सह तद्राष्ट्रं क्षिप्रमेव प्रणश्यति ॥ (मनुस्मृतिः)

अर्थ=जिस राज्य में वर्णसंकर प्रजा उत्पन्न होती है, वह राज्य तथा उसकी प्रजा सभी शीघ्र नष्ट हो जाते हैं। अतः सिद्धान्त हुवा कि क्या परमात्मा की ओर जाति का अटूट लक्ष्य वनाये रखना, क्या जातीय जीवन को चिरजीवी वनाये रखना, दोनों ही के लिये वर्ण धर्म की रक्षा तथा उन्नति एकान्त आवश्यकीय है। इसी कारण पूज्यपाद महर्षियों ने आर्य जाति के इतर जातियों से विशेषता वर्णन में वर्णधर्म को अति उत्तम स्थान दिया है। जिस प्रकार वर्णधर्म की सहायता से प्रवृत्ति निरोध द्वारा जीव क्रमशः परमात्मा की ओर अग्रसर होता है, उसी प्रकार आश्रम धर्म की सहायता से निवृत्ति पोषण द्वारा जीव की गति परमात्मा की ओर वन जाती है।

यज्ञ में शूद्र का धन अग्राह्य है—

न यज्ञार्थं धनं शूद्राद्विप्रोभिक्षेत कर्हिचित्।
यजमानो हि भिक्षित्वा चाण्डालः प्रेत्य जायते ॥ (मनुः)

अर्थ=यज्ञ करने के लिये ब्राह्मण कभी भी शूद्र से भिक्षा न माँगे। क्योंकि शूद्र से भिक्षा माँगने वाला ब्राह्मण यज्ञ कर्त्ता मरने पर चाण्डाल होता है।

ब्राह्मण यज्ञ हेतु संग्रह करके सब न खर्चे तो दोष होता है—

यज्ञार्थमर्थं भिक्षित्वा यो न सर्वं प्रयच्छति।
स याति भासतां विप्रः काकतां वा शतं समाः ॥ (मनुः)

अर्थ=यज्ञ के लिये दान माँग कर जो ब्राह्मण सभी द्रव्य यज्ञ में नहीं लगा देता है, वह ब्राह्मण सौ वर्ष तक भास पक्षी या कौवा होता है। (संस्कारहीन द्विज वालक स्त्री तथा शूद्रादि को हवन करना निषेध है)।

देवनिमित्त संकल्प व ब्राह्मण के धन को लेने वाला गृद्ध के जूठे से जीता है—

देवस्वं ब्राह्मणस्वं वा लोभेनोपहिनस्ति यः।
स पापात्मा परे लोके गृध्रोच्छिष्टेन जीवति ॥ (मनुः)

अर्थ=जो लोभ से देवता के निमित्त अर्पण किये हुये धन को या ब्राह्मण के धन को अपहरण करता है वह पापात्मा मरने के वाद परलोक में गृद्ध के जूठे से जीता है। (और किसी साधु ब्राह्मणादि को कायिक वाचिक मानसिक इन तीन संकल्पादिकों को करके न दे तो ऋण की सी वृद्धि होती और पाप होता है)।

अल्प दक्षिणा एवं विधिहीन यज्ञ का निर्णय—

पुण्यान्यन्यानि कुर्वीत श्रद्दधानो जितेन्द्रियः।
न त्वल्पदक्षिणैर्यज्ञैर्यजेतेह कथंचन ।। (मनुस्मृतिः)

अर्थ=श्रद्धा से जितेन्द्रिय हो कर अन्य पुण्य कार्यों को करे किन्तु कभी भी अल्प दक्षिणा देकर यज्ञ न करना चाहिये।

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ।।
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्र विधानोक्तं कर्म कर्त्तुमिहार्हसि ।। (श्रीमद्भगवद्गीता)

अर्थ=और जो पुरुष शास्त्र की विधि को त्यागकर अपनी इच्छा से वर्तता है, वह न तो सिद्धि को प्राप्त होता है और न परमगति को तथा न सुख को ही प्राप्त होता है। इससे तेरे लिये इस कर्तव्य और अकर्तव्य की व्यवस्था में शास्त्र ही प्रमाण है, ऐसा जानकर तू शास्त्र विधि से नियत किये हुये कर्म को ही करने के लिये योग्य है।

विधि हीनस्य यज्ञस्य सद्यः कर्ता विनश्यति।
तद्यथा विधिपूर्वं मे क्रतुरेष समाप्यते ।।

अर्थ=विधिहीन यज्ञ का अनुष्ठान करनेवाला यजमान तत्काल नष्ट हो जाता है, अतः मेरा यह यज्ञ जिस तरह विधि पूर्वक सम्पन्न हो सके, वैसा उपाय किया जाय।

(राजादशरथ ने कहा है ब्राह्मणों से)।

कर्म कुर्वन्ति विधिवद् याजका वेदपारगाः।
यथा विधि यथान्यायं परिक्रमन्ति शास्त्रतः ।। (श्रीमद्वाल्मीकीये रामायणे)

अर्थ=यज्ञ कराने वाले सभी ब्राह्मण वेदों के पारंगत विद्वान् थे, अतः वे न्याय तथा विधि के अनुसार सब कर्मों का उचित रीति से सम्पादन करते थे और शास्त्र के अनुसार किस क्रम से किस समय कौन-सी क्रिया करनी चाहिये, इसको स्मरण रखते हुये प्रत्येक कर्म में प्रवत होते थे।

इन्द्रियाणि यशः स्वर्गमायुः कीर्तिं प्रजाः पशून्।
हन्त्यल्पदक्षिणो यज्ञस्तस्मान्नाल्पधनो यजेत् ।। (मनुस्मृतिः)

अर्थ=यज्ञ में थोड़ी दक्षिणा देने से इन्द्रिय, यश, स्वर्ग, आयु, कीर्ति, प्रजा और पशुवों का नाश होता है इसलिये अल्प दक्षिणा देकर यज्ञ न करे। ब्राह्मणादि की सेवा में दुग्धादि अर्पण :—

देयं तक्रं तु सद्यस्कं नवनीतादनुघृतम्।
आरण्यमहिषीक्षीरंशर्करास्रुतिसंयुतम् ।।
मध्वक्त तु हितं चैवदद्यात्तदमृतंयतः। (ब्रह्मपुराणे)

अर्थ=मक्खन से निकला हुवा ताजा मट्ठा (दधि) जंगली भैंस का दूध, शर्करा और क्षीर (दूध) से टपका (बहता) हुवा मधु का रस अमृत होता है।

यज्ञं कृत्वा तु यो भूमिं क्षीरेण न हि सिंचति ।
स याति तप्तभूमिं च संतप्तः सप्तजन्मसु ॥

अर्थ=यज्ञ करने के वाद जो मनुष्य यज्ञ भूमि को दूध से नहीं सींचता, वह सात जन्म तक सन्ताप सहता हुवा 'तप्तभूमि' नरक में निवास करता है ।

ब्राह्मणादिचारो वर्णों की उत्पत्ति का निर्णय—

पुरुषस्य मुखं ब्रह्म क्षत्रमे तस्य वाहवः ।
ऊर्वोर्वैश्यो भगवतः पद्भ्यां शूद्रोऽभ्यजायत ॥ (भागवते)

अर्थ=उस अखण्ड पुरुष के मुख से ब्राह्मण, वाहु से क्षत्रिय, पेट से वैश्य तथा पैर से शूद्र की उत्पत्ति हुवी है । ब्राह्मणोऽस्यमुखमासीत० का अनुवाद ही है । वेदों के अनेक मन्त्रों में केवल ब्राह्मण शब्द का ही निर्देश है, किसी ब्राह्मण भेद का नहीं, जैसे शुक्ल यजुर्वेद में ब्राह्मण मात्र के लिये कहा है—

वेदों में बताया है कि ब्राह्मण मात्र सब एक हैं—

'रुचं ब्राह्मञ्जनयन्तो देवाऽअग्रे तदब्रुवन् ।'
यस्त्वैवं ब्राह्मणोविद्यात्तस्य देवा असन् वशे ॥'

अर्थ=ऐसे देदीप्यमान आदित्य को देखकर देवतावों ने कहा—हे आदित्य (सूर्य) जो ब्राह्मण आपको प्रोक्त प्रकार से ज्योतिः स्वरूप जानता है आपकी नित्य पूजा करता है अथवा ध्यान द्वारा अपने अन्तः करण में अनुभव करता है वह संसार में सबसे पूजित होता है क्योंकि उस दिव्य पुरुष के ज्ञान से ब्रह्मादि देवता भी उसके वश में रहते हैं और उसकी मनो-कामना पूर्ण करते रहते हैं । इसी तरह मन्वादि समस्त स्मृतियों में ब्राह्मणों के वर्तमान भेद दृष्टिगोचर नहीं होते । ब्राह्मणों का 'सारस्वताः कान्यकुब्जाः, इत्यादि भेद पौराणिक काल के हैं । कश्यप संहिता में यों वतलाया है कि :—

स्मृतिकाल में वैश्यादि दशविध ब्राह्मणों का भेद निर्णय

इन ब्राह्मणों का लक्षण—

'देवो मुनिर्द्विजो राजा वैश्यः शूद्रो विडालकः ।
पशुर्म्लेच्छश्च चाण्डालोविप्रा दशविधाः स्मृताः ॥
यती चैव तपस्वी चासत्यं नैव प्रभाषते ।
उपवासं कार्तिके माघे सविप्रो देव उच्यते ॥

अर्थ=संन्यासी और तपस्वी से असत्य भाषण कदापि नहीं करना चाहिये कार्तिक मास में जो ब्राह्मण उपवास करता है वह देव तुल्य कहा जाता है ।

चतुरः पठते वेदानग्नि होत्रेरतः सदा ।
क्रोधं चैव न जानाति सविप्रो मुनिरुच्यते ॥

अर्थ=सदा अग्नि होत्र में लगा हुवा चारो वेदों को जो ब्राह्मण पढता है, क्रोध करना नहीं जानता वह मुनि कहा जाता है ।

त्रिसन्ध्यांवन्दते नित्यं परनिन्दां न कारयेत् ।
कुशलो यज्ञकार्ये च स विप्रो द्विज उच्यते ॥
प्रतिग्रहेषु संकोचं दानं वित्तानुसारतः ।
पवित्रः सत्यभाषी च स विप्रो नृप उच्यते ॥
क्रयविक्रयवाणिज्ये वार्षिके चान्न एव च ।
अतिप्रीतिश्च व्यापारे स विप्रो वैश्य उच्यते ॥

अर्थ=जो ब्राह्मण त्रिकाल सन्ध्या करता है तथा दूसरे की निन्दा नहीं करता, यज्ञ कार्य में कुशल है उसे द्विज कहा गया है, जो ब्राह्मण प्रतिग्रह करने में संकोच करता है, तथा धन के अनुसार दान देता है, पवित्र एवं सत्य वक्ता होता है उसे नृप कहा जाता है। वर्ष भर जो अन्न का क्रय (खरीदना) विक्रय (वेंचना) करता है, और व्यापार में जिसकी विशेष अभिरुचि होती है उसे वैश्य कहा जाता है।

नीली मद्यं च मासं च वहुवारं च भक्षयेत् ।
पतितो वृषलीगर्भात् स बिप्रः शूद्रः उच्यते ॥
सर्ववर्ण प्रतिग्राही सर्वेषामन्नभक्षकः ।
भोजने लम्पटश्चैव सविप्रश्च विडालकः ॥
अन्नादि हयविक्रेता कृषि कर्मरतः सदा ।
आदत्तश्चलपक्षश्च स विप्रः पशुरुच्यते ॥
श्वानं च पालयेद् विप्रः संग्रह सर्व जन्तुषु ।
अजाश्च पालयेद्यस्तु स विप्रो म्लेच्छ उच्यते ॥
कारयेत् परनिन्दां वै सर्वकर्मदरिद्रता ।
कन्याविक्रीयते येन विप्रश्चाण्डाल उच्यते ॥,

अर्थ=नील से युक्त वस्त्र धारण करनेवाला, मदिरापान करनेवाला मांस भक्षण करने वाला, अनेक बार खानेवाला, पतित तथा शूद्रा के गर्भ से उत्पन्न ब्राह्मण शूद्र कहा जाता है। सभी वर्णों का धान्य ग्रहण करने वाला, सभी का अन्न भक्षण करने वाला, भोजन करने में जो लम्पट हो वह विडालक कहा जाता है। अन्नादि को, घोड़े का विक्रय करने वाला कृषि कर्म करने में रत रहनेवाला ब्राह्मण पशु कहा जाता है। जो ब्राह्मण कुत्ता पालता है, सभी जन्तुवों का संग्रह करता है, वकरी पालता है, वह ब्राह्मण म्लेच्छ कहलाता है। सभी की निन्दा करने वाले सभी कार्यों में दरिद्रता दिखाने वाले, कन्या को वेचने वाले ब्राह्मण को चाण्डाल कहा जाता है।

असिजीवी मसी जीवी देवलो ग्रामयाचकः ।
पाक कर्ता हलग्राही षडेते ब्राह्मणाधमाः ॥

अर्थ=तलवार से जीविका चलाने वाला (फौजादि की नौकरी) स्याही से जीविका चलाने वाला (लिखने की नौकरी) वेतन लेकर पूजा करने वाला ब्राह्मण पुरोहिती करनेवाला ब्राह्मण वेतन लेकर भोजन वनाने वाला और स्वयं हल चलाने वाला ये छः प्रकार के ब्राह्मण अधम हैं।

स्मृतिकाल के वाद, सारस्वतादि ब्राह्मणों का दशविधभेद इस प्रकार--

पौराणिक काल से सारस्वतादि ब्राह्मण का दशविधभेद निर्णय—

'सारस्वताः कान्यकुब्जा गौडउत्कलमैथिलाः ।
पञ्च गौडा इति ख्याता विन्ध्यस्योत्तरवासिनः ॥'
'कर्णाटकाश्च तैलङ्गा द्राविडा महाराष्ट्रकाः ।
गुर्जराश्चेति पञ्चैव विख्याता विन्ध्य दक्षिणे ॥'

अर्थ=ये नाम उन-उन देशों में वसने के कारण पड़े । जैसे—कर्णाटक देश के राजा ने महाराष्ट्र से ब्राह्मणों को वुलाकर वसाया, जिससे वहाँ वसने से ब्राह्मण का कर्णाटक-ब्राह्मण यह संज्ञा हुवी । विन्ध्य के उत्तर भाग से द्राविड देश में आये हुवे कुछ ब्राह्मणों को पाण्डच राजा ने वसाया, जिससे वे द्राविड-ब्राह्मण हुवे । महाराष्ट्रनामक राजा ने विन्ध्य के उत्तर रहने वाले ब्राह्मणों को बुलाकर उनसे यज्ञ कराया और अपने देश में वसाया, जिससे उस राजा के नाम से ही उस देश का नाम महाराष्ट्र और वहाँ ये वसने वाले ब्राह्मण महाराष्ट्र ब्राह्मण हुवे । इसी तरह सरस्वती नदी तट निकटवर्ती प्रदेश में बसने से सारस्वत-ब्राह्मण, सरयूपारपार्श्व वर्ती प्रदेश में वसने से सरयूपारीण-ब्राह्मण, कन्नौज में वसने से कान्य कुब्ज-ब्राह्मण, मिथिला में वसने से मैथिल ब्राह्मण जैसे राजा निमि ने शरीर को क्षणभंगुर जान कर गुरु वसिष्ठ जी की अनुपस्थिति में वाहर से आये हुये ब्राह्मणों से यज्ञारम्भ कराया । इन्द्र के यज्ञ से आने पर कुपित हो वसिष्ठ ने निमि को मरने का शाप दे दिया निमि ने भी लोभवश शाप देने वाले वसिष्ठ को मरने का शाप दे दिया । पीछे वसिष्ठ मित्रावरुण के वीर्य से उर्वशी में उत्पन्न हुवे और यज्ञ के ऋत्विज ब्राह्मणों ने योगमार्ग से मृत निमि के देह को मथा, जिससे दिव्य देहधारी जनक की उत्पत्ति हुयी । जनक का विदेह से उत्पन्न होने से विदेह और मथन से उत्पन्न होने से मैथिल नाम पड़ा । उन्होंने अपने नाम से मिथिला नगरी का निर्माण किया और निमि के यज्ञ में जितने ब्राह्मण आये थे उन्हें ग्राम देकर वसाया, वे ब्राह्मण मैथिल ब्राह्मण हुवे । इसी प्रकार क्रौञ्चद्वीपी में वसने से क्रौञ्चद्वीपीय ब्राह्मण और शाकद्वीप में में वसने से शाकद्वीपीय (मग) ब्राह्मण नाम पड़ा । भगवान् कृष्ण ने शाकद्वीपी से शाकद्वीपीय मग ब्राह्मणों को यहाँ वुलाया ।

अथ वर्ज्या विप्राः—

भृतकाध्यापको मित्रद्रोही पिशुनः कुनखी कृष्णदन्त क्लीवो माता पितृगुरुत्यागी चोरो नास्तिकः पापकर्मा विहित कर्मत्यागी नक्षत्रोपजीवी वैद्योराजभृत्योगायको लेखकः कुसीदजीवी वेद विक्रयी कवित्वजीवीदेवार्चनजीवी नटो गृहदाहीसमुद्रगामी शस्त्रकर्ता सोम विक्रयी पक्षिपोषकः परिवेत्त दिधिषूपतिः कुमाराध्यापकः । (धर्मसिन्धु :)

अर्थ=(भगनदर आदि का महारोगी अंगहीन अधिक अङ्ग वाला काना वहिरा गूंगा शत्रु) भृतकाध्यापक, मित्रद्रोही चुगलखोर कुत्सित नख वाला, काले दाँत वाला, नपुंसक माता-पिता और गुरु को छोड़ने वाला, चोर, नास्तिक पाप करने वाला, विहित कर्म को छोड़ने वाला, नक्षत्र आदि वता कर जीविका करने वाला, वैद्य राजा का नौकर गाने वाला, लिखने वाला सूद से जीने वाला वेद विक्रयी कवित्वजीवी, देवार्चनजीवी, नट, घरजलाने

वाला समुद्रयात्री शस्त्रकर्ता सोमविक्रयी-पक्षियों कापालने वाला तथा फँसाने वाला, परिवेत्त, दिधिषूपति-बच्चों को पढाने वाला। (पुत्र से विद्या प्राप्त करने वाला द्रव्य प्राप्ति के लिये वेद पाठ करने वाला शूद्रादि का यज्ञ कराने वाला ये सब त्याज्य हैं)।

अथ कदर्याद्यन्न निषेधः—

कदर्यादीनामन्नं नित्यभोजने श्राद्धकर्मणि च नग्राह्यम्।

ते च कदर्यश्चोरो नटो वीणोप जीवी वार्धुषिकोऽभिशस्तो गणिका चिकित्सकः क्रुद्धः पुंश्चलीमत्तः क्रूरः शत्रुः पतितो दाम्भिकः पतिपुत्रहिता स्त्री स्वर्णकारः स्त्रीजितोग्रामयाजको घातुकः कर्मारस्तन्तुवायः कृतघ्नो वस्त्रक्षालनोपजीवी दारोपजीवी सोमविक्रयी चित्रकर्मा गायक इत्याद यस्त्रैवर्णिका अपि अग्राह्यान्नाः। (धर्मसिन्धुः)

अर्थ=कृपण आदि का अन्न नित्य भोजन और श्राद्ध कर्म में अग्राह्य है। वे कदर्य आदि चोर नट वीणा से जीविका करने वाला, सूदखोर (सूत लेने वाला) अभिशस्त वेश्या वैद्य क्रोधी, पुंश्चली, नशे में मत्त क्रूर शत्रु, पतित, दाम्भिक पतिपुत्र से हीन स्त्री सोनार स्त्री के वश में रहने वाला गाँव भर का यज्ञ करने वाला, घात करने वाला, लोहार, कपड़ा बुनने वाला, कृतघ्न, कपड़ा कचार कर जीने वाला, स्त्री से जीविका चलाने वाला, सोमविक्रयी चित्र बनाने वाला और गायक इत्यादि त्रैवर्णि भी हों तो उनके अन्न अग्राह्य है।

ब्राह्मणादिकों के कलि के धर्म निर्णय—

पाराशरस्मृति के प्रमाण—

कल्पे-कल्पे क्षये सत्या ब्रह्म-विष्णु-महेश्वराः।
श्रुति-स्मृति सदाचार-निर्णेतारश्च सर्वदा॥

अर्थ=कल्प-कल्प में जब सृष्टि का क्षय हो जाता है, उस समय धर्म विनष्ट होने पर भी बीजरूप से अवस्थित रहता है। अतः प्रलय के बाद जब सृष्टि होती है तो ब्रह्मा विष्णु एवं महेश्वर ही सदैव धर्म का निर्णय किया करते हैं। (कल्प दो प्रकार का होता है—प्रथम कल्प दूसरा महाकल्प) प्रथम कल्प ब्रह्मा का एक दिन का होता है, उस समय सृष्टि के निमित्त भूतमहदादि का विनाश हो जाता है। दूसरा महाकल्प है, जिसमें ब्रह्मदेव की आयु समाप्त हो जाती है, उस महाकल्प में ब्रह्मदेव का भी नाश हो जाता है। पुराणों में चार प्रकार का प्रलय कहा गया है: १. नित्य प्रलय २. नैमित्तिकप्रलय, ३. प्राकृत प्रलय, ४. आत्यन्तिक प्रलय। इसमें नैमित्तिक और प्राकृत प्रलय ऊपर कल्प और महाकल्प के रूप में कहा जा चुका है जीवों का नित्य विनाश ही नित्य प्रलय कहा जाता है और जब जीव ज्ञान के द्वारा परमात्मा में विलीन हो जाता है, तो उसे आत्यन्तिक लय कहते हैं।

न कश्चिद् वेदकर्त्ता च वेदंस्मृत्वा चतुर्मुखः।
तथैव धर्मान् स्मरति मनुः कल्पान्तरेऽन्तरे॥ (पाराशरस्मृतिः)

अर्म=धर्थ का उद्गम स्थान वेद है, सृष्टि के प्रलय के अनन्तर जिस प्रकार वेद का अनादित्व है उसी प्रकार प्रवाह-परम्परा से धर्म भी अनादि है। वेद की अनादिता से धर्म की अनादिता सिद्ध होती है वेद का कोई कर्त्ता नहीं है, सृष्टि के आदि में ब्रह्मा-परमेश्वर वेद पढ कर धर्म का स्मरण करते हैं, और प्रत्येक कल्प के मनुवों को उसका उपदेश करते हैं। पश्चात्

प्रत्येक मन्वन्तर में मनु सर्वसाधारण के लिये धर्मोपदेश करते है। प्रति युग में धर्म की विभिन्नता होने के कारण धर्मान् यह वहुवचन निर्देश है।

अन्ये कृतयुगे धर्मास्त्रेतायां द्वापरे युगे।
अन्ये कलियुगे नृणां युगरूपाऽनु सारतः॥ (पाराशरः)

अर्थ=कृतयुग में धर्म का प्रकार दूसरा है। इसी प्रकार त्रेता तथा द्वापर में भी धर्म के अन्य-अन्य प्रकार हैं। कलि में धर्म का प्रकार अन्य है। युग भेद होने से मनुष्यों की शक्ति का उपचार्य तथा ह्रास होने के कारण भिन्न-भिन्न हैं। युग-युग में सामर्थ्य-भेद होने के कारण धर्म भी भिन्न हो गये हैं। पाराशरस्मृतिः—

कृते तु मानवा धर्मास्त्रेतायां गौतमा स्मृताः।
द्वापरे शङ्ख लिखिताः कलौ पाराशराः स्मृताः॥

अर्थ=सतयुग में मनुस्मृति त्रेता में गौतमस्मृति, द्वापर में शंख-द्वारा लिखित स्मृति और कलि में तो पराशर स्मृति ही प्रधान मानी गयी है।

त्यजेद् देशं कृतयुगे त्रेतायां ग्राममुत्सृजेत्।
द्वापरे कुलमेकं तु कर्ता तु कलौयुगे॥

अर्थ=सतयुग में अधर्म होने पर देश का त्याग त्रेता में अधर्म होने पर उस गाँव का त्याग, द्वापर में केवल उस कुल का त्याग तथा कलि में केवल अधर्म करने वाले का ही त्याग किया जाता है। युग भेद से धर्म-भिन्न हो जाता है।

कृतेसम्भाषणादेव त्रेतायां स्पर्शनेन च।
द्वापरे त्वन्नमादाय कलौपतति कर्मणा॥

अर्थ=सतयुग में पतित से संभाषण करने से त्रेता में पतित का स्पर्श करने से द्वापर में पतित का अन्नखाने से पुरुष पतित होता है, किन्तु कलि में पतित से संभाषणादि व्यवहार करने पर भी पतित नहीं होता कलि में वह तभी पतित होता है जव पतित होने के योग्य वधादि पाप स्वयं करे। (सतयुग में पास जाकर त्रेता में वुलाकर द्वापर में माँगने पर किन्तु कलि में तो माँगने पर भी नहीं देते 'सेवादान है जो सेवा करे जो दान स्वयं सत्पात्र के घर जाकर दिया जाता है वह उत्तम है वुलाकर दे वह मध्यम माँगने पर जो दान दिया जाय ओ अधम है और जो सेवा की दृष्टि से दिया जाता है वह दान निष्फल कोई फल नहीं होता और खराव वस्तु के दान से भी दाता को नरक होता है)।

सीदन्ति चाऽग्निहोत्राणि गुरुपूजा प्रणश्यति।
कुमार्यश्च प्रसूयन्ते तस्मिन् कलियुगे सदा॥ (पाराशरस्मृतिः)

अर्थ=इस युग में अधर्म के वढ़ने से कोई अग्निहोत्र न करेगा गुरुपूजा भी श्रद्धा न होने से विनष्ट हो जाती है, इस कलियुग में विना व्याही (सात या आठ वर्ष तक की) कन्यावों के द्वारा सन्तान की उत्पत्ति होगी।

चतुर्णामपि वर्णानामाचारो धर्म पालकः।
आचारभ्रष्टदेहानां भवेद्धर्मः पराङ्मुखः॥

अर्थ=सदाचार चारों वर्णों के धर्म का पालक है। इसलिये जो सदाचार का पालन नहीं करते, उनसे धर्म विमुख हो जाता है।

षट् कर्माभिरतो नित्यं देवताऽतिथि-पूजकः।
हुतशेषं तु भुञ्जानो ब्राह्मणो नाऽवसीदति॥

अर्थ=यजन-याजन अध्ययन-अध्यापन, दान एवं प्रतिग्रह इन छः कर्मों में लगा रहने वाला, देवता तथा अतिथि की पूजा करने वाला तथा पाकयज्ञ (वलि वैश्व देव होम तथा गोग्रासादि) से शेष भोजन करने वाला ब्राह्मण कभी दुःखी नहीं होता।

सन्ध्यास्नानं जपोहोमो देवतानां च पूजनम्।
आतिथ्यं वैश्वदेवं च षट्कर्माणि दिनेदिने॥

अर्थ=ब्राह्मण का साधारण धर्म कह कर उसका आह्निक धर्म कहते हैं। सन्ध्या, स्नान, जप, होम, देवपूजन, अतिथि-सत्कार तथा वैश्वदेव ये छः कर्म ब्राह्मण को करना चाहिये।

अतिथिर्यस्य भग्नाशो गृहात् प्रतिनिवर्तते।
पितरस्तस्य नाऽश्नन्ति दशवर्षाणि पञ्च च॥
अतिथिर्यस्यभग्नाशो पुण्यमादाय गच्छति।

अर्थ=जिसके घर पर आया हुवा अतिथि अन्नादि सत्क्रिया के अभाव से निराश होकर लौट जाता है, उस गृहस्थ के पितर १५ वर्षों तक उसका अन्न ग्रहण नहीं करते। और वह निराश हुवा अतिथि एवं संन्यासी उस गृहस्थ की पुण्य को लेकर चला जाता है

काष्ठभारसहस्रेण घृतकुम्भशतेन च।
अतिथिर्यस्य भग्नाशस्तस्य होमो निरर्थकः॥

अर्थ=जिस गृहस्थ के घर से अतिथि निराश होकर लौट जाता है उसका हजारों मन काष्ठ एवं सैकड़ों घड़े घृत से किया गया होम भी व्यर्थ ही है। संन्यासी के घर आ जाने पर प्रथम जल पश्चात् भिक्षा तथा तदुपरान्त जल देना चाहिये। इस प्रकार दी गयी भिक्षा सुमेरु के तुल्य तथा जल समुद्र के समान हो जाता है।

अकृत्वा वैश्वदेवं तु भुञ्जन्ते ये द्विजाधमाः।
सर्वे ते निष्फला ज्ञेयाः पतन्ति नरकेऽशुचौ॥ (पाराशरस्मृतिः)

अर्थ=जो पतित ब्राह्मण विना वलि वैश्वदेव किये ही भोजन कर लेते हैं, उनके किये गये किसी भी सत्कर्म का फल नहीं होता। वे अशुचि (अपवित्र) नरक में जाते हैं। (उनका अन्न कदापि भोजन करने योग्य नहीं होता)।

वैश्वदेवविहीना ये आतिथ्येन वहिष्कृताः।
सर्वे ते नरकं यान्ति काकयोनिं व्रजन्ति च॥

अर्थ=जो वलि वैश्वदेव नहीं करते और न अतिथि-सन्मान ही करते हैं, वे सभी नरक के भागी होते हैं और उन्हें कौवे की योनि मिलती है।

यतये काञ्चनं दत्वा ताम्बूलं ब्रह्मचारिणे।
चोरेभ्योऽप्यभयं दत्वा दाताऽपि नरकं व्रजेत्॥

अर्थ=संन्यासी को सोना दान देने वाला, ब्रह्मचारी को ताम्बूलदान देने वाला तथा चोर को अभय दान देने वाला-ये तीनों प्रकार के दाता नरक गामी होते हैं। संन्यासीदान का पात्र एवं अधिकारी है सेवा का भी देश काल वस्तु के अनुसार अधिकारी है संन्यासी पात्र तो दान का होते हुये उससे बचे दान वन्धन का कारण होता है, ब्राह्मण दान के अधिकारी होते हैं जो सदाचार सम्पन्न होवें वै नहीं लें तो अच्छा लें तो वन्धन होता है।

शुक्लवस्त्रं च यानं च ताम्बूलं धातुमेव च।
प्रतिगृह्य कुलं हन्यात् प्रतिगृह्णाति यस्य च॥

अर्थ=जो संन्यासी श्वेत वस्त्र, सवारी, (याने हाथी घोड़ादि का दान) ताम्वूल तथा धातु आदि का दान लेते हैं (दान का अधिकारी यति नहीं सेवादि के हैं ब्रह्मणादि दान के अधिकारी हैं जो योग्य होवें) वे अपने कुल का तथा उस देने वाले दाता के कुल का उद्धार करते और जो अयोग्य होवे वै दोनों कुल को भी नाश करते हैं। (वस्त्र को रंग के दे या न अवसर हो रंगने का तो गेरू से षट्कोंड़ वना के मध्य में ॐ लिख के दे दे दोष मिट जायगा)।

ब्राह्मणस्य मुखं क्षेत्रं निरूपममकण्टकम्।
वापयेत् सर्वबीजानि सा कृषिः सर्वकामिका॥

अर्थ=ब्राह्मण का मुख सुन्दर क्षेत्र-खेत के समान है, जिसमें कंटक नहीं रहते। उस ब्राह्मण के मुखरूपी क्षेत्र में वीजों को वोने से सम्पूर्ण कामनावों की सिद्धि होती है। अतः ब्राह्मण को भोजन आदि से सन्तुष्ट करना चाहिये।

जातेविप्रो दशाहेन द्वादशाहेन भूमिपः।
वैश्यः पञ्चदशाहेन शूद्रो मासेन शुद्ध्यति॥

अर्थ=जनना शौच में ब्राह्मण दश दिनों में, क्षत्रिय वारह दिनों में, वैश्य पन्द्रह दिनों में तथा शूद्र एक महीने में शुद्ध होता है।

अजा गावो महिष्यश्च ब्राह्मणी नवसूतिका।
दशरात्रेण संशुद्ध्येद् भूमिष्ठं च नवोदकम्॥ (पाराशरस्मृतिः)

अर्थ=वकरी, गाय, भैंस तथा ब्राह्मणी नव-प्रसूता होने पर दश दिनों में शुद्ध हो जाती हैं। इसी प्रकार वर्षा का जल यदि पृथ्वी पर एकत्र हो गया हो तो वह भी दश दिनों में शुद्ध हो जाता है।

संन्यस्तं ब्राह्मणं दृष्ट्वा स्थानाच्चलति भास्करः।
एषमे मण्डलं भित्वा परं स्थानं प्रयास्यति॥

अर्थ=संन्यस्त ब्राह्मण को देख कर सूर्य काँप उठते हैं कि यह मेरे मण्डल को भेद कर ब्रह्म लोक को जायेगा।

कुर्याद् वाक्यं द्विजानां च त्वन्यथा भ्रूणहा भवेत्।
ब्राह्मणा जङ्गमं तीर्थं तीर्थभूता हि साधवः॥

अर्थ=ब्राह्मणों की आज्ञा माननी चाहिये, न मानने पर भ्रूण हत्या-जैसा महापाप लगता है। ब्राह्मण चलने-फिरने वाले तीर्थ ही हैं। इसी प्रकार साधुजनों को भी तीर्थ-स्वरूप ही समझना चाहिये।

चत्वारो वा त्रयोवाऽपि वेदवन्तोऽग्निहोत्रिणः।
ब्राह्मणानां समर्था ये परिषत् साऽभिधीयते॥

अर्थ=ब्राह्मणों में विद्या आदि सद्गुणों से समर्थ, वेदज्ञ तीन अथवा चार अग्निहोत्री ब्राह्मणों को ही परिषद् कहते हैं।

मुनीनामात्मविद्यानां द्विजानां यज्ञयाजिनाम्।
वेदव्रतेषु स्नातानामेकोऽपि परिषद् भवेत्॥

अर्थ=आत्मविद्या के जानने वाले मुनि, यज्ञ कराने वाले ब्राह्मण तथा वेदज्ञ स्नातक इनमें से किसी एक को भी परिषद् कहते हैं।

यथा काष्ठमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः।
ब्राह्मणस्त्वनधीयानस्त्रयस्ते नामधारकाः॥

अर्थ=जिस प्रकार काठ का हाथी एवं चमड़े का मृग नाम मात्र से हाथी और मृग है उनमें हाथी और मृग के गुण तथा क्रिया नहीं होती। उसी प्रकार अध्ययन (ब्रह्मविद्या) से शून्य भी ब्राह्मण नाम मात्र का ब्राह्मण है।

ग्रामस्थानं यथा शून्यं यथा कूपस्तु निर्जलः।
यथा हुतमनग्नौ च अमन्त्रो ब्राह्मणस्तथा॥

अर्थ=जिस प्रकार निर्जन (सूना) ग्राम जल रहित कूप तथा अग्नि के विना (राख का) होम व्यर्थ है। उसी प्रकार मन्त्ररहित ब्राह्मण भी व्यर्थ ही है।

दुःशीलोऽपि द्विजः पूज्यो न तु शूद्रो जितेन्द्रियः।
कः परित्यज्य गां दुष्टां दुहेच्छीलवतीं खरीम्॥

अर्थ=शील रहित भी ब्राह्मण पूजा के योग्य होता है। पर शूद्र कितना भी जितेन्द्रिय हो तो वह पूजा के योग्य नहीं होता जिस प्रकार लोग शील रहित गौ को दुहते हैं पर सीधी गदही को कोई नहीं दुहता।

शूद्रान्नं सूतकान्नं च अभोज्यस्याऽन्नमेव च।
शङ्कितं प्रतिषिद्धान्नं पूर्वोच्छिष्टं तथैव च॥ (पाराशरस्मृतिः)

अर्थ=शूद्र का अन्न, सूतक का अन्न, ग्रहण के समय का अन्न, भक्षण के अयोग्य मनुष्य का अन्न, सन्दिग्ध अन्न अर्थात् जिसके ग्राह्य अग्राह्य का निर्णय न हो सके, निषिद्ध अन्न और किसी के भक्षण के पश्चात वचा हुवा जूठा अन्न (मण्डली के कतार में बैठकर भोजन करवे वाला कोई व्यक्ति यदि उठ जाय या आचमन कर ले तो व दांत खोदने लगें कोई तो खाने वालों को शेष अन्न छोड़ देना चाहिये यदि खालें तो चन्द्रायणव्रत से शुद्धि होती है विघ्न करता चाण्डाल के तुल्य होता है शास्त्र में लिखा है)।

पीयूषं श्वेत-लशुनं वृन्ताकफल-गृञ्जने ।
पलाण्डुं वृक्षनिर्यासं देवस्वं कवकानि च ।।

अर्थ=यदि कोई ब्राह्मण अपनी अज्ञानता के कारण तुरन्त की व्यायी हुयी गौ का दूध, सफेद लहसुन, सफेद रंग का बैंगन एवं गोल निषेध है, गाजर, प्याज, गोंद देवसमर्पित वस्तु, कुकुरमुत्ता खा ले तो । तीन दिन व्रत करे तो शुद्ध हो जाता है ।

द्विज-शुश्रूषणरतान् मद्य-मांस विवर्जितान् ।
स्वकर्मणि रतान्नित्यं न तांश्छूद्रान् त्यजेद् द्विजः ।।

अर्थ=विप्र सेवी मद्य मांस से रहित और अपने कर्म में निरत रहने वाले शूद्र का ब्राह्मण को परित्याग नहीं करना चाहिये ।

शिरःप्रवृत्य कण्ठं वा मुक्तकक्ष-शिखोऽपिवा ।
विनायज्ञोपवीतेन आचान्तोऽप्यशुचिर्भवेत् ।।

अर्थ=शिर या गले में कपड़ा लपेट धोती-लांग या शिखा को खोल या यज्ञोपवीत से रहित हो कर आचमन करनें पर भी उस ब्राह्मण को शुद्धि नहीं मिलती । विना शिखा विना जनेऊ तथा विना लांग लगाये धोती वाला भी जो शुभ कार्य करे वो सब निष्फल होता है ।

मृत-सूतक-पुष्टङ्गाद्विजः शूद्रान्नभोजिनः ।
अहं तन्न विजानामि कां कां योनिं गमिष्यति ।।

अर्थ=सूतक लगने के कारण अशौच प्राप्त व्यक्ति का अन्न खाने तथा शूद्र का भोजन ग्रहण करने वाले ब्राह्मण को किन-किन योनियों में भ्रमण करना पड़ेगा, इस वात को हम नहीं वतला सकते ।

गृध्रो द्वादश जन्मानि दश जन्मानि शूकरः ।
श्वयोनौ सप्त जन्मानि इत्येवं मनुरब्रवीत् ।।

अर्थ=मनु ने कहा है कि ऐसा ब्राह्मण बारह जन्म तक गिद्ध, दश जन्म तक शूकर और सात जन्म तक कुत्ते की योनि में रहता है ।

अस्नात्वा नैव भुञ्जीत अजप्त्वाऽग्निमहूय च ।
पर्णपृष्ठे न भुञ्जीत रात्रौ दीपं विना तथा ।।

अर्थ=स्नान, जप और अग्निहोत्र के विना भोजन नहीं करना चाहिये । पत्तल को उलटा रखकर भी भोजन न करे और रात्रि को विना दीपक अर्थात् अँधेरे में भोजन करना उचित नहीं है ।

न्यायोपार्जितवित्तेन कर्त्तव्यं ह्यात्मरक्षणम् ।
अन्यायेन तु यो जीवेत् सर्वकर्मवहिष्कृतः ।।

अर्थ=न्याय पूर्वक उपार्जित धन से आत्मरक्षा करना उचित है । इसके विपरीत अन्याय द्वारा अर्जितधन सभी शुभ कर्मो का नाशक होता है ।

अग्निचित्कपिला सत्री राजा भिक्षुर्महोदधिः ।
दृष्टमात्राःपुनन्त्येते तस्मात् पश्येत् नित्यशः ।।

अर्थ=अग्निहोत्री, इष्ट का चयनकर्ता, कपिला गौ यज्ञकर्ता, राजा संन्यासी और समुद्र के दर्शन मात्र से मनुष्य शुद्धता को प्राप्त होता है। इसलिये उपर्युक्त का दर्शन प्रति दिन ही करना चाहिये। इति।

वाल्मीकि से राम का प्रश्न आपको मेरे भविष्य का ज्ञान कैसे हुवा—

श्री रामने वाल्मीकि से कहा कि मेरे अवतार से पहले ही आपने मेरा चरित्र रामायण वना डाला है। सो भविष्य की वातें आपको कैसे मालूम हुयी ? उन्हें किसने वतायी थी—

पूर्वजन्मनि कस्त्वं हि किं पुण्यं हि त्वया कृतम्।
तत्सर्वं विस्तरेणैव कथयस्वाद्य मां प्रति ।। (आनन्दरामायणे)

अर्थ=पूर्व जन्म में आप कौन थे और आपने कौन से पुण्य कार्य किये थे, सो मुझसे कहिये। इस प्रकार राम के प्रश्न करने पर वाल्मीकि जी ने वतलाना प्रारम्भ किया। हे राम ? आप के नाम की महिमा का वर्णन कौन कर सकता है, जिसके प्रभाव से आज मैं ब्रह्मर्षिपद पर वैठा हूँ। अच्छा, पहले अपने पूर्व जन्म का वृत्तान्त ही वतलाता हूँ। एक महान् यशस्वी शङ्ख नाम का ब्राह्मण मिला जंगल में उसका सव कपड़ा जूतादि ले लिया उस कड़ाके की धूप में पैर के जलने से हाहाकार करता हुवा उस ब्राह्मण को जलती दुपहरी में इस तरह दुःखित देखकर व्याध के मनमें आया कि मैंने इसकी सारी वस्तुयें तो छीन ली हैं। न हो, इसे इसके जूते लौटा दूं। हे राम ? वन में आने-जाने वाले पथिकों के सामान छीन लेना, उन चोरों के धर्म में सम्मिलित है। उस चोर ने सोचा कि इसके जूते इसे दे डालूं तो इसका क्लेश दूर हो जायगा और उससे जो पुण्य होगा, सो मुझ पापी के पक्ष में अच्छा ही होगा। इस प्रकार निश्चय करके दौड़ता हुवा उस दुःखी ब्राह्मण के पास पहुँचा और उसे उसके जूते दे दिये। जूता मिलने पर उसे वड़ा आनन्द मिला और ब्राह्मण ने कहा—तुम सुखी होवो। हे वनेचर। पूर्व जन्म के किसी पुण्य से तुम्हारी ऐसी वुद्धि हुयी है। जिससे तुमने वैशाख महीने में इस जूते का दान दिया है। शङ्खकी वात सुनकर व्याधने कहा कि पूर्वजन्म में मैंने कौन सा पुण्य किया था। सो आप विस्तार पूर्वक मुझे वतायिये। पूर्व जन्म में शाकल नाम की नगरी में तुम वेदपारगामी-स्तम्भ नाम के ब्राह्मण थे। किन्तु तुम वड़े भारी पापी थे। तुम एक वेश्यापर मुग्ध हो गये सारी नित्यक्रियायें छोड़ दी तुम जैसे आचारविहीन ब्राह्मण के घर में अतिरूपवती व्याही भार्या भी थी। वह उस वेश्या की तथा तुम्हारी खूव सेवा करती थी। तुम्हें प्रसन्न रखने की इच्छा से तुम विमार हो गये वेश्या सव धन लेकर चली गयी तुम्हारी स्त्री ने विष्णुभगवान् का निवास मानती हुयी खूव सेवा किया स्वामी के दुःख से दुःखित होकर वह देवी देवतावों से प्रार्थना करती थी की मेरे पतिदेव रोगमुक्त हो जाँय और सैकड़ों वर्ष जीवित रहें। एक दिन महात्मा दण्डधारी संन्यासी देवल ऋषि उसके घर आये वह वैशाख का महीना था स्तम्भ की स्त्री पति से आज्ञा मागा सेवा पूजन के लिये स्तम्भ(तुम) ने सेवा करने की आज्ञा दे दी स्त्री को स्त्री ने प्रसन्न मन से देवल यति की पूजा की। उनके चरण धोकर उस जल को थोड़ा सा पति को (तुमको) पिलाया व स्वयंधारण किया उस चरण के जलको फिर उन देवल ऋषि को उसने पानी पिलाया अच्छे-अच्छे पक्वान वनाकर भोजन कराया उन ऋषि के जाने के वाद उसी पुंश्चली वेश्याका स्मरण करते-करते तुमने प्राण त्याग दिया उस सती ने जाना कि तुम्हारी मृत्यु हो गयी है तो अपने कंकण वेचकर वहुत-सी चन्दन की लकड़ी खरीदी और उसकी चिता

वनायी तुम्हारे साथ धधकती चिता में शरीर को त्यागकर वह राम में रमी पतिव्रता स्त्री सती होकर वैकुण्ठलोक को चली गयी। अपने ब्राह्मणोचित कार्यों को त्यागे हुये तुमने अन्त में व्याधे की योनि में उत्पन्न हुये हो उस समय वैशाख महीने में आये हुये देवल ऋषि की पूजा के लिये तुमने अपनी स्त्री को आज्ञा देदी थी उसी पुण्य से तुम्हरे हृदय में धर्म बुद्धि उत्पन्न हुयी है इसी से इस समय तुमने मेरे जते वापस दे दिये हैं। उसी पुण्य से आज हमारी भेंट हुयी है, अव मैं तुम्हें तुम्हारे भावी जीवन का हाल वतलाता हूँ, सुनो कृणु नाम के कोई तपस्वी अन्न त्यागकर एक सरोवर के निकट तपस्या करते रहेंगे। तपस्या के अन्त में उनकी आँखों से वीर्य निकलेगा, कीचर के रूप में उसे देखकर कोई सर्पिणी खा जायगी उसी के उदर से तुम किरात के रूप में उत्पन्न होवोगे। शङ्खजी ने कहा कि जो तुम इस समय मुझे मेरा जूता वापस दे रहे हो इसी पुण्य से सप्त ऋषियों से भेंट होगी और उनकी दया से तुम वाल्मीकि नामक ऋषि होवोगे राम-कथा का निर्माण करोगे वाल्मीकि जी कहते हैं वैशाख मास का धर्म तथा विविध उपदेश देकर व्याधे से अपना सव सामान पाकर प्रसन्न मन शङ्ख गौतमी नदी की ओर चले गये। व्याधे का जीवन विताने के पश्चात् मैं पन्नगी के योनि से कृणु का पुत्र होकर जन्मा मैं किरातों ही में वढ़ और उन्हीं के साथ रहने लगा जन्म मेरा ब्राह्मण के वीर्य से हुवा था किन्तु कर्म शूद्रोचित था एक शूद्रा से विवाह हुवा उससे पुत्र हुये भयानक चोर हो गया एक जङ्गल में सप्त ऋषियों को देखा उन्हें देखते ही उनके कपड़े आदि छीनने के लिये मैं दौड़ पड़ा तव ऋषियों ने कहा--अरे द्विजाधम क्यों दौड़ा आ रहा है आपसे कुछ लेने के लिये क्यों कि मेरे परिवार के सव लोग भूखे बैठे हैं उन्हीं का पालन-पोषण करने के लिये वन-वन घूम रहा हूँ तब सप्त ऋषियों ने हमसे कहा—अपने कुटुम्वियों से जाकर पूछो कि जो नित्य पाप की कमायी कर रहा हूँ तुम लोग उस पाप का फल भी भोगोगे या नहीं यह विश्वास रक्खो कि जब तक तुम लौटकर नहीं आवोगे तब तक यहाँ ही रहूँगा शपथ खाकर कह रहा हूँ अपने घर गया पुत्र स्त्री आदि से पूछा उन्होंने उत्तर दिया कि तुम भोगो उनकी वात सुनकर मुझे वड़ा दुःख हुवा मैं लौटकर आया धनुष-वांण आदि फेंककर मैं उनके चरणों में दण्डवत् लोट गया और कहने लगा—हे मुनि-श्रेष्ठ। मैं नरक के महासमुद्र में गिर गया हूँ मेरी रक्षा करिये उन्होंने कहा "उठो-उठो" आज हम लोगों का समागम तुम्हारे लिये वड़ा ही कल्याण कारक हुवा तुम पापी हो फिर भी तुम शरण आया है हम लोगों की इसलिये इसे कोई उपदेश देकर इसकी रक्षा करनी चाहिये उन्होंने आपके उलटे अक्षरों के नाम (मरा) का उपदेश दिया मरा इस नाम का जप करते रहो जव तक हम लोग उधर से लौटकर न आयें ऐसा कहकर वे चले गये मेरा मन उस जप में इतना रम गया कि मुझे अपने शरीर की भी सुधि नहीं रही साक्षी के लिये मैंने एक दण्ड गाड़ दिया था दीमकों ने मेरे शरीर पर मिट्टी का ढेर लगा दिया मेरे तपोवल से वह सामने का गड़ा हुवा दण्ड एक सुन्दर वृक्ष वन गया एक हजार युग वीतने के वाद वे सप्तऋषिगण फिर लौटे पुकारा और कहा कि निकलो उसे सुनकर मैं उठ खड़ा हुवा तव मुझसे मुनियों ने कहाकि वल्मीक से तुम्हारा पुनर्जन्म हुवा है इसलिये तुम मुनीश्वर वाल्मीकि हो गये इतना कहकर वे ऋषि दिव्य (आकाश) मार्ग से चले गये आपके रामनाम के प्रभाव से मैं ऐसा ऋषि हो गया एक वार श्री शिवजी के मुख से इन ब्रह्माजी ने वेद से मथकर निकाले हुये आपके चरित्र को सुना था तव इन्ही (ब्रह्माने) उसे अपने वेटे नारद को वताया और उन्होंने वह सारा चरित्र हमें सुनाया। (आनन्दरामायणे)

चैत्र मास में यति एवं राम आदि का पूजन विस्तार पूर्वक करे—

भक्त को उचित है कि प्रतिदिन रामचन्द्रजी का पूजन करे चैत्र में प्रतिपदा से लेकर नवमी पर्यन्त प्रतिदिन विशेष पूजन करने का विधान है। एक ब्राह्मण पत्नी सहित सोहागिन विप्र पत्नी को सीता मानकर विस्तार पूर्वक पूजन करे और भोजन करावें-आनन्दरामायणे—

अथवा यतिनं रामस्थाने भक्त्या निवेशयेत्।
पूगीफलमयीं सीतां यतिवामे निवेश्य च॥
आदावावाह्य विप्रेषु देयमासनमुत्तमम्।
ततः प्रक्षाल्य पादौ च सर्वेषां च पृथक् पृथक्॥
यति पादोदकं भिन्नं स्थापनीयं नरोत्तमैः।
ततः पृथक् पृथगर्घ्यान् दत्वा सुचन्दनादिभिः॥

अर्थ=अथवा रामचन्द्र जी के स्थान में यति की स्थापना करे। सुपारी में सीता की कल्पना करके उसे यति के वामभाग में रख दे। पहले विप्रों का आवाहन करके उत्तम आसन दे। फिर अलग-अलग उन लोगों के पैर धोकर यति का पादोदक अलग रख दे। तदनन्तर अच्छे चन्दन आदि से पृथक्-पृथक् अर्घ्य आदि दे।

पुनर्दत्वा तु तांबूलं दक्षिणां तु विसर्जयेत्।
ततः स्वयं विप्रतीर्थं गृहीत्वा वै ततः परम्॥
यतिपादोदकं प्राश्य देवतीर्थं ततः परम्।
गृहीत्वा भोजनं कार्यं सुहृन्मित्रजनैः सह॥
समर्पितं यद्यतये ततश्च ब्राह्मणाय हि।
देयं स्वगुरवे सर्वं ब्रह्मसूत्रादिकं शुभम्॥

अर्थ=फिर ताम्बूल और दक्षिणा देकर उन्हें विदा करे। तदनन्तर स्वयं ब्राह्मणों के चरणोंदक, दण्डी संन्यासियों के पादोदक एवं देवतावों के चरणों के पुनीत चरण जल से आचमन (पान) करके नातेदारों मित्रों तथा वान्धवों के साथ स्वयं भोजन करे। तदनन्तर यतियों तथा ब्राह्मणों को जो कुछ दिया हो (दक्षिणा में) वही अपने गुरु को भी दे। (यदि गुरु भी वही यति ही है तो एक ही दक्षिणा पूजन से दोनों की पूर्ति अलग-अलग हैं तो दोनों को देने से पूर्ति होगी।

स्त्री को शुभ कार्य से रोकने पर राक्षस योनि की प्राप्ति—

जंगल में ब्राह्मण को देखकर राक्षस दौड़ा ब्राह्मण ने उसके ऊपर जल फेंका हे मुनिराज! इस घोर राक्षस देह से आप मेरी रक्षा करिये मैं आपकी शरण हूं। आपके जलाभिषेक से मुझे अपने पूर्व जन्म का स्मरण हो आया है। इस प्रकार का कौतुक देखकर कर्कश ने अपना धनुष-वाण फेंक दिया और शम्भु नाम ब्राह्मण के पैरों पर गिर पड़ा और कहने लगा हे ब्राह्मण देवता हमारी रक्षा करो ब्राह्मण ने उस राक्षस से कहा—पहले तुम हमें यह वतलावो कि इस राक्षस देह को किस तरह प्राप्त हुये। राक्षस कर्कश ने अपने पूर्वजन्म का हाल वताना प्रारम्भ किया। उसने कहा इसके पहले मैं अपने कर्मो से पराङ्मुख एक ब्राह्मण था। उस समय मैं जैसे-तैसे दान लेता हुवा दुराचार और व्यसनों में अपना जीवन विता रहा

था। उसी समय मेरी स्त्री विना मुझसे पूछे ही चैत्र स्नान करने के लिये राम तीर्थ को चल पड़ी। मैंने उसे रास्ते में देखा तो पकड़ लिया और उससे कहा अरी राँड़। विना हम से पूछे तू कहाँ जा रही है भयभीत होकर उसने उत्तर दिया कि मैं चैत्र स्नान करने के लिये रामतीर्थ जा रही हूँ। एसा करने में मैंने कोई पाप नहीं समझा, इसीलिये चल पड़ी। ऐसी निष्कपट वात सुनकर भी मैंने उसे वहुत मारा और घर लौटा दिया। कुछ दिन वाद मेरी मृत्यु हुयी और यम के दूत पकड़ कर मुझे यमलोक ले गये। चित्रगुप्त ने मुझे देखा तो वहुत धिक्कारा और धमकाकर यमराज से कहा हे धर्मराज ! इस पापी ने अपनी स्त्री को चैत्र स्नान से रोका था। अतएव यह राक्षसी योनि को भोगकर नरक भोगने का अधिकारी है। इस प्रकार चित्र गुप्त की वात सुनकर धर्मराज ने अपने अनुचरों को आज्ञा दी कि इसे किसी निर्जन वन में राक्षसी योनि दे दो। उनके आज्ञानुसार यमदूत मुझे इस वन में छोड़ कर लौट गये, तभी से भूखे-प्यासे रहकर मैंने पैंतीस हजार वर्ष विताये हैं। मुझे नहीं मालूम कि मैंने कौन-सा पुण्य किया था, जिसके प्रभाव से इस निर्जन वन में आप जैसे सज्जन के सद्गतिप्रद दर्शन प्राप्त हुये। उसकी वात सुनकर शम्भु ने क्षण भर अपने हृदय में उसके पूर्व सुकृत का ध्यान किया और कहने लगे। हे राक्षस ! तुमने पूर्व जन्म में जो सुकृत किया था, वह मैं वतला रहा हूँ। उसी के प्रभाव से हमारा-तुम्हारा साक्षात्कार हुवा है। एक वार तुमने चैत्र शुक्ल एकादशी को किसी के यहाँ भोजन किया, तांवूल-दक्षिणा ली और एक वस्त्र में रखकर उसे तुमने अपनी कमर में लपेट लिया। द्वादशी को तुम सवेरे उठ और गंगा स्नान करने चले गये। वह कमर में लिपटी हुयी दक्षिणा और ताम्बूल भूल से गौतमी नदी के तट पर गिर गया। उसे किसी ब्राह्मण ने उठा लिया, किन्तु उसके विषय में तुम्हें कुछ स्मरण नहीं था। चैत्रमास में उस दक्षिणा और ताम्वूल के दान से ही आज इस निर्जन वन में हमसे साक्षात्कार हुवा है देखो, चैत्र में तांवूल के दान का कितना वड़ा माहात्म्य है। अतएव इस मास में तांवूल दान अवश्य करना चाहिये।

धर्म के अपमान से राजा चोर अग्नि आदि का भय—

चत्वारो धनदायादा धर्माग्निनृपतस्कराः।
तत्र ज्येष्ठापमानेन त्रयः कुप्यन्ति सोदराः॥

अर्थ=धर्म, अग्नि, राजा और चोर ये चारों धन के दाय भाग को लेने वाले भागीदार हैं किन्तु ज्येष्ठ (धर्म) के अपमान से तीनों अग्नि राजा और चोर कुपित होकर सर्वनाश कर देते हैं अतः धर्म को नहीं छोड़ना चाहिये।

• २०—बीसवाँ वर्ण धर्म प्रकरण समाप्त •

कायशुद्धि प्रकरणम्

विधवा धर्म निर्णय—

केशरञ्जन ताम्बूलगन्धपुष्पादिसेवनम्।
भूषणंरङ्ग वस्त्रञ्च कांस्यपात्रेषु भोजनम्॥

द्विवारभोजनञ्चाऽक्ष्णोरञ्जनं वर्ज्जयेत्सदा ।
स्नात्वाशुक्लाम्बर धरा जितक्रोधा जितेन्द्रिया ॥ (हारीत संहिता में)

अर्थ=केशरञ्जन, पान व गन्ध पुष्प आदि सेवन, अलङ्कार, रंगे वस्त्र काँसे के पात्र में भोजन, दो वार भोजन और आंखों में अञ्जन धारण, ये सब विधवा को त्याग करना चाहिये और विधवा स्नान के अनन्तर श्वेत वस्त्र पहना करे, क्रोध व इन्द्रियों को जय करे, पाप व छल को आश्रय न करे आलस्य को त्याग करे। श्री वेदव्यास ने भी आज्ञा की है कि:—

विधवाकबरीबन्धो भर्त्तृ बन्धाय जायते ।
शिरसो वपनं कार्य्यं तस्माद्विधवया सदा ॥
एकाऽऽहारः सदा कार्य्यो न द्वितीयः कदाचन ।
पर्य्यङ्कशायिनी नारी विधवापातयेत्पतिम् ॥

अर्थ=विधवा स्त्री का वेणी बन्धन पति के बन्धन का कारण होता है अतः विधवा को सदा मुण्डन कराना चाहिये विधवा को एकाहार (एक वार भोजन दिन में) करना चाहिये पर्य्यङ्क (खटिया) में नहीं सोना चाहिये उससे पति की अधो गति होती है, शरीर का मांजना पान का खाना तथा गन्ध द्रव्य का सेवन न करे श्वेत वस्त्र पहना चाहिये अन्यथा पाप होता है नियम से रहे।

मृते भर्त्तरि ब्रह्मचर्य्यं तदन्वारोहणं वा। (विष्णुसंहिता में)

अर्थ=पति वियोग होने से सती स्त्री ब्रह्मचारिणी रहे अथवा पति के साथ सहमृता हो।

इसी प्रकार—

इयं नारी पतिलोकं वृणाना धर्म्मंपुराणमनुपालयन्ती। (अथर्व्ववेद में)

अर्थ=इसी प्रकार के अनेक वचनों से पति लोक की इच्छा करने वाली सती के लिये सनातन पातिव्रत्य धर्म्म के पालन की ही आज्ञा की गयी है। अव इस प्रकार आर्य भावापन्न सती विधवा की जीवन रूप तरङ्गिणी पति प्रेम रूप समुद्र की ओर गम्भीर धीर गति से कैसे अग्रसर होती है सो वताया जाता है। स्त्री प्रकृतिमाता हैं सृष्टि की इच्छा से भगवान् प्रकट किया है इनका आदर करे।

स्नान सात प्रकार का जल मन्त्र भसमादि से—

स्नान कार्य सव से प्रथम करना चाहिये शास्त्र में सात प्रकार का स्नान कहा है। योग संहिता में :—

मान्त्रं भौमं तथाऽग्नेयं वायव्यं दिव्यमेव च ।
वारुणं मानसं चैव सप्तस्नानं प्रकीर्त्तितम् ॥
आपोहिष्ठादिभिर्मान्त्रं भौमं देहप्रमार्जनम् ।
आग्नेयं भस्मना स्नानं वायव्यं गोरजः स्मृतम् ॥
यत्तदातपवर्षेण स्नानं दिव्यमिहोच्यते ।
वारुणं चावगाहः स्यान्मानसं विष्णुचिन्तनम् ॥

अर्थ=मान्त्र, भौम, आग्नेय, वायव्य, दिव्य, वारुण और मानस-स्नान के सात भेद हैं। 'आपोहिष्ठा, आदि मन्त्र और जल आदि से जो स्नान किया जाता है उसका मान्त्र

स्नान कहते हैं। शरीर को वस्त्र से भली प्रकार पोछने को भौम स्नान कहते हैं। भस्मधारण करने से आग्नेय स्नान कहा जाता है। गोरज को शरीर पर लेपन अथवा शरीर में उसका स्पर्श वायव्य स्नान हैं। वृष्टिपात होते समय यदि सूर्य का आतप हो तो उस समय वृष्टि जल में स्नान करने से दिव्य स्नान कहाता है। जल में डूबकर स्नान करने से वारुण स्नान कहाता है और अनन्त सूर्य के समान प्रभाव युक्त,चतुर्भुज सत्त्व गुण मय विष्णु भगवान् के रूप का ध्यान ही मानस स्नान हैं। इस प्रकार वाह्य शुद्धि द्वारा आत्म प्रसाद और इष्ट देव की कृपा उपलब्ध होती है।

गोशाला गुरु गृह पञ्चवटी देव मन्दिर तीर्थादि ये स्थान सिद्धियों को देने वाले हैं—

गोमयेन यथा स्थानं कायो गंगोदकेन च।
पञ्चशाखायुतो देशस्तथा सिद्धिप्रदायकः॥
गोशाला वै गुरोर्गेहं देवायतनकानन्म्।
पुण्यक्षेत्रं नदी तीरं सदा पूतं प्रकीर्त्तितम्॥ (योग संहिता)

अर्थ=जिस प्रकार गंगाजल से शरीर की शुद्धि होती है और गोमय से स्थान की शुद्धि होती है उसी प्रकार पञ्च शाखा युक्त स्थान अर्थात् अश्वत्थ, वट, विल्व, आमलकी और अशोक यह पञ्च वृक्ष युक्त पञ्चवटी के नीचे का स्थान सिद्धियों का देने वाला है। गोशाला, गुरुगृह एवं आश्रम, देवमन्दिर, वन स्थान, तीर्थादि पुण्यक्षेत्र और नदी तीर ये सदा ही पवित्र समझे जाते हैं। स्थान शुद्धि के द्वारा पवित्रता तथा पुण्य वृद्धि होती है। अन्तः शुद्धि सत्व, ज्ञान योग निष्ठा, दान, दम, यज्ञ, स्वाध्याय, तप, सरलता, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शान्तादि से इष्ट देव का दर्शन तथा समाधि की प्राप्ति होती है।

दिये गये धन, ऋण को धर्म पूर्वक लेने का निर्णय—

प्रपन्नं साधयन्नर्थं न वाच्यो नृपतेर्भवेत्।
साध्यमानो नृपं गच्छन्दण्ड्योदाप्यश्च तद्धनम्॥ (याज्ञवल्क्यस्मृतिः)

अर्थ=दिये गये धन को धर्म पूर्वक लेने का प्रयत्न करने वाले के बीच में राजा दखल न देवे। यदि वह उसके लिये राजा के समीप निवेदन करता है तो दण्ड्य होता है और राजा को धनी के धन दिला देना चाहिये।

गृहीतानुक्रमाद्दाप्यो धनिनामधमर्णिकः।
दत्वा तु ब्राह्मणायैव नृपतेस्तदनन्तरम्॥

अर्थ=समान जाति के धनियों में जिस क्रम से (जिस जिस का) धन लिया हो उस उसको ऋणी से दिलवाये (यदि भिन्न जाति के ऋण दाता हों तो) पहले ब्राह्मण का धन दिलवा कर तब क्षत्रिय आदि का दिलावे। ऋण लेकर नदे तो भविष्य में देना होता है।

राज्ञाऽधमर्णिकोदाप्यः साधिताद् दशकं शतम्।
पञ्चकं च शतं दाप्यः प्राप्तार्थो ह्युत्तमर्णिकः॥

अर्थ=यदि राजा ऋणी से वसूल करके ऋण दाता को धन दिलावे तो ऋणी से दश प्रतिशत और धन पाने वाले धनी से पाँच प्रतिशत भृति रूप में ले राजा अपने लिये।

याज्ञवल्क्य स्मृतिः

हीनजातिं परिक्षीणमृणार्थं कर्म कारयेत् ।
ब्राह्मणस्तु परिक्षीणः शनैर्दाप्यो यथोदयम् ॥

अर्थ=(धनी से) निम्न जाति के ऋणी से जिस के पास ऋण लौटाने के लिये धन न हो, धनी व्यक्ति के यहाँ उसकी जाति के अनुरूप कार्य करावे । यदि इस प्रकार का असमर्थ ऋणी ब्राह्मण हो तो शनैः-शनैः (थोड़ा-थोड़ा करके) उसकी आय के अनुसार धन वसूल करे ।

दीयमानं न गृह्णाति प्रयुक्तं यः स्वकं धनम् ।
मध्यस्थापितं चेत्स्याद्वर्धते न ततः परम् ॥

अर्थ=यदि धन देने वाला व्यक्ति व्याज के लिये ऋण दिये गये धन को ऋणी द्वारा लौटाये जाने पर भी (व्याज के लोभ से) ग्रहण नहीं करता और उस धन को ऋणी किसी मध्यस्थ के पास जमा कर दे तो उसके बाद उसकी वृद्धि (व्याज) नहीं लगती ।

अविभक्तैः कुटुम्बार्थेयदृणं तु कृतं भवेत् ।
दद्युस्तद्रिक्थिनः प्रेते प्रोषिते वा कुटुम्बिनि ॥

अर्थ=संयुक्त परिवार में (एक साथ रहने वाले) अनेक व्यक्तियों या एक व्यक्ति द्वारा जो ऋण कुटुम्ब के पालन के लिये लिया गया हो, उसे उसकी मृत्यु के उपरान्त उसके सभी उत्तराधि कारी (सम्पत्ति के भागी दार) लौटावें ।

न योषित्पति पुत्राभ्यां न पुत्रेण कृतं पिता ।
दद्यादृते कुटुम्बार्थान्न पतिः स्त्री कृतं तथा ॥

अर्थ=जो ऋण कुटुम्ब के भरण पोषण के लिये नहीं लिया गया हो (किसी अन्य प्रयोजन से लिया गया हो) ऐसे पति द्वारा लिये गये ऋण को स्त्री न लौटावे, पुत्र द्वारा लिये गये ऋण को माता न भरे पिता न भरे और पत्नी द्वारा लिये गये ऋण को पति लौटाने का अधिकारी नहीं होता ।

गिरों रक्खी वस्तु का निर्णय—

गोप्याधिभोगे नो वृद्धिः सोपकारे च हापिते ।
नष्टो देयो विनष्टश्च दैवराजकृतादृते ॥

अर्थ=(वृद्धि पर रखी गयी) गोप्य आधि के उपभोग किये जाने पर वृद्धि (व्याज) न देवे, उपकारक आधि (बैल आदि) में हानि होने पर भी वृद्धि न दें दैव और राजोपद्रव के विना वन्धक रक्खी हुवी वस्तु नष्ट हो जाय या खो जाय तो वन्धक रक्खी हुवी वस्तु के समान वस्तु देवे ।

धरोहर रक्खी वस्तु का निर्णय—

वासनस्थमनाख्याय हस्तेऽन्यस्य यदर्प्यते ।
द्रव्यं तदौपनिधिकं प्रतिदेयं तथैव तत् ॥ (याज्ञवल्क्यस्मृतिः)

अर्थ=जब किसी पात्र में रखकर रूप या संख्या आदि बताये विना कोई वस्तु दूसरे को (निक्षेप के रूप में) दी जाती है तब वह द्रव्य उपनिधि कहलाता है उसे ज्यों के त्यों लौटाना होता है । अस्यापवदः—

न दाप्योऽपहृतं तं तु राजदैविक तस्करैः ।
भ्रषश्चेन्मार्गितेऽदत्ते दाप्यो दण्डं च तत्समम् ॥

अर्थ = किन्तु उसके राज, दैविक उत्पात द्वारा नष्ट या चोरों द्वारा चुरा लिये जाने पर वह (उपनिधि द्रव्य) प्रति देय नहीं होता। और यदि उपनिधि रखने वाले के मांगने पर भी वह वस्तु नहीं लौटायी जाती एवं उसी के वाद राजा चोर आदि द्वारा नष्ट हो जाती है तो उसे देना होता है और साथ ही उसके वरावर दण्ड भी चुकाना होता है।

कर्म विपाकः (कर्मों का फल ब्रह्महत्या चोरी सुरापान आदि का)—

न्यायागतधनस्तत्त्वज्ञान निष्ठाऽतिथि प्रियः।
श्राद्ध कृत्सत्यवादी च गृहस्थाऽपि हि मुच्यते ।।

अर्थ = धर्म पूर्वक धनोपार्जन करने वाला, अतिथिसत्कार में तत्पर (नित्य नैमित्तिक) श्राद्ध अनुष्ठान में रत, सत्यवादी और आत्म तत्त्व के ध्यान में लीन रहने वाला गृहस्थ भी मुक्ति प्राप्त कर लेता है।

मृगश्वसूकरोष्ट्राणां ब्रह्महा योनिमृच्छति।
खरपुल्कसवेनानां सुरापोनात्र संशयः ।।
कृमिकीटपतङ्गत्वं स्वर्णहारी समाप्नुयात्।
तृणगुल्मलतात्वं च क्रमशो गुरुतल्पगः ।।

अर्थ = ब्रह्महत्या करने वाला हरिण, कुत्ता, शूकर और ऊँट का जन्म पाता है, सुरा पीने वाला गधा, पुल्कस (निषाद द्वारा शूद्रा से उत्पन्न पुरुष) और वेण (वैदेहक द्वारा अम्बष्ठा से उत्पन्न) की योनि पाता है इसमें सन्देह नहीं। (ब्राह्मण का) सोना चुराने वाला कृमि (मांस विष्ठा आदि में उत्पन्न होने वाले कीड़े) कीट (चींटी आदि) और पतिंगों की योनि प्राप्त करता है। गुरुपत्नी से व्यभिचार करने वाला क्रमशः तृण, गुल्म (छोटी लता) और लता का जन्म पाता है। याज्ञवल्क्यस्मृति :—

ब्रह्म हा क्षयरोगी स्यात्सुरापः श्यावदन्तकः।
हेमहारी तु कुनखी दुश्चर्मा गुरुतल्पगः ।।
यो येनसंवसत्येषां स तल्लिङ्गोऽभिजायते।

अर्थ = (मनुष्य का जन्म पाने पर) ब्राह्मण की हत्या करने वाले राज यक्ष्मा का रोगी होते हैं, सुरा पीने वाले के दाँत स्वभावतः काले होते हैं (ब्राह्मण का) सोना चुराने वाले के नख भद्दे होते हैं और गुरु पत्नी का भोग करने वाला कोढी होता है। इन ब्राह्मण आदि महापातकियों में जिसके साथ कोई निवास करता है वह भी उसी के समान महापातकी होता है।

अन्नहर्ताऽऽमयावी स्यान्मूको वागपहारकः ।।
धान्यमिश्रोऽतिरिक्ताङ्गः पिशुनः पूतिनासिकः।
तैलहृत्तैलपायी स्यात्पूतिवक्त्रस्तु सूचकः ।।

अर्थ = अन्न चुराने वाले को अजीर्ण का रोग होता है और वाणी (अर्थात् पुस्तक) चुराने वाला गूंगा होता है। धान्य में मिलावट करने वाले का कोई अंग (अंगुली आदि) वढा होता है और पिशुन (दूसरों का दोष कहने वाला चुगल खोर) की नाक दुर्गन्धयुक्त रहती है।

परस्य योषितं हृत्वा ब्रह्मस्वमपहृत्य च।
अरण्ये निर्जले देशे भवति ब्रह्मराक्षसः ।।

अर्थ=परायी स्त्री का और ब्राह्मण के धन का अपहरण करने वाला वन में निर्जल-स्थान पर ब्रह्मराक्षस हो कर जन्म लेता है।

यथाकर्म फलं प्राप्य तिर्यक्त्वं कालपर्ययात्।
जायन्ते लक्षणभ्रष्टा दरिद्राः पुरुषाधमाः॥

अर्थ=अपने किये हुये कर्म के अनुसार नरक आदि फल और पशु पक्षियों की योनि प्राप्त कर के (काल कर्म से कर्म के क्षीण होने पर) वे पुरुष दरिद्र और पुरुषों में निकृष्ट होकर जन्म लेते हैं।

ततो निष्कल्मषो भूताः कुलेमहति भोगिनः।
जायन्ते विद्ययोपेताधनधान्यसमन्विताः॥

अर्थ=तव (इस प्रकार के मनुष्य) जन्म-जन्मान्तर में नरक आदि के भोग द्वारा पापों के क्षीण होने पर उच्च कुल में धन धान्य से युक्त और विद्या से सम्पन्न होकर जन्म लेते हैं। (विना भोगे छुट्टी नहीं होती है चाहे कोटि (करोड़ों) जन्म वीत जाय अवश्य भोगना पड़ता है)

शरीरजैः कर्मदोषैर्यातिस्थावरता नरः।
वाचिकैः पक्षिमृगतां मानसैरन्त्यजातिताम्॥

अर्थ=यदि मनुष्य शरीर से अशुभ कर्म करे तो, स्थावर योनि पाता है। वाणी के अशुभ कर्मो से पक्षी की योनि व पशु की योनि पाता है और मन के अशुभ कर्मो से अन्त्यज योनि पाता है।

नारी धर्म निर्णय— (पुरुष धर्म से नारीधर्म की विशेषता)

धर्म के गूढ रहस्य पर विचार करने से विचारवान् पुरुष को अवश्य ही ज्ञात होगा कि प्रवृत्तिभाव को अन्तःकरण से नष्ट करके क्रमशः निवृत्तिभाव की पूर्णता करना ही धर्म का धर्मत्व है—वैशेषिक दर्शन में कहा है कि—

यतोऽभ्युदय निःश्रेयससिद्धिः स धर्म्मः। (वैशेषिक दर्शन)

अर्थ=जिससे उन्नति व मुक्ति हो वही धर्म्म है। धर्म्म का यही धर्म्मत्व आर्य्यशास्त्रों में विविध धर्म्म विविध रूप से वताया गया है इसलिये जिस विधि के द्वारा जिसका प्रवृत्ति नाश और निवृत्ति पोषण हो वही विधि उसके लिये धर्म्म है। जिन विधियों के द्वारा पुरुष पूर्ण पुरुष हो सके वे सव पुरुष के लिये धर्म्म है। पुरुषत्व की पूर्णता प्रवृत्ति के नाश व निवृत्ति की पूर्णता में होगी, इसी प्रकार जिन विधियों के द्वारा नारी पूर्ण नारी हो सके वे सव नारी के लिये धर्म होंगे। नारीत्व की पूर्णता भी प्रवृत्ति के नाश व निवृत्ति की पूर्णता में होगी। यदि इस सिद्धान्त से विरोधिनी कोई विधि कहीं देखने में आवे तो वह अशास्त्रीय, अधर्ममूलक, कपोलकल्पित या कदर्थ युक्त है ऐसा समझना चाहिये। अव नारीत्व की पूर्णता वर्णन के प्रसङ्ग में नारी भाव का विज्ञान वताया जाता है आर्य्य शास्त्रों में प्रकृति की सत्ता पुरुष से स्वतन्त्र नहीं मानी गयी है। पूर्ण प्रकृति परमात्मा में विलीन रहती है। सृष्टि दशा परिणाम दशा है इसलिये अपूर्ण दशा है। सृष्टि रचना समय—मनुसंहिता में लिखा है कि:—

द्विधा कृत्वाऽऽत्मनो देहमर्द्धेन पुरुषोऽभवत् ।
अर्द्धेन नारी तस्यां सविराजमसृजत्प्रभुः ।।

अर्थ=सृष्टि के समय परमात्मा अपने शरीर को द्विधा विभक्त करके आधे में पुरुष बने और आधे में स्त्री बनकर और प्रकृति में ही विराट् सृष्टि की लीला विस्तार की । श्रुति भी ऐसी ही आज्ञा करती है कि सृष्टि के पहले परमात्मा एक ही रहते हैं और सृष्टि दशा में उनमें से ही प्रकृति निकल कर समस्त सन्तान प्रसव करती है और अन्त में लीला की पूर्णता होने पर पुनः परमात्मा में लय हो जाती है ।

सोऽनुवीक्ष्य नाऽन्यदात्मनोऽपश्यत् । स वै नैव रेमे । तस्मादेकाकी न रमते ।
स द्वितीयमैच्छत् । सहैतावानास यथा स्त्रीपुमांसौ सम्परिष्वक्तौ ।
स इममेवाऽऽत्मानं द्वेधाऽपातयत्ततः पतिश्च पत्नी चऽभवताम् ।
तस्मादिदमर्द्ध बृगलमिव स्व इति स्माऽऽह याज्ञवल्क्यः । तस्मादयमाकाशः ।
स्त्रिया पूर्य्यत एव तां समभवत्ततो मनुष्या अजायन्त । (बृहदारण्यकोपनिषद् में)

अर्थ=सृष्टि के पहले आत्मा एक ही थे इसलिये रमण न कर सके । एकाकी रमण नहीं हो सक्ता है इसलिये उन्होंने द्वितीय की इच्छा की और स्त्री पुरुष जैसे साथ में मिलकर रहते हैं । ऐसा संकल्प किया । उससे परमात्मा द्विधा विभक्त हो स्त्री व पुरुष बन गये । इसलिये यह शरीर अर्द्ध चणक की तरह रहता है । विवाह के द्वारा स्त्री इसे पूर्ण करती है जिससे सृष्टि होने लगती है। संसार प्रकृति पुरुषात्मक हैं। पुरुष में परमात्मा की सत्ता और स्त्री में प्रकृति की सत्ता विद्यमान है। पुरुष से पृथक् होने पर ही प्रकृति में परिणाम हुवा करता है। जब तक प्रकृति परिणाम है तभी तक सुख दुःख मोहात्मक संसार है, प्रवृति का लीला विलास है और सर्वत्र ही अपूर्णता है। जब तक प्रकृति पुरुष से पृथक् रहती है तब तक अपूर्ण ही रहा करती है। इस अपूर्ण जीव प्रकृति को पूर्ण करके परमात्मा में लय करने के लिये ही जीवसृष्टि का विस्तार है । प्रकृति का यह संसार पुरुष में लय होने के लिये ही अग्रसर होता है इसलिये प्रकृति का वही धर्म्म है कि जिससे पुरुष में लय हो सके । इस गम्भीर विज्ञान को स्मरण करके ही महर्षियों ने नारी धर्म्म का उपदेश किया है । स्त्री की स्वतन्त्रसत्ता नहीं है क्योंकि प्रकृति की भी स्वतन्त्रसत्ता नहीं है। प्रकृति पुरुष से ही अर्द्धाङ्गिनीरूप से निकलती है और पुरुष में ही लय को प्राप्त होती है। लय होने के लिये जो कुछ उपाय है वही धर्म है । इसलिये जिन जिन उपायों से नारी अपने को उन्नत करती हुयी पुरुष में लय को प्राप्ति हो सक्ती है वे ही सब उपाय नारी धर्म्म हैं। किसी में किसी वस्तु को लय कर देने के लिये "तन्मयता" चाहिये; अर्थात् "तन्मयता" न होने से कोई अपने को दूसरे में लय नहीं कर सक्ता है क्योंकि अपनी पृथक् सत्ता का ज्ञान जब तक रहे तब तक कोई दूसरे में लय नहीं हो सक्ता है । इसलिये जो धर्म नारी को पुरुष में "तन्मय" होना सिखावे वही नारी धर्म है। पातिव्रत्यधर्म ही स्त्री को पूर्ण उन्नत करता हुवा अन्त में पति में तन्मयता प्राप्त करा सक्ता है इसलिये पातिव्रत्य धर्म ही स्त्री का एक मात्र धर्म्म है ।

२१—इक्कीसवाँ कायशुद्धि प्रकरण समाप्त

वानप्रस्थ धर्म प्रकरणम्

पत्नी को छोड़कर पुत्रों के संरक्षण में अथवा साथ लेकर वन जाय—

सुतविन्यस्तपत्नीकस्तया वाऽनुगतो वनम् ।
वानप्रस्थो ब्रह्मचारी साग्निः सोपासनो व्रजेत् ।। (याज्ञवल्क्य स्मृतिः)

अर्थ=अपनी पत्नी को पुत्रों के संरक्षण में छोड़कर अथवा उसे साथ लेकर (वैतानिक) अग्नि और उपासना (गृह्याग्नि) सहित वन में जाकर ब्रह्मचर्य धारण करते हुये वानप्रस्थ होवे ।

अफालकृष्टेनाग्नींश्च पितृन्देवातिथीनपि ।
भृत्यांश्च तर्पयेत् श्मश्रु जटालोमभृदात्मवान् ।।

अर्थ=विना जुती हुयी भूमि पर स्वयं उत्पन्न (नीवार, वेणु, श्यामाक आदि) अन्न से अग्नियों, पितरों, देवों, अतिथियों एवं सेवकों को तृप्त करे (पञ्च महायज्ञ करे) दाढी, मूँछ, जटा और शरीर के रोम वढाये रखे तथा आत्मवान् (उपासना में रत) रहे । याज्ञवल्क्य-स्मृतिः—

अह्नोमासस्यषण्णां वा तथा संवत्सरस्य वा ।
अर्थस्य संचयं कुर्यात्कृतमाश्वयुजेत्यजेत् ।।

अर्थ=एक दिन, एक मास, छः मास या वर्ष भर के लिये धन का संचय करे और जो कुछ शेष वच जाय उसका आश्विन महीने में त्याग कर दे शेष न रखे ।

त्रिकाल संध्या स्नान व दान करे दान न ले सब में आत्मभावन—

दान्तस्त्रिषवणस्नायी निवृत्तश्च प्रतिग्रहात् ।
स्वाध्यायवान्दानशीलः सर्व सत्त्वहितेरतः ।।

अर्थ=दान्त (दर्प रहित) हो, तीनों सवनों में (प्रातः, मध्याह्न, अपराह्न) स्नान करे, दान न लेवे स्वाध्याय (वेदाभ्यास) में लगा रहे, दान करे और सभी प्राणियों के हित में रत रहे ।

हरिरेव जगज्जगदेवहरिर्हरितोजगतोनहि भिन्नतनुः ।
इतियस्यमतिः पर मार्थगतिः सनरोभव सागर मुद्धरति ।।
एकोदेवः सर्वभूतेषुगूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः सक्षीचेता केवलो निर्गुणश्च । (श्रुति में)

अर्थ=भगवान् ही संसार स्वरूप हैं, संसार ही ईश्वर स्वरूप है ईश्वर और संसार से भिन्न कोई वस्तु नहीं हैं। इस प्रकार की जिसकी वुद्धि है, तथा परमार्थ में गति है वह व्यक्ति संसार रूपी समुद्र को पार कर जाता है । एक ही देव सभी प्राणियों में व्याप्त है, सर्व व्यापी है, सभी जीवों की आत्मा है कर्म का स्वामी है सभी प्राणियों में निवास करने वाला है, सभी कर्मों का साक्षी एवं निर्गुण स्वरूप एक ही देव सर्वत्र व्याप्त है ।

इन्द्रजालमिदं सर्वं यथामरुमरीचिका ।
अखण्डितघनाकारा वर्तते केवलं शिवः ।।

आत्मादेहादिभिन्नोऽयं मिथ्या चेदं जगत्ययो ।
देहात्मत्वंपरात्मत्वंधीर्विपर्ययभावना ॥

अर्थ=मरु मरीचिका की भाँति यह जगत् इन्द्रजाल के समान है कभी न नष्ट होने वाले घना कार की तरह केवल शिव ही सर्वत्र व्याप्त हैं। आत्मा और देह भिन्न-भिन्न हैं और यह संसार भी मिथ्या है देह और आत्मा को एक मानने वाले व्यक्ति के प्रति विपर्यय भावना ही बुद्धि मान का लक्षण है।

न सुखंदेवराजस्य नसुखंचक्र वर्तिनः ।
यत्सुखंवीतरागस्यमुनेरेकान्तवासिनः ॥

अर्थ=जो सुख वीत राग एकान्त वासी मुनि को है वह सुख देवतावों के राजा इन्द्र को न चक्रवर्ती को है।

श्लोकार्द्धे न प्रवक्ष्यामि यदुक्तंग्रन्थ कोटिभिः ।
ब्रह्मसत्यं जगन् मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः ॥

अर्थ=जो करोड़ो ग्रन्थों में कहा गया है उसका सार मैं आधे श्लोक में कह रहा हूँ कि ब्रह्म ही सत्य है, संसार मिथ्या है जीव ही ब्रह्म है आत्मा के शिवाय और कोई वस्तु नहीं है ।

उलूकस्ययथाभानुरन्धकारः प्रतीयते ।
स्वप्रकाशेपरानन्दे तमोमूढस्य जायते ॥

अर्थ=उल्लू के लिये जिस प्रकार सूर्य अन्धकार मय दिखाई देता है उसी प्रकार अज्ञान रूपी अन्धकार से व्याप्त व्यक्ति के लिये स्वप्रकाश परानन्द भी नहीं दिखायी देता है।

चक्षुर्दृष्टिनिरोधाभ्रैः सूर्यो नास्तीतिमन्यते ।
तथाज्ञाना वृतोदेही ब्रह्मनास्तीतिमन्यते ॥

अर्थ=आँख मूंद लेने के वाद जैसे व्यक्ति कहते हैं कि सूर्य नहीं है वैसे ही अज्ञान से आवृत शरीर वाले व्यक्ति के लिये ब्रह्म भी नहीं प्रतीत होता है।

यथारज्जुं परित्यज्यसर्पंगृह्णाति वैभ्रमात् ।
तद्वत्सत्यमविज्ञाय जगत् पश्यति मूढधी: ॥

अर्थ=जिस प्रकार भ्रमवश रस्सी को छोड़कर मनुष्य सर्प को ग्रहण करता है वैसे ही सत्य को न जान कर मूर्ख इस संसार को देखते हैं।

रज्जुखण्डे परिज्ञाते सर्परूपं न तिष्ठति ।
सर्पादौरज्जु एतेव ब्रह्म सत्तेव केवलम् ॥

अर्थ=जिस प्रकार रस्सी के टुकड़े को जान लेने पर कल्पित सर्प का कोई रूप नहीं रहता उसी प्रकार रज्जु की तरह केवल ब्रह्म सता ही प्रतीत होती है।

तपस्या और श्रद्धादि करके पाप मुक्त व मोक्ष लाभ—

तपः श्रद्धे येह्युपवसन्त्यरण्ये, शान्ताविद्वांसोभैक्षचर्य्यां चरन्तः ।
सूर्य्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति, यात्राऽमृतःस पुरुषोह्यव्ययात्मा ॥

(मुण्डकोपनिषद्)

अर्थ=भिक्षा वृत्ति को आश्रय करके जो विद्वान् शान्तस्वभाव वानप्रस्थ, अरण्य में निवास करते हुये तपस्या और श्रद्धा का सेवन करते हैं वे पुण्य पाप से मुक्त होकर उत्तरायण पथ से अमृत अव्यय पुरुष के लोक में अर्थात् ब्रह्मलोक में जाते हैं। यही वानप्रस्थाश्रम का संक्षेप से रहस्य वर्णन किया गया। इसको अपने-अपने अधिकार और देश काल से मिलाकर अनुष्ठान करने पर त्रिविध ताप व संयम के द्वारा निवृति भाव का अभ्यास होगा जिससे द्विज गण चतुर्थाश्रम के अधिकारी बन सकेंगे।

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा । सम्यग् ज्ञानेन ब्रह्मचर्य्येण नित्यम् ॥

(मुण्डकोपनिषद्)

अर्थ=सत्य, तपस्या, ज्ञान व ब्रह्मचर्य्य के द्वारा आत्मा की उपलब्धि होती है। ब्रह्मचर्य ज्ञानरूप प्रदीप के लिये स्नेह रूप हैं, संसार समुद्र में दिग्भ्रान्त जीवों के लिये ध्रुव-तारा रूप है व जगद्यन्त की जीवनी शक्ति है। इसी को ही आश्रय करके आध्यात्मिक उन्नति साधन करता हुवा जीव परमात्मा का साक्षात्कार लाभ कर सक्ता है।

छान्दोग्योपनिषद् में लिखा है किः—

अथ यद्यज्ञ इत्याचक्षते ब्रह्मचर्य्य मेवतद्ब्रह्मचर्य्येण ह्येव यो ज्ञाता तं विन्दतेऽथ यदिष्ट मित्याचक्षते ब्रह्मचर्य्यमेवतद ब्रह्मचर्य्येण ह्येवेष्टात्मानमनुविन्दते ।

अर्थ=ब्रह्मचर्य्य ही यज्ञ और इष्ट रूप है जिससे मनुष्य आत्मा को प्राप्त हो सक्ता है।

श्रीभगवान् ने गीता जी में कहा है कि:—

पदक्षरं वेद विदो वदन्ति, विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्य्यं चरन्ति, तत्ते पदं संग्रहेणप्रवक्ष्ये ॥

अर्थ=वेद वित् ज्ञानीगण जिसको अक्षर पुरुष कहते हैं, वासना रहित यतिगण जिस परमपद को प्राप्त करते हैं, जिस परम पद की इच्छा से साधक लोग ब्रह्मचर्य्य पालन करते हैं उसके विषय में मैं संक्षेप से कहता हूं। श्रीभगवान् ने इस श्लोक में ब्रह्मचर्य्य के द्वारा आध्यात्मिक उन्नति व आत्मा की उपलब्धि होती है ऐसा बताया है। जिस शक्ति द्वारा महर्षि लोग प्राचीन काल में ब्रह्मज्ञान को प्राप्त करके दिग्दिगन्त में उसकी छटा को फहराते थे और जिस शक्ति के द्वारा उनकी समाधि शुद्ध अन्तःकरण में वेद की ज्योति प्रति फलित हुवा करती थी वह शक्ति उर्ध्वरेता महर्षियों में ब्रह्मचर्य्य-शक्ति ही है। आज हीनवीर्य्य भारतवासियों में ब्रह्मचर्य की शक्ति नष्ट होने से वेद देखना तो दूर रहा उसका अर्थ करना व उच्चारण करना भी असम्भव हो गया है और हजारों प्रकार के सन्देह वेद के अर्थ में हो रहे हैं। छान्दोग्योपनिषद् में इन्द्र विरोचन संवाद में इस सिद्धान्त को स्पष्टतया दिखाया गया है कि केवल ब्रह्मचर्ग के द्वारा ही ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति हो सक्ती है।

वहाँ ब्रह्मा जी ने दोनों को ही ३२ बत्तीस वर्ष तक ब्रह्मचर्य पालन की आज्ञा की है। समाधि के समय शरीर के भीतर जो वैद्युतिक शक्ति भर जाती है उसका धारण केवल ब्रह्मचर्य्य द्वारा ही योगी कर सक्ते हैं। अन्यथा अल्प वीर्य्य साधक योगानुष्ठान करे, तो कठिन रोग से आक्रान्त हो सक्ता है। मानव शरीर भगवान् का पवित्र मन्दिर है परन्तु इस मन्दिर की नीव ब्रह्मचर्य ही है जिसके विना भगवान् कभी हृदय मन्दिर में सुशोभित नहीं हो सक्ते हैं। उपनिषदों में लिखा है कि:—

वन्धन और मोक्ष का कारण मन ही है—

मन एव मनुष्याणां कारणं वन्धमोक्षयोः।
वन्धाय विषयाऽऽसक्तं मुक्त्यै निर्विषयं मनः॥

अर्थ=मनुष्यों के वन्धन और मोक्ष का कारण मन ही है विषयासक्त मन वन्धन का और निर्विषय मन मोक्ष का कारण है योगशास्त्र का सिद्धान्त यह है कि मन वायु और वीर्य्य तीनों एक सम्वन्ध से युक्त हैं। इन में से एक भी वशी भूत हो तो और दो वशीभूत हो जाते हैं। जिसका वीर्य वशी भूत ब्रह्मचर्य के द्वारा है उसका मन वशीभूत होता है और मन के वशीभूत होते निर्विपय अन्तःकरण में ब्रह्मज्ञान का स्फुरण होता है। यही सव ब्रह्मचर्य के द्वारा आध्यात्मिक उन्नति होने के प्रमाण हैं।

पतञ्जलि जी ने योगदर्शन में लिखा है कि :—

ब्रह्मचर्य्यप्रतिष्ठायां वीर्य्यलाभः।

अर्थ=ब्रह्मचर्य की प्रतिष्ठा होने से परम शक्ति प्राप्त होती है। योग दर्शन के विभूतिपाद में जितने प्रकार की सिद्धियों का वर्णन है, यथा—सूर्य्य में संयम से भुवन ज्ञान और संस्कारों में संयम से परचित ज्ञान आदि ये सभी ब्रह्मचर्य के द्वारा दैवी शक्ति प्राप्त करने का फल है। छान्दोग्योपनिषद् में लिखा है कि:—

तद्य एवैतं ब्रह्मलोकं ब्रह्मचर्य्येणाऽनुविन्दति तेषामेवैष
ब्रह्म लोकस्तेषां सर्व्वेषु लोकेषु कामचारोभवति।

अर्थ=ब्रह्मचर्य्य के द्वारा ही ब्रह्मलोक प्राप्त होता है और उस लोक में सिद्ध पुरुष कामचारी होते हैं। यह सव ब्रह्मचर्य्य के द्वारा दैवी शक्ति लाभ का ही फल है। इसी शक्ति को प्राप्त होने से ही भीष्मपितामह को इच्छा मृत्यु—लाभ हुवा था और शरशय्या पर शयन करके भी उन्होंने पवित्र ब्रह्मज्ञान और धर्मोपदेश किया था। मनु संहिता में उत्तरायणगति की वात इस प्रकार लिखी है कि:—

यति और वीर का युद्ध में प्राणत्याग से उत्तरायण गति लाभ—

द्वाविमौ पुरुषौ लोक सूर्य्यमण्डलभेदिनौ।
परिब्राड्योगयुक्तश्चरणे चाऽभिमुखो हतः॥

अर्थ=परिव्राजक योगी और सन्मुख युद्ध में वीर की तरह प्राण समर्पण करने वाले महापुरुष, ये दोनों ही सूर्य्यमण्डल भेद करके उत्तरायण गति को प्राप्त करते हैं। उनको दुःख मय संसार में पुनः आना नहीं पड़ता है। गृहस्थ भी ऋतुकाल में स्त्री समागम करने वाला

ब्रह्मचारी ही माना गया है ऋतु पर समागम नहीं करेगा तो उसको पाप लगता है सन्तानोत्पत्ति हेतु समागम करे।

शरीरमाद्यं खलु धर्म्म साधनम्। (शास्त्रों में कहा है)

अर्थ=स्थूल शरीर की रक्षा किये विना मनुष्य किसी प्रकार की उन्नति नहीं कर सक्ता है। मानसिक अन्नति या आध्यात्मिक उन्नति सभी शारीरिक स्वास्थ्य के ऊपर निर्भर करती है।

यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्।
तृष्णाऽक्षयसुखस्यैते नाऽर्हतः षोडशीं कलाम्॥

अर्थ=संसार में जो काम सुख या स्वर्ग में जो महान् दिव्य सुख है, ये कोई भी सुख वासना नाश सुख के षोडशांश में से एक अंश भी सुख देने वाले नहीं हैं। मुण्डक श्रुति में भी लिखा है कि:—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्व संशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥

अर्थ=ब्रह्म के साक्षात्कार के अनन्तर मुक्त पुरुष के हृदय की गांठ खुल जाती है अविद्यामूलक समस्त सन्देह निवृत्त हो जाते हैं और सञ्चित तथा क्रियमाण समस्त कर्म क्षय हो जाते हैं।

भक्ति महिमा एवं ज्ञान की महिमा—

कुलं पवित्रं जननी कृतार्था वसुन्धरापुण्यवती च धन्या।
नृत्यन्तिस्वर्गेपितरोऽपि तेषां येषां 'कुले वैष्णवनामधेयः॥

अर्थ=जिन के कुल में विष्णु के भक्त हैं उनका कुल पवित्र है माता कृतार्था है पृथ्वी पर निवास करना धन्य है उनके पितृगण भी स्वर्ग में आनन्द पूर्वक नृत्य करते हैं।

कुलंपवित्रं जननी कृतार्था विश्वम्भरापुण्यवती च तेन।
अपारसंवित्सुखसागरेस्मिन्लीनं परे ब्रह्मणि यस्य चेतः॥

इति पञ्चमः परिच्छेदः समाप्तः

अर्थ=जिस व्यक्ति का चित्त इस अपार संपत्ति और सुख रूपी सागर में परं ब्रह्म में लीन है उसके द्वारा उसका कुल पवित्र, माता कृतार्थ तथा यह सम्पूर्ण पृथ्वी पुण्यवती हो जाती है।

• २२—बाइसवाँ वानप्रस्थ धर्म प्रकरण एवं पञ्चम परिच्छेद समाप्त •

सनातन धर्म मार्तण्डः

षष्ठः परिच्छेदः

तप धर्म प्रकरणम्

श्री भगवान् के मन में हुवा की सृष्टि करूँ—

यजुर्वेदीय तैत्तिरीयोपनिषद् में लिखा है यथा :—

सोऽकामयत । वहु स्यां प्रजायेयेति । स तपोऽतप्यत ।
स तपस्तप्त्वा इदं सर्वमसृजत । यदिदं किञ्च । तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् ।

अर्थ=महा प्रलय के पश्चात् समष्टि जीवों के प्रारब्धानुसार श्रीभगवान् के अन्तःकरण में "एकोऽहं बहुस्यां प्रजायेय" अर्थात् मैं एक से वहुत होऊँ और प्रजावों की सृष्टि करूँ, इस प्रकार की इच्छा उत्पन्न होती है। उसी समय वे तप के द्वारा समस्त संसार को उत्पन्न करके उसमें सत्ता रूप से व्याप्त होते हैं। यजुर्वेदीय कठोपनिषद् में लिखा है किः—

अग्निर्यथैकोभुवनं प्रविष्टो, रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा, रूपं रूपं प्रतिरूपो वहिश्च ।।
वायुर्यथैकोभुवनं प्रविष्टो, रूपं रूपं प्रतिरूपो वभूव ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा, रूपं रूपं प्रतिरूपो वहिश्च ।।

अर्थ = जिस प्रकार अग्नि और वायु संसार में प्रविष्ट होकर पदार्थों के भेद से अनेक रूप धारण करते हैं, उसी प्रकार सर्व व्यापक परमात्मा सकल भूतों में अन्तरात्मा रूप से व्याप्त और अविकृत रूप से आकाश के समान सबसे पृथक् भी हैं। तप के द्वारा जाने जाते हैं अथर्ववेदीय मुण्डकोपनिषद् में लिखा है किः—

तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽन्नमभिजायते ।
अन्नात्माणोमनः सत्यं लोकाः कर्मसु चामृतम् ।।

अर्थ =तप के द्वारा भूतयोनि अक्षर ब्रह्म उत्फुल्ल होते हैं, जैसा पुत्र को देखकर पिता उत्फुल्ल होता है। तदनन्तर अन्न उत्पन्न होता है अर्थात् अव्यक्त प्रकृति में व्यक्तावस्था की सूचना होती है। अन्न से प्राण अर्थात् हिरण्य गर्भ की उत्पत्ति होती है। प्राण से मन और मन से सत्य अर्थात् संकल्प मूलक आकाशादि पञ्चभूत, पञ्चभूतों से भूर्भुवस्स्वरादि लोक समूह उन लोकों में मनुष्यादि प्राणी और वर्णाश्रम आदि क्रमसे कर्म उत्पन्न होते हैं। कर्म से

कर्मज फल उत्पन्न होते हैं। कर्म को अमृत इस कारण कहते हैं कि, जब तक कर्म नष्ट नहीं होते, तब तक फल नष्ट नहीं होते। श्री भगवान् का यह तप सामान्य तप नहीं है, यह ज्ञान मय तप है जैसा इसी उपनिषद् में दूसरे मन्त्र में लिखा है किः—

यः सर्वज्ञः सर्व विद्यस्य ज्ञान मयं तपः।
तस्मादेतद्ब्रह्म नामरूपमन्नं च जायते॥

अर्थ=सर्वज्ञ और सर्व वित् श्रीभगवान् का यह तप ज्ञान लक्षण है, आयास लक्षण नहीं है। ईश्वर ने पूर्व कल्प में किस प्रकार सृष्टि उत्पन्न की थी, उसकी विधि का ही ज्ञान तप है, क्यों कि निखिल चराचर जगत् की सृष्टि पूर्व कल्प के अनुसार ही हुवा करती है। वेद में लिखा है किः—

यथा पूर्वमकल्पयत् दिवं च पृथिवीं च इत्यादि।

अर्थ=इसी प्रकार के ज्ञानमय तप के फल से ब्रह्म अर्थात् हिरण्य गर्भ, नाम रूपात्मक जगत् तथा अन्नादि उत्पन्न होते हैं। श्रीमद्भागवत में लिखा है किः—

तप मेरा हृदय अन्तरङ्ग शक्ति है।

तपो मे हृदयं साक्षादात्माऽहं तपसोऽनघ।
सृजामि तपसैवेदं ग्रसामि तपसा पुनः॥
बिभर्मि तपसा विश्वं वीर्यं मे दुश्चरं तपः।

अर्थ=श्री भगवान् कहते हैं कि, तप मेरा हृदय अर्थात् अन्तरङ्ग शक्ति है और मैं तप का आत्मा अर्थात् स्वरूप हूँ। सृष्टि, स्थिति और लय मैं तप के द्वारा ही करता हूँ। दुःसाध्य तप ही मेरा वीर्य रूप है।

श्रीमद्भागवत में और भी लिखा है किः—

भूयस्त्वं तप आतिष्ठ विद्याञ्चैव मदाश्रयान्।
ताभ्यामन्तर्हृदि ब्रह्मन् लोकान् द्रक्ष्यस्यपावृतान्॥

अर्थ=श्री भगवान् कहते हैं, हे ब्रह्मन्। तुम मेरी विद्या और तप का अनुष्ठान करो। उन दोनों के द्वारा अपने हृदय में स्पष्ट रूप से सब लोकों को देख सकोगे। इसी आज्ञा के अनुसार सृष्टि करने से प्रथम, ब्रह्मा जी ने तप किया था श्रीमद्भागवत में ही महर्षि ब्यास ने इसका स्पष्ट उल्लेख किया है :—

विरञ्चोऽपि तथा चक्रे दिव्यं वर्षशतं तपः।
आत्मन्यात्मानमावेश्य यथाह भगवानजः॥ (श्रीमद्भागवते)

अर्थ=देवतावों के सौ वर्ष पर्यन्त श्री ब्रह्मा जी ने श्री भगवान् के आज्ञानुसार श्री मन्नारायण में अपने चित्त को संयत करके तप किया था। उसी का यह फल है कि, स्थावर जङ्गमात्मक यह संसार उत्पन्न हुवा। अतः तप ही समस्त सृष्टि का मूल कारण है, इसमें सन्देह नहीं। संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं, जो तप के द्वारा सिद्ध न हो सके। जन्म का सर्वश्रेष्ठ लक्ष्य निःश्रेयस प्राप्ति है, वह भी तप के द्वारा प्राप्त होती है।

सत्येन लभ्यस्तपसाह्येष आत्मा सम्यग् ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।
(मुण्डकोपनिषद्)

अर्थ=सत्य, तप, ब्रह्मचर्य और सम्यक् ज्ञान के द्वारा ही सर्वदा आत्म लाभ हुवा करता है।

अथर्ववेदीय प्रश्नोपनिषद् में भी लिखा है कि—

तेषामेवैष ब्रह्मलोको येषां तपो ब्रह्मचर्यं येषु सत्यं प्रतिष्ठितम्।

अर्थ=तपस्वी ब्रह्मचारी और सत्य निष्ठ पुरुष ही उत्तरायण गति को प्राप्त करके ब्रह्मलोक में जा सकते हैं। 'तपसा ब्रह्मविजिज्ञासस्व' 'तपसा कलमषं हन्ति' इत्यादि श्रुति-स्मृतियों के प्रमाणों के द्वारा सिद्ध होता है। कि तप के द्वारा क्षीण पाप होने से ही साधक को ब्रह्म जिज्ञासा में अधिकार प्राप्त होता है।

तपसैव परं ज्योतिर्भगवन्तमधोक्षजम्।
सर्वभूतगुहावासमञ्जसा विन्दते पुमान्॥ (श्रीमद्भागवते)

अर्थ=तप के द्वारा ही साधक सर्व व्यापक परम ज्योतिस्वरूप श्री भगवान् को शीघ्र प्राप्त होता है।

सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम्।
प्रियञ्च नाऽनृतं ब्रूयादेष धर्मस्सनातनः॥ (मनु संहिता में)

अर्थ=सत्य भाषण करे, प्रिय भाषण करे। सत्य यदि अप्रिय हो, तो उसे न बोले और जो प्रिय हो परन्तु असत्य हो तो, उसका भी भाषण न करे, यह अनादि काल से आचरण किया हुवा धर्म है।

जाति आयु भोग पूर्व कर्म के अनुसार एवं जीवन्मुक्त विदेह मुक्ति लक्षण—

सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगः। (योग दर्शन में)

अर्थ=जाति, आयु और भोग तीनों कर्ममूलक हैं। कर्म के अनुसार ही ब्राह्मण, क्षत्रिय आर्य अनार्य आदि विभिन्न जातियों से जीव जन्म ग्रहण करता है। प्रारब्ध कर्म के अनुसार ही आयु का भी निर्द्धारण होता है। प्राक्तन कर्म जितने वर्ष तक भोगे जा सकते हैं, उतने वर्ष तक ही जीव देह में रह सकता है। जीवन्मुक्ति तथा विदेह मुक्ति, की ओर इङ्गित किया गया है। वृहदारण्यक श्रुति में लिखा है कि :—

यदासर्वे प्रमुच्यन्तेकामा येऽस्य हृदिश्रिताः।
अन्य मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥

अर्थ=अर्थात् हृदय गुहा निहित निखिल वासनावों के विलीन होने पर इसी संसार में ही ब्रह्म साक्षात्कार होकर जीव जीवन्मुक्त हो सकता है, मर्त्य लोक में ही उसे अमृतत्व लाभ हो जाता है, ऐसा कह कर जीवन्मुक्ति पद को सम्भावना को निःशङ्क सिद्ध कर दिया है।

श्रुत्यन्तर में भी—

'सचक्षुरचक्षुरिव सकर्णोऽकर्ण इव समना अमना इव।

अर्थ=अर्थात् जीवन्मुक्त महात्मा चक्षु रहने पर भी अचक्षु की तरह, कर्ण रहने पर भी अकर्ण की तरह और मन रहने पर भी अमना की तरह आचरण करते हैं, ऐसा कह कर जीवन्मुक्ति दशा के अलौकिक आचरण के विषय में सिद्धान्त निर्णय किया गया है। अतः साधना के परिपाक में स्वरूपोपलब्धि होने के अनन्तर देहपात के पहले तक जीवन्मुक्ति अवस्था सम्भव पर है, यह विज्ञान श्रुतिप्रमाण से सिद्ध हुवा।

शास्त्र में लिखा है कि :—

जीवन्मुक्तपदं त्यक्त्वा स्वदेह कालसात्कृते।
विशत्यदेहमुक्तत्वं पवनोऽस्पन्दतामिव॥
विदेहेमुक्तो नोदेति नास्तमेति न शाम्याति।
न सन्नासन्न दूरस्थो न चाहँ नचनेतरः॥

अर्थ=काल अनुसार देह अवसान काल में निस्पन्द पवन की तरह जीवन्मुक्त महात्मा विदेह मुक्ति पद को प्राप्त हो जाते हैं। उस समय ब्रह्मलीन उनकी सत्ता में—

उदय अस्त सत् असत् दूर निकट अस्तित्व आदि कोई भी द्वैतभाव या परिवर्तन नहीं रहता है। उस समय क्या होता है, इसके विषय में मुण्डक श्रुति ने कहा है कि :—

गताः कलाः पञ्चदश प्रष्ठिाः देवाश्च सर्वे प्रतिदेवतासु।
कर्माणि विज्ञानमयश्च आत्मापरेऽव्यये सर्व एकी भवन्ति॥

अर्थ=उस समय अर्थात् पञ्च तत्त्वों में स्थूल शरीर विलय के समय उनके सूक्ष्म शरीर की पञ्च ज्ञानेन्द्रिय पञ्च कर्मेन्द्रिय, पञ्च प्राण रूपी पञ्चदश कलायें स्वस्वकारण में लय हो जाती हैं इन्द्रियाधिष्ठात्री देवता गण उत्तद् देवशक्तियों में मिल जाते हैं, सञ्चित कर्म तथा विज्ञानात्मा सभी अव्यय परम पुरुष में विलीन हो जाते हैं। यही जीवन्मुक्त महात्मा की प्रारब्धावसान में विदेह मुक्ति है।

साधुभिः पूज्यमानेऽपिपीड्यमानेऽपिदुर्जनैः।
सममेवमनो यस्यसजीवन्मुक्त उच्यते॥ (विवेक चूडामणि)

अर्थ=साधुवों के द्वारा पूजित तथा दुर्जनों के द्वारा पीडा पहुँचाये जाने पर भी जिसका मन वराबर ही सुखी रहता है उसे जीवन्मुक्त कहते हैं।

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमे वैष वृणुतेतेन लभ्यस्तस्यैषआत्मा विवृणुतेतनुंस्वाम्॥
यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान् नामरूपाद् विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैतिदिव्यम्॥
(मुण्डकोपनिषद् में)

अर्थ=यह आत्मा न तो प्रवचन से प्राप्त हो सकती है न बुद्धि से, न बहुत श्रवण करने से यह जिस परमात्मा की प्राप्ति की इच्छा करता है उसके द्वारा ही उसकी प्राप्ति हो सकती है। उसके प्रति यह आत्मा अपने स्वरूप को व्यक्त कर देता है। जिस प्रकार नदियां

अपने नाम और रूप को छोड़कर समुद्र में मिल जाती हैं उसी प्रकार विद्वान् भी अपने नाम रूप से विमुक्त होकर परात्पर ब्रह्म में मिल जाते हैं।

सुकौशल पूर्ण कर्म को यज्ञ कहते हैं—

पूज्यपाद महर्षि भरद्वाज ने कहा है कि :—

यज्ञ: कर्म सुकौशलम् । समष्टिसन्वन्धान्महायज्ञ: ।

अर्थ=सुकौशल पूर्ण कर्म को यज्ञ कहते हैं और समष्टि सन्बन्ध से उसी को महा-यज्ञ कहते हैं। अविद्याग्रसित जीवभाव को त्याग करके ब्रह्मभाव की उपलब्धि करना जब मनुष्य जन्म का लक्ष्य है, तो जिस कार्य्य के द्वारा यह लक्ष्य सिद्ध होगा, उसी की महिमा सर्वोपरि होगी, इस में सन्देह नहीं है। जीव भाव के साथ ईश्वर भाव का यही भेद है कि, जीव अल्पज्ञ है और ईश्वर सर्व्वज्ञ है। जीव देश, काल और वस्तु परिच्छिन्न है और ईश्वर इनसे अपरिच्छिन्न होने के कारण विभु, नित्य एवं पूर्ण है। जीव अविद्या के अधीन है और ईश्वर माया के अधीश्वर है। जीव भाव स्वार्थ पर एवं साहङ्कार है और ईश्वर भाव परार्थ पर एवं निरहङ्कार है। जीव की सत्सत्ता क्षुद्र है, चित्सत्ताभ्रमजाल युक्त है एवं आनन्द सत्ता माया की छाया के कारण अनित्य सुख रूप में परिणत है, परन्तु ब्रह्म की सत्सत्ता अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड में परिव्याप्त है। उनकी चित्सत्ता अनन्त ज्ञान मय है और उनकी आनन्दसत्ता माया से परे, सुख दुःख से वाहर नित्यानन्द मय है।

नारायणोपनिषद् में लिखा है कि :—

यज्ञे न हि देवा दिवं गता,यज्ञेनाऽसुरानपानुदन्त:, यज्ञेन द्वि षन्तो मित्रा भवन्ति,
यज्ञे सर्वं प्रतिष्ठितम्, तस्माद्यज्ञं परमं वदन्ति ।

अर्थ=यज्ञ के द्वारा ही देवतावों को स्वर्ग प्राप्ति होती है, यज्ञ के द्वारा ही आसुरी शक्ति का दमन होता है, यज्ञ के द्वारा शत्रु भी मित्र होते हैं और यज्ञ में ही सकल संसार की प्रतिष्ठा (स्थिति) है।

इस लिये यज्ञ अति श्रेष्ठ वस्तु है। छान्दोग्योपनिषद् में कहा है कि:—

य इह कपूय चरण अभ्याशोह यत्ते कपूयां योनिमा पद्येरन्वयोनिम्वा
शूकरयोनिम्वा चाण्डालयोनिम्वा ।

अर्थ=जो इस संसार में नीच आचरण अथवा उसके अभ्यास करने वाले हैं, वे नीच योनियों को प्राप्त होते हैं। कुक्कुर शूकर व नीच चाण्डाल आदि योनियों को वे प्राप्त होते हैं। विशेषत: धर्म साधन की परमावश्यकता के विषय में श्रीभगवान् ने भी गीता में कहा है।

पूज्यपाद महर्षि अङ्गिरा ने कहा है कि :—

यज्ञमहायज्ञौ व्यष्टिसमष्टिसम्वन्धात् ।

अर्थ=व्यक्तिगत व्यष्टि धर्म कार्य को यज्ञ और सार्वभौम समष्टि धर्म कार्य को महायज्ञ कहते हैं। इसी वात को और प्रकार भी समझ सकते हैं कि, जीव स्वार्थ के वास्तव में चार भेद हैं, यथा :—स्वार्थ, परमार्थ, परोपकार और परमोपकार।

केनोपनिषद में कहा है कि :—

यस्या मतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः ।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम् ॥

अर्थ=ब्रह्म जिसको ज्ञात नहीं है उसी को ज्ञात हैं। और जिसको ज्ञात है वह उसे नहीं जानता। क्योंकि वह जानने वालों का विना जाना हुवा है और न जानने वालों का जाना हुवा है। क्योंकि अन्य वस्तुवों के समान दृश्य न होने से वह विषय रूप से नहीं जाना जा सकता।

• २३—तेयिसवाँ तपधर्म प्रकरण समाप्त •

नृयज्ञ प्रकरणम्

अतिथि सत्कार आसन जल प्रिय वचनादि द्वारा सेवा करनी चाहिये—

गृहस्थ के घर में जब अतिथि आवे, तो पाद्य अर्घ आदि के द्वारा उनकी पूजा की जाय और विधि पूर्वक सदाचार के साथ अतिथि को अन्नादिक प्रदान किया जाय। धर्मशास्त्रों की ऐसी आज्ञा है भोजन के समय कोई भी जाति हो अपरिचित हो वह अतिथि है। परिचित हो वह नहीं ब्रह्मचारी वानप्रस्थ व संन्यासी ये परिचित हों या अपरिचित ये सदा के अतिथि हैं।

तृणानि भूमिरुदकं वाक्चतुर्थी च सूनृता।
एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन ॥

अर्थ=आसन के लिये तृण अर्थात दर्भासन, विश्रामार्थ भूमि, पानार्थ जल और चौथा प्रियवचन, सदा गृहस्थों के घर में इतनी वातें तो अवश्य होनी चाहिये। समस्त पृथिवी भर में जितने मनुष्य समाज हैं और आज जो जो उपधर्म प्रचलित हैं, उन सवों के निकट अतिथि सेवा समान रूप से आदरणीय है। और यह संसार अधिभूत प्रधान होने के कारण अपने शास्त्रों में भी इसी यज्ञ की सर्वोपरि आवश्यकता मानी गयी है। यदि गृहस्थ दरिद्र से भी अति दरिद्र होवे तो भी, कदापि अतिथि सेवा से विरत होना उचित नहीं है शास्त्रों में कहा है कि:—

अतिथिर्यस्य भग्नाशो गृहात्प्रति निवर्त्तते।
स तस्मै दुष्कृतं दत्त्वा पुण्यमादाय गच्छति ॥

अर्थ=अतिथि असत्कृत हो कर गृहस्थ के घर से लौट जाने पर उस गृहस्थ का पुण्य अपने साथ ले जाया करते हैं। कोई वस्तु अतिथि को भोजन न कराकर गृहस्थ को कदापि स्वयं भोजन करना उचित नहीं है। अतिथि के प्रसन्न होने पर गृहस्थों को धन, आयु, यश और स्वर्ग की प्राप्ति हुवा करती है। अतिथि को देवता मानकर आसन, घर शय्या और जलपान भोजनादि उनके योग्यतानुसार प्रदान करना उचित है। फलतः अतिथि को देवता मानकर सेवा करना योग्य है। विश्वजीवन के साथ अपनी आत्मा का एकत्व सम्बन्ध स्थापन

करने से मनुष्य मुक्ति पद प्राप्त कर सकता है। मनुष्य समाज भर को अपना रूप देखने से साधक पूर्णाधिकार को प्राप्त कर सकता है।

श्री भगवान् वेदव्यास जी ने कहा है कि :—

अयंनिजः परो वेत्ति गणना लघुचेतसाम्।
उदारचरितानान्तु वसुधैव कुटुम्बकम् ॥

अर्थ=यह अपना है और यह पराया है, ऐसा भाव लघु चेता मनुष्यों का हुवा करता है। उदार चरित महानुभावों की तो सकल पृथिवी ही कुटुम्ब रूप है। मनुष्य इस प्रकार अपने सङ्कुचित अहङ्कार-भाव को विस्तृत करते हुये, अन्त में अपने को विश्वरूप समझने लगता है, तभी मुक्त होता है। प्रथमावस्था में मनुष्य अपने सुख से ही अपने को सुखी समझता है। तत्पश्चात् क्रमोन्नति में वह अपने स्त्री-मित्रादि को सुखी देख सुखी होता है। सदाचारी धार्म्मिकगण आत्मीय परिजनों को सुखी देखकर प्रसन्न होते हैं। स्वदेश—हितैषी ज्ञान के उन्नत अधिकारीगण अपने स्वदेशवासियों को सुखी देखकर कृत कृत्य होते हैं। उन्नतात्मा पूर्ण ज्ञानी जीवन्मुक्तगण जगत् के मनुष्य-समाज भर को सुखी देखकर सुखी होते हैं। यही आत्मा की क्रमोन्नति का लक्षण है। संसार भर के सब मनुष्यों की सेवा एक मनुष्य नहीं कर सकता। इसी को सुसाध्य करने के लिये अतिथि रूप में करने को कहा है। शास्त्रों में अतिथि सेवा की सर्वोपरि महिमा कही है।

महात्मा दुरात्मादि के लक्षण—

दन्तिदन्तेसमानंहि निःसृतांमहतां वचः।
कूर्मग्रीवेशा नीचानां पुनरायाति याति च ॥

अर्थ=हाथी के दांत के समान श्रेष्ठ पुरुषों की वाणी जो निकल गयी वह निकल गयी पुनः वापस नहीं होती। नीच पुरुषों की वाणी कूर्म (कछुवा) के गर्दन की भाँति पुनः पुनः बदल जाती है।

मनस्येकंवचस्येकं कर्मण्येकंमहात्मनाम्।
मनस्यन्यद् वचस्यन्यत्कर्मण्यन्यद्दुरात्मनाम्।

अर्थ=मन और वाणी में तथा कर्म में एक ही समान का विचार महात्मावों के अन्दर रहता है। तथा दुष्टव्यक्तियों के अन्दर मन में अन्य, वाणी में अन्य, तथा कर्म में भिन्न भिन्न प्रकार के विचार पाये जाते हैं।

विद्याददाति विनयं विनयाद् यातिपात्रताम्।
पात्रत्वाद्धनमाप्नोति धनाद्धर्मस्ततस्सुखम् ॥

अर्थ=विद्या से विनय की प्राप्ति विनय से सत्पात्रता की प्राप्ति, पात्र होने से धन की प्राप्ति धन से धर्म की प्राप्ति तथा धर्म से सुख की प्राप्ति होती है।

खलः सर्षपमात्राणि परच्छिद्राणि पश्यति।
आत्मनो विल्वमत्राणि पश्यन्नपि न पश्यति ॥ (सुभाषितरत्न भाण्डागारे)

अर्थ=दुष्ट मनुष्य सरसों सरीखे (छोटे) दूसरे के दोषों को देख लेता है परन्तु वेल के सदृश अपने वड़े दोष को देखता हुवा भी नहीं देखता है।

नह्यम्बुमयानि तीर्थानि न देवा मृच्छिलामया: ।
तेपुनन्त्युरुकालेन दर्शनादेव साधव: ।। (श्रीमद्भागवते)

अर्थ=न तो जल वाले तीर्थस्थान और न मिट्टी या पाषाण की वनी हुयी देवमूर्तियां शीघ्र फल देती हैं ये तो वहुत समय के पश्चात् पवित्र करती हैं परन्तु साधु तो दर्शन मात्र ही से पवित्र कर देते हैं।

आनन्द मंगल मय: संत्समाजोविराजते ।
लोके यो जंगमोराम तीर्थराजो निगद्यते ।। (वसिष्ठ संहितायाम्)

अर्थ=आनन्द व मंगलमय साधुवों का समाज विराजमान है, हे राम जो संसार में जंगम (चलता फिरता) प्रयाग (राजतीर्थ) कहा जाता है।

गंगापापंशशी तापं दैन्यं कल्पतरुस्तथा ।
पापं तापं तथा दैन्यं हृन्ति साधुसमागम: ।।

अर्थ=गंगा पाप को, चन्द्रमा ताप को, कल्पवृक्ष दरिद्रता को दूर करते हैं। किन्तु महात्मावों का समागम पाप ताप तथा दरिद्रता तीनों को दूर करनेवाला होता है। सत्संगतिः—

जाड्यं धियोहरति सिञ्चति वाचि सत्यम् ।
मानोन्नतिं दिशति पापमपाकरोति ।।
चेत: प्रसादयति दिक्षु तनोति कीर्तिम् ।
सत्संगति: कथय किंन करोति पुंसाम् ।।

अर्थ=सत्संगति हृदय के अन्धकार को दूर करती है, अपनी वाणी से सत्य को सींचा करती है, मान और उन्नति को प्रकाशित करती है, पाप को नष्ट करती है, चित्त को प्रसन्न करती है चारो दिशावों में कीर्ति को फैलाती है। सत्संगति पुरुष का क्या-क्या नहीं करती अर्थात् सब कुछ सिद्धकर देती है।

गवाशनानां सशृणोति वाक्यमहं हिराजन् वचनं मुनीनाम् ।
न चास्यदोषो न च मद् गुणो वा संसर्गजा दोषगुणाभवन्ति ।।
(सुभाषित रत्न भाण्डागारे)

अर्थ=वह कशायी की वात को सुनता है और हे राजन् मैं मुनियों की वात को सुनता हूँ, न इसका कोई दोष है और न मेरा कोई गुण है, दोष तथा गुण दोनों संसर्ग से ही होते हैं।

तत्रैवगंगायमुना च वेणी गोदावरी सिंधु सरस्वती च ।
सर्वाणितीर्थानिवसन्ति तत्रयत्राच्युतोदार कथाप्रसंग: ।।

अर्थ=जिस स्थान पर उदार कथा का प्रसंग चल रहा हो वहां परगंगा, यमुना, त्रिवेणी, गोदावरी, सिन्धु सरस्वती तथा सम्पूर्ण तीर्थ आकर उस स्थान पर एकत्रित हो जाते हैं।

वासुदेवं परित्यज्य योऽन्यदेवमुपासते ।
तृषितो जाह्नवीतीरे कूपं खनति दुर्मति : ।। (पाण्डवगीता)

अर्थ=विष्णु भगवान् का परित्याग कर जो व्यक्ति अन्य देव की उपासना करता है वह उसी प्रकार दुर्बुद्धि है जैसे कोई प्यासा व्यक्ति गंगा के किनारे रहते हुये भी कूप खनने के लिये उद्यत होता है ।

कर्म बुद्धि को बाध्य कर देता एवं जिस घर में स्वाहादि हो वो वैकुण्ठ तुल्य विपरीत श्मशान है—

कर्मणाबाध्यते बुद्धिर्नबुद्धया कर्मबाध्यते ।
सुबुद्धिरपि यद्रामो हैमं हरिणमन्वगात् ।।

अर्थ=कर्म बुद्धि को बाध्य कर देता है किन्तु बुद्धि कर्म को बाध्य नहीं कर पाती । बुद्धिमान् होते हुये भी राम चन्द्र सुवर्ण के मृग के पीछे दौड़े ।

सविप्रपादोदक कर्दमानि सवेदशास्त्राध्वनिर्गजितानि ।
स्वाहास्वधाकारसमन्वितानि वैकुण्ठ तुल्यानि गृहाणि तानि ।।

अर्थ=जिस घर में ब्राह्मणों के चरण की धूलि पड़ती है, अर्थात् चरण धोया जाता है, वेद और शास्त्रों की ध्वनि की गर्जना होती है, स्वाहा, स्वधा, से युक्त हो वह घर वैकुण्ठ के समान होता है । तथा जिसके घर में ब्राह्मण का पैर न धोया जाय, वेद, शास्त्र की ध्वनि न होती हो स्वाहा स्वधा न होता हो वह घर श्मशान के तुल्य होता है ।

नैतत्समुचितं यद्धि वार्वारं वचनं तव ।
त्वदीयाज्ञा शिरोधार्या ह्येष धर्मो सनातनः ।। (स्कन्दपुराणे)

अर्थ=गुरु, पिता, माता ईश्वर की आज्ञा का पालन बिना विचारे ही करना चाहिये । यह शंकर जी ने भगवान् से कहा है कि यद्यपि यह उचित नहीं है जो आप पार्वती को पुनः ग्रहण करने के लिये कह रहे हैं फिर भी आप की आज्ञा शिरोधार्य है, यही सनातन धर्म है ।

श्रुति स्मृति ब्राह्मणों के नेत्र हैं नेत्र स्वरूप शास्त्र जिसके पास नहीं वही अन्धा है—

श्रुतिस्मृती ह्युभेनेत्रे ब्राह्मणानां प्रकीर्त्तिते ।
एकेन विकल: काणो द्वाभ्यामन्धः प्रकीर्तित: ।।

अर्थ=श्रुति और स्मृति ये ब्राह्मण के दो नेत्र कहे गये हैं । एक से रहित को काना तथा दोनों से रहित को अन्धा कहा गया है ।

हितोपदेश में लिखा है कि :—

अनेक संशयोच्छेदि परोक्षार्थस्यदर्शकम् ।
सर्वस्य लोचनं शास्त्रं यस्य नास्त्यन्ध एवस: ।।

अर्थ=अनेक संशयों को नष्ट करने वाला, परोक्षार्थ के दिखाने वाला सभी का नेत्र स्वरूप शास्त्र जिसके पास नहीं है वही अन्धा है ।

सुभाषित रत्न भाण्डागारे—

विद्या विवादाय धनं मदाय शक्तिः परेषां परिपीडनाय।
खलस्य साधोर्विपरीतमेतज्ज्ञानाय दानाय च रक्षणाय॥

अर्थ=खल की विद्या विवाद के लिये, धन गर्व के लिये, शक्ति दूसरों को पीडा देने के लिये है साधु का यह उलटा है विद्या ज्ञान के लिये धनदान के लिये और शक्ति शरणागत की रक्षा करने के लिये है।

अपाणिपादो जवनो ग्रहीतापश्यत्य चक्षुः स शृणोत्यकर्णः।
सवेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं पुराणम्॥
(श्वेताश्वतर उपनिषद्)

अर्थ=उसके हाथ नहीं परन्तु वह ग्रहण करता है, उसके पैर नहीं है परन्तु वह बड़े वेग से चलता है, उसके नेत्र नहीं परन्तु वह देखता है, कान न होने पर वह सुनता भी है। वह सारे संसार को जानता है परन्तु उसको जानने वाला कोई नहीं है सबसे पहिले होने के कारण उसे पुराण पुरुष कहते हैं।

अथ ज्ञत्वामुनिः सर्वंमाया विभ्रममात्मनः।
अप तत्पादयोर्विष्णोर्नारदौ वैष्णवोत्तमः॥ (शिवपुराणे)

अर्थ=अनन्त वैष्णवों में उत्तम नारद मुनि सब अपनी माया का विभ्रम समझ कर विष्णु भगवान् के चरणों पर पड़ गये।

सुभाषित रत्न भाण्डागारे—

तादृशी जायते बुद्धिर्व्यवसायेपि तादृशः।
सहायास्तादृशश्चैव यादृशी भवितव्यता॥

अर्थ=जिस प्रकार का व्यवसाय होता है वैसे ही बुद्धि हो जाती है तथा जिस प्रकार की भवितव्यता होती है उसी प्रकार के सहायक मिल जाते हैं।

निर्वाणदीपेकिमुतैलदाने चौरेगतेवाकिमुसावधानम्।
वयो गते किं वनिताविलासः पयोगतेकिंखलुसेतुबन्धः॥ (वृहद्छन्दावली)

अर्थ=दीपक बुझ जाने पर तेल छोड़ने से क्या लाभ चोर के धन उठा ले जाने के बाद सावधानी से क्या लाभ अवस्था के नष्ट हो जाने पर युवा स्त्री से क्या जल के समाप्त हो जाने पर पुल बाँधने से क्या लाभ अर्थात् शरीर के रहते ईश्वर भजन कर लेना चाहिये।

सुशीलोभवधर्मात्मा मैत्रः प्राण हितेरतः।
निम्नंयथापः प्रवणाः पात्रमायान्ति सम्पदः॥ (विष्णुपुराणे)

अर्थ=तुम शीलवान्, धर्मात्मा सब के प्रिय और प्राणियों के हित करने वाले हो, क्योंकि जिस प्रकार पानी नीचे ही की ओर अर्थात् खलारी भूमि की ओर बहता है। उसी प्रकार सम्पत्तियाँ नम्र स्वभाव वाले धर्मात्मा मनुष्य के पास आप ही आप आ जाती हैं।

करारविन्देन पदारविन्दं मुखारविन्दे विनिवेशयन्तम् ।
वटस्यपत्रस्यपुटेशयानं वालंमुकुन्दं मनसास्मरामि ॥

अर्थ=कमलवत् करके द्वारा कमल तुल्य चरण को कमल समान मुख में प्रवेश करने वाले वट पत्र द्रोण में सोने वाले वालरूप मुकुन्द का स्मरण मन से करते हैं।

सत्य असत्य एवं मित्र गुरु स्वामि शिक्षा फल निर्णय—

नहि सत्यात्परो धर्मो नानृतात्पातकं परम् ।
सत्येनधार्यतेपृथ्वी सत्येन तपतेरविः ॥
सत्येन वायवो वान्ति सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम् (ब्रह्मवैवर्तपुराणे)

अर्थ=सत्य से बढकर कोई धर्म नहीं है असत्य से वढकर कोई पाप नहीं है, सत्य के बल पर ही पृथ्वी संसार को धारण किये हुये है सत्य से सूर्य तप रहा है, सत्य से ही वायु वहता है अर्थात सब कुछ सत्य पर ही टिका हुवा है।

उपदेशोहि मूर्खाणां, प्रकोपाय न शान्तये ।
पयः पानं भुजंगानां, केवलं विषबर्धनम् ॥ (पञ्चतन्त्र)

अर्थ=मूर्खों को उपदेश देना शान्ति के लिये नहीं वल्कि क्रोध के लिये ही होता है क्योंकि सर्प को दूध पिलाने से उसका विष ही वढता है शान्त नहीं होता है।

स्वभावादेवसुहृदां गुरुणांस्वामिनां तथा।
पश्चात्तापं करोत्येवहितहानिश्च जायते॥
यो न शिक्षा हितां मत्वा करोति हृदये भृशम् ॥ (भरत संहिता)

अर्थ=स्वभाव से ही जो व्यक्ति मित्र, गुरु तथा स्वामी की शिक्षा को अपने हृदय में नहीं धारण करता वह पश्चात्ताप का भागी तथा हित की हानि को सहने वाला होता है अर्थात् हित की हानि होती है।

दुर्वृत्त संगतिर नर्थ परंपरायाहेतुः सतांभवति किं वचनीयमत्र ।
लंकेश्वरो हरति दाशरथेः कलत्रं प्राप्नोति वन्धनमसौकिल सिंधुराजः ॥
(सुभाषितरत्नभाण्डागारे)

अर्थ=सज्जनों के लिये भी असज्जनों की संगति अनर्थ दायिनी होती है जैसे सीता का हरण रावण ने किया किन्तु सेतु वाँधा गया समुद्र में।

तच्छ्रुत्वालक्ष्मणः प्राह सखे शृणु वचो मम ।
कः कस्य हेतुं दुःखस्य कश्चहेतुः सुखस्य वा ॥
स्वपूर्वार्जितकर्मैवकारणं सुख दुःखयोः । (अध्यात्मरामायणे)

अर्थ=लक्ष्मण जी ने कहा है कि सुख और दुःख का मूल कारण उसके (प्रारब्ध रूप में) पूर्व जन्म का कर्म ही होता है।

रन्ति देव शिवि और हरिश्चन्द्रादिने धर्म हेतु कितना कष्ट सहे स्वामी आदि की शिक्षा से दोष भी गुण हो जाता है—

हरिश्चन्द्रो रन्तिदेव उञ्छवृत्तिः शिविर्वलिः ।
व्याधः कपोतो वहवो ह्यध्रुवेण ध्रुवं व्रताः ॥ (श्रीमद्भागवते)

अर्थ=हरिश्चन्द्र, रन्तिदेव, शिवि और वलि, व्याध कपोत ये सब वहुत से ऋषि ऊञ्छ वृत्ति से स्वर्ग को प्राप्त किये हैं। व्याध ने भी कपोतों के आतिथ्य सत्कार को देखकर कितना महान् भक्त बन गया।

गुरोश्च मातुश्च पितुः प्रभोश्च शिक्षांसदा ये परिपालयन्ति।
तेषां हि दोषोपिभवत्यदोषो गच्छावधं तातविचार्य चैवम्॥
(महेश्वर संहिता)

अर्थ=गुरु माता पिता व स्वामी की शिक्षा का जो लोग सदा पालन करते हैं उनका दोष भी गुण हो जाता है हे तात। ऐसा विचार कर सब सोच छोड़कर अवध को जावो।

प्रधानोमुखवद् भाव्यो पश्चात्येकः पिवत्यपि।
पुष्यत्यंगानि सर्वाणि रक्षत्यपि विवेकतः॥ (शिव संहिता)

अर्थ=मुखिया मुख के समान होना चाहिये जो अकेला ही खाता व पीता है परन्तु विचार पूर्वक सब अंगों को पुष्ट करता है व सब की रक्षा करता है।

धन से धर्म की योग से विद्या की अनेक शास्त्रों को पढे आत्मज्ञान न हुवा वे करछुल के समान हैं—

वित्तेन रक्ष्यते धर्मो विद्यायोगेन रक्ष्यते।
पठन्तिचतुरोवेदान् धर्मशास्त्राण्यनेकशः॥
आत्मानं नैव जानन्ति दर्वी पाकरसं यथा॥ (चाणक्यनीति)

अर्थ=धन से धर्म की रक्षा होती है, योग से विद्या की रक्षा होती है, जो लोग चारों वेदों और अनेक धर्म शास्त्रों को पढते हैं परन्तु परमात्मा को नहीं जानते तो वे जैसे भोजन के रस को करछुल नहीं जानती वैसे ही वे मनुष्य हैं।

अऽष्टादशपुराणेषु व्यासस्यवचनद्वयम्।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्॥

अर्थ=अठारह पुराणों में व्यास के ये दोनों वचन वड़े ही महत्वपूर्ण हैं। पुण्य के लिये परोपकार तथा पाप के लिये दूसरों को दुःखी वनाना।

पतितोऽपिद्विजःपूज्यो नार्च्यः शूद्रोमहामतिः (शुक्रनीति)

अर्थ=पतित भी ब्राह्मण पूजनीय है महाबुद्धिमान् शूद्र कभी नहीं पूज्य है।

तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुर्भवम्।
भगवत्संगि संगस्य मर्त्यानां किमुताशिषः॥ (श्रीमद्भागवते)

अर्थ=मानव के लिये सत्सङ्ग के लव की भी तुलना में स्वर्ग :तथा मोक्ष को भी गण्य ही समझता हूँ आशिष की वात तो क्या है।

किन्ते भीरुभियानिशाचर पतेर्नासौ रिपुर्मे महान्।
यस्याग्रेसमरोद्यतस्य न सुरास्तिष्ठन्ति शक्रादयः॥ (हनुमाननाटके)

अर्थ=रावण कहता है कि हे भीरु (डरपोक) तू क्यों डरती है; मुझ राक्षस राज के लिये यह राम कोई वड़ा शत्रु नहीं है। क्योंकि जव मैं युद्ध करने को उद्यत होता हूँ, तव

इन्द्र आदि देवता भी मेरे आगे नहीं ठहरते। मंत्रियों के साथ सलाह करने के लिये अपने सभा भवन में आया।

वैद्योगुरुश्च मन्त्री च यस्य राज्ञः प्रियंवदः।
शरीरधर्मकोषेभ्यः क्षिप्रं स परिहीयते ॥ (हितोपदेशे)

अर्थ=हे मंत्रियो, तुम लोग सलाह देने में बड़े निपुण हो। इसलिये बतावो अब हम लोगों को इस सम्बन्ध में क्या करना उचित है। (इस के उत्तर में मंत्रियों ने कहा) हे देव, आपरण में समग्र विश्व को जीतने वाले हैं। आप को राम से ऐसा खटका क्या है, (नीति शास्त्र में सच कहा है कि) जिस राजा के मन्त्री गुरु और वैद्य, ये तीनों (भय के मारे) राजा की प्रसन्नता के लिये खुशामद की बात कहते हैं, खरा और हित की सलाह नहीं देते, वह राजा शीघ्र ही शरीर, धर्म और कोष खजाना से रहित हो जाता है।

यद् ब्राह्मणास्तुष्टतमावदन्ति तद्देवताः प्रत्यभिनन्दयन्ति।
तुष्टेषु तुष्टास्सततम्भवन्ति प्रत्यक्षदेवेषु परोक्षदेवाः ॥ (विष्णुसंहिता में)

अर्थ=जहाँ पर ब्राह्मण अत्यधिक प्रसन्न हो कर बोलते हैं वहाँ पर देवता भी प्रणाम करते हैं। प्रसन्नता में अधिक प्रसन्नता होती है प्रत्यक्ष और परोक्ष में देवता भी प्रसन्न होते हैं।

पिबन्ति नद्यः स्वमेवनाम्भः स्वयं न खादन्ति फलानि वृक्षाः।
नादन्ति शस्यंकिल वारिवाहाः परोपकारायसतां विभूतयः ॥

अर्थ=आप पूर्ण काम हो श्री रामचन्द्र जी से प्रेम करने वाले हो, हे तात तुम्हारे समान कोई बड़ा भाग्यशाली मनुष्य नहीं है। नदियाँ स्वयं जल नहीं पान करतीं, वृक्ष स्वयं फल नहीं खाते हैं मेघ स्वयं शस्य (वनस्पति) नहीं खाते हैं किन्तु सज्जनों की विभूति (ऐश्वर्य) उपकार दूसरे के करने के लिये होती है।

• २४—चौबीसवां नृयज्ञप्रकरण समाप्त •

कर्म रहस्य विज्ञान प्रकरणम्

धारण करता है इससे धर्म एवं ब्रह्म के जानने की इच्छा—

धर्म शब्द की व्याख्या :—

धर्मशब्द के धृ धातु से बनने के कारण इसका व्युत्पत्तिनिमित्त अर्थ "धरतीति धर्मं" अथवा "येनैतद्धार्यते स धर्म्मः" अर्थात् जो धारण करे अथवा जिसके द्वारा यह विश्व (संसार) धृत (रक्षित) हो उसे धर्म कहते हैं ऐसा सिद्ध होता है। धर्म का ऐसा लक्ष्य वेद में भी वर्णन किया गया है। यथा—

धर्मोविश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा लोके धर्मिष्ठं प्रजा उपसर्पन्ति।
धर्मेण पापमपनुदति धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितं तस्माद्धर्म परमं वदन्ति ॥

(नारायणोपनिषद्)

अर्थ=धर्म समस्त संसार की स्थिति का मूल है। संसार में लोग धर्मात्मा का अनुसरण करते हैं। धर्म से पाप दूर होता है। धर्म के द्वारा ही सकल संसार स्थित है। इसलिये धर्म ही परमपदार्थ कहा गया है। इसी प्रकार भगवान् वेदव्यास ने भी कहा है कि :—

धारणाद्धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः।
यत्स्याद्धारणसंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः॥

अर्थ= जिस ऐसी शक्ति के द्वारा सम्पूर्ण सृष्टि क्रिया धृत अर्थात् रक्षित हो रही है उसी का नाम धर्म है। सृष्टि के समस्त पदार्थों को दो भागो में विभक्त कर सकते हैं-एक जड़ और दूसरा चेतन। अतः इन दोनों पदार्थों को जिस ईश्वरीय शक्ति ने धारण कर रखा है उसी को धर्म कहते हैं। भगवान् वेदव्यासने योगपातञ्जल के भाष्यमें और भी वर्णन किया है—

योग्यतावच्छिन्ना धर्मिणः शक्तिरेव धर्मः।

अर्थ=धर्मी का योग्यतायुक्त शक्ति ही धर्म है अर्थात् जड़ या चेतन किसी भी पदार्थ में जिस शक्ति के न रहने से पदार्थ की सत्ता हीं नहीं रहती उस शक्ति का नाम धर्म है। जैसा कि अग्नि का उष्णव, जल का द्रवत्व, चुम्वक की लौहाकर्षण शक्ति, इत्यादि। पाश्चात्य विज्ञान में इस प्रकार की शक्ति को प्रॉपर्टी कहते हैं। इसी विज्ञान को चेतन पदार्थ में भी घटा सकते हैं। यथाः—.मनुष्य का धर्म मनुष्यत्व, अर्थात जिस शक्ति के विद्यमान रहने से मनुष्य मनुष्यपदवाच्य हो सकता है वही शक्ति उसका धर्म है। इसी प्रकार पशु का धर्म पशुत्व, ब्राह्मण का धर्म ब्राह्मणत्व और शूद्र का धर्म शूद्रत्व इत्यादि। अतः इस विज्ञान से यह पूर्णतया सिद्ध हुवा कि धर्म की अलौकिक शक्ति के द्वारा ही समस्त विश्व ब्रह्माण्ड सुरक्षित हो रहा है। महानाराणोपनिषद् में वर्णित है:—

अस्य ब्रह्माण्डस्य समन्ततः स्थितान्येतादृशान्यनन्त कोटि ब्रह्माण्डानि ज्वलन्ति। इत्यादि।

अर्थ=इस ब्रह्माण्ड के चारों ओर और भी अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड देदीप्यमान हैं। हरेक ब्रह्माण्ड में कितने ही ग्रह, उपग्रह, धूम्रकेतु, शशी, सूर्य्य, नक्षत्र अपनी-अपनी कक्षा में घूम रहे हैं। परन्तु धर्म की ऐसी धारण करनेवाली शक्ति है कि जिस के द्वारा सब ग्रह उपग्रहों में आकर्षण विकर्षण शक्ति के समाञ्जस्य होने से कोई भी कक्षाच्युत नहीं होते। इसलिये भगवान् वेदव्यास जी ने जीवों की क्रमोन्नति को लक्ष्य करके कहा है:—

उन्नतिं निखिला जीवा धर्मेणैव क्रमादिह।
विदधानाः सावधाना लभन्तेऽन्ते परं पदम्॥

अर्थ=धर्म के द्वारा ही समस्त जीव क्रमोन्नति लाभ करते हुये अन्त में परमपद को प्राप्त करते हैं। केवल चेतन राज्य के जीव मनुष्य में ही कर्म करने की स्वतन्त्रता और विचार बुद्धि के होने से उनमें वर्णाश्रमो के स्वधर्म पालन से धर्म का विकाश पूर्णरूप से हो सकता है अन्यथा और कोई उपाय नहीं है।

महर्षिभरद्वाज कृत यह मीमांसा दर्शन शास्त्र साधारण कर्म का रहस्य सूत्रे—

अथाऽतो धर्म जिज्ञासा। धारणाद्धर्मः।

अर्थ=अब धर्म मीमांसा का वर्णन किया जाता है। धारण करता है, इस कारण धर्म है। इस पाद का नाम धर्म पाद है। दूसरे पाद का नाम संस्कार पाद है। इस पाद का प्रथम सूत्र यह है :—

कर्मबीजं संस्कारः।

अर्थ=कर्म के बीज को संस्कार कहते हैं। इस दूसरे पाद में संस्कार का लक्षण, संस्कार का विज्ञान, सृष्टि से संस्कार सम्बन्ध, संस्कार के दो प्रधान भेद, त्रिविध शुद्धिक उपाय, संस्कार का कलाभेद, वेदोक्त समस्त संस्कारों का विज्ञान प्राप्त करना।

वेदान्त दर्शन का प्रथम सूत्र यह है :—

अथातो ब्रह्मजिज्ञासा।

श्रीभगवान् शङ्कराचार्यजी ने इस सूत्र के अन्तर्गत "अथ" शब्द के भाष्य में लिखा है कि :—

विधिवदधीत वेदवेदाङ्गत्वेनापाततोऽधिगताखिलवेदार्थः
अस्मिन् जन्मनि जन्मान्तरे वा काम्यनिषिद्ध वर्जनपुरस्सरनित्यनैमित्तिकप्राया-
श्चित्तोपासनानुष्ठानेननिर्गत निखिलकल्मषतपा।
नितान्तनिर्मलस्वान्तः साधन चतुष्टयसम्पन्नःप्रमाता अधिकारी।

अर्थ=विधि के अनुसार वेद वेदाङ्ग अध्ययन कर वेद का अर्थ ठीक-ठीक जिसने समझा है, इस जन्म में या जन्मान्तर में काम्य और निषिद्ध कर्म को त्याग करके नित्य नैमित्तिक प्रायश्चित उपासना आदि के अनुष्ठान से निष्पाप और निर्मल चित्त होकर शम-दमादि साधन चतुष्टय सम्पन्न जो हुवा है, वही ब्रह्मज्ञान प्राप्त लाभ करने का अधिकारी है। साधन चतुष्टय यथा—नित्यानित्यवस्तुविवेकः इहामुत्रफलभोगविरागः शमदमादि षट् सम्पत्तिः और मुमुक्षुत्व। ब्रह्म नित्य है और समस्त संसार अनित्य है, इस प्रकार विचार का नाम नित्यानित्यवस्तु विवेक है। स्रक् चन्दन वनितादि इहलौकिक और स्वर्गादिभोगरूप पारलौकिक सुख के प्रति वितृष्णा का नाम इहामुत्र फलभोग विराग है। ब्रह्म के सिवाय और विषयों से मन की निवृत्ति का नाम शम है, बाह्येन्दियों की विषयों से निवृत्ति का नाम दम है, वैषयिक वस्तुवों से चित्त को अलग करने का नाम उपरति है, शीतोष्णादि द्वन्द्वसहिष्णुता का नाम तितिक्षा है, गुरु व वेदान्त वाक्य में विश्वास का नाम श्रद्धा है, और ब्रह्म में चित्त की एकाग्रता का नाम समाधान है। यही शम दम उपरति तितिक्षा समाधान और श्रद्धा ये षट् सम्पत्तियाँ कहलाती हैं। चौथा साधन मुमुक्षुत्व अर्थात् मुक्ति लाभ की इच्छा है। इस प्रकार साधन होता है। इन्हीं चारों अधिकारों के देखने से सिद्ध होगा कि, वेदान्त का अधिकार कितना उन्नत है और वेदान्त की ज्ञानभूमि सवज्ञान भूमियों में श्रेष्ठ है क्योंकि इसी में अद्वैत-भाव की सिद्धि हो सकती है। तदनन्तर अधिकारानुरूप साधन करते-करते जीव मुक्ति भाव को प्राप्त करता है। जीव ब्रह्म से अभिन्न भावना के द्वारा उपासना होती है।

आत्मेति तूप गच्छन्ति ग्राहयन्ति च। (ब्रह्मसूत्र)

अर्थ=जीवात्मा ही परमात्मा है, ब्रह्म सूत्रोक्त इस प्रकार मनन और भावना ही अद्वैतवाद की उपासना है। यथा—

तं यथा यथोपासते तदेव भवति।

अर्थ=जो जिसकी उपसना करता है, वह उसी का रूप प्राप्त होता है। इसलिये ब्रह्मभावना के परिपाक से साधक ब्रह्म भाव प्राप्त करते हैं। उस समय उनके लिये समस्त संसार ब्रह्ममय वन जाता है। और इस प्रकार स्वरूप स्थित राजयोगी आनन्दमय ब्रह्म पद में प्रतिष्ठा लाभ करते हैं। स्वरूप स्थित इस प्रकार के योगी संसार की ओर दृष्टि डालने से, प्रस्तर में खोदी हुवी मूर्त्ति जैसे प्रस्तर ही हैं; वैसे ही इस विचित्र समस्त संसार को ब्रह्ममय देखते हैं। स्वरूप की ओर भावना करने से माया और सृष्टि से अतीत परमपद की उपलब्धि करते हैं इस प्रकार के योगीयों के शरीर जव तक संसार में रहते हैं तव तक जीवन्मुक्त कहलाते हैं। जीवन्मुक्त के संसार के विषय में ब्रह्मसूत्र में कहा गया हैं कि :—

तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनशौ तद्व्यपदेशात्
इतरस्याऽप्येव असंश्लेषः पातेतु। अनारब्धकार्ये एव तु पूर्वे तदवधेः।

अर्थ=ब्रह्म की उपलब्धि होने से तत्त्वज्ञानी जीवन्मुक्त पुरुष के समस्त सञ्चित कर्म्म का विनाश और क्रियमाण कर्म्म का असंस्पर्श होता है। जिस प्रकार पद्मपत्र जलस्पर्श नहीं करता उसी प्रकार तत्त्वज्ञानी को भी कर्म्म स्पर्श नहीं करता। वे पाप पुण्य दोनों से बाहर हो जाते हैं। केवल प्रारब्ध कर्म ही अवशिष्ट रहता है, जिस को भोग के द्वारा जीवन्मुक्त क्षय करते हैं। यथा :—

तस्य तावदव चिरंयावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्ये।

अर्थ=जव तक प्रारब्धक्षय पूर्ण नहीं हो जाता है, तब तक जीवन्मुक्त का शरीर रहता है। तदनन्तर विदेह मुक्ति की दशा में जीवन्मुक्त ब्रह्म में मिलकर शरीर का त्याग कर देते हैं। ब्रह्म सूत्र में लिखा है कि :—

विदुष ऐकान्तिकी कैवल्य सिद्धिः।
ब्रह्म वेद ब्रह्मवै भवति।

अर्थ=ब्रह्म ज्ञानी की ऐकान्ति की कैवल्य सिद्धि या विदेह मुक्ति होती है। ब्रह्म को जान लेवे वह ब्रह्म ही होता है। इनके लिये उपनिषद् में लिखा है कि :—

यथा नद्यः स्पन्दमानाः समुद्रेऽस्तंगच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः, परात्परं पुरुषमुपैतिदिव्यम्॥

अर्थ=जिस प्रकार नदियों के समुद्र में मिलने पर, उनका नामरूप और अस्तित्व समुद्र में ही लय को प्राप्त होता है, उसी प्रकार ब्रह्म ज्ञानी महात्मा नाम रूपमय जीवभाव को त्याग करके ब्रह्मानन्द महोदधि में अपनी आत्मा को विलीन कर देते हैं। यही वेदान्त दर्शन में प्रतिपादित सप्तम ज्ञान भूमि की मुक्ति है। उपासना के भेद से यह मुक्ति दो प्रकार से प्राप्त होती है। निर्गुण उपासक इस संसार में ब्रह्मज्ञान प्राप्त करके जीवन्मुक्ति के पश्चात् विदेह मुक्ति प्राप्त करते हैं। यथाः—

ब्रह्मज्ञानी का प्राण यहीं विलीन हो जाता है—

न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति अत्रैव समवलीयन्ते।

अर्थ=ब्रह्मज्ञानी का प्राण उत्क्रान्त नहीं होता, यहाँ ही विलीन हो जाता है। द्वितीय सगुण ब्रह्म के उपासक लोग अपने-अपने इष्टदेव के साथ सालोक्य सायुज्य आदि मुक्ति प्राप्त करते हैं। वे लोग उत्तरायण गति लाभ करके क्रमशः उर्द्ध्व लोकों में जाते हुवे अन्त में सप्तम लोक में पहुँचते हैं। वहाँ महाप्रलय तक निवास करके ब्रह्मदिवा के अवसान में परब्रह्म में विलीन होते हैं। यथा :—

ब्रह्मणा सहते सर्वे सम्प्राप्ते प्रतिसञ्चरे।
परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परंपदम् ॥

अर्थ=क्रममुक्ति प्राप्त तत्त्वज्ञानी महापुरुष कल्प के अन्त में विलीन होते हैं। यही पहली सहज गति और दूसरी क्रमोर्द्ध्वगति वेदान्त शास्त्र ने बतायी है।

उक्त सातों ज्ञान भूमियों और इनके सातों दर्शनों के अनुभव के विषय में महर्षियों ने ऐसा कहा है कि :—

सप्तज्ञान भूमियों का अनुभव—

ज्ञानदा ज्ञानभूमेर्हि प्रथमा भूमिकामता।
संन्यासदा द्वितीया स्यात्तृतीया योगदा भवेत् ॥
लीलोन्मुक्तिश्चतुर्थी वै पञ्चमी सत्पदा स्मृता।
षष्ठ्या नन्द पदा ज्ञेया सप्तमी च परात्परा ॥
यत्किञ्चिदासीज्ज्ञातव्यं ज्ञातं सर्वं मयेतिधीः।
प्रथमो भूमिकायाश्चाऽनुभवः परिकीर्त्तितः ॥
त्याज्यं त्यक्तं मयेत्येव द्वितीयोऽनुभवो मतः।
प्राप्या शक्तिर्मया लब्धानुभवो हि तृतीयकः ॥
मायाविलसितञ्चैतद्दृश्यते सर्वमेव हि।
न तत्र मेऽभिलाषोऽस्ति चतुर्थोऽनुभवो मतः ॥
जगद्ब्रह्मेत्यनुभवः पञ्चमः परिकीर्त्तितः।
ब्रह्मएव जगत् षष्ठोन्नुभवः किल कथ्यते ॥
अद्वितीयं निर्विकारं सच्चिदानन्दरूपकम्।
ब्रह्माऽहमस्मीति मतिः सप्तमोऽनुभवोमतः ॥
इमां भूमि प्रपद्यैव ब्रह्मसायुज्यमाप्यते ॥

अर्थ=पहली ज्ञानभूमि ज्ञानदा, दूसरी संन्यासदा, तीसरी योगदा, चौथी लीलोन्मुक्ति, पाँचवीं सत्पदा, छठी आनन्दप्रदा और सातवीं परात्परा है। जो कुछ जानने योग्य था, वह मैंने जान लिया है, ऐसा विचार हो जाना प्रथम ज्ञानभूमिका अनुभव कहा गया है। त्याग ने योग्य जो कुछ है, सो मैंने त्याग दिया है, इस प्रकार का अनुभव दूसरी ज्ञानभूमिका है। प्राप्त करने योग्य शक्ति को मैंने प्राप्त किया है, यह तीसरी ज्ञानभूमिका अनुभव है। यह सब जगत् माया का विलासरूप दिखायी देता है, अतः इसमें मेरी कुछ भी इच्छा नहीं है, यह चौथी ज्ञानभूमिका का अनुभव है। जगत् ही ब्रह्म है, यह पाँचवीं ज्ञानभूमिका का अनुभव है ब्रह्म ही जगत् है, यह छठी ज्ञानभूमिका का अनुभव कहा जाता है। अद्वितीय निर्विकार सच्चि-

दानन्द रूप ब्रह्म मैं हूँ, ऐसा विचार होना सातवीं ज्ञानभूमिका अनुभव है। इस ज्ञान भूमि को प्राप्त होकर ही साधक ब्रह्मसायुज्य मुक्ति को प्राप्त होता है।

आपस्तम्बसंहिता में लिखा है कि :—

अपमान से ब्राह्मण की तपवृद्धि सम्मान से तपक्षय—

अपमानात्तपोवृद्धिः सम्मानात्तपसःक्षयः।
अर्च्चितः पूजितो विप्रो दुग्धा गौरिव सीदति ॥

अर्थ = अपमान से ब्राह्मण की तपो वृद्धि और सम्माग से तपः क्षय होता है। जिस प्रकार दोहन करने से गौ क्षीण होती है। उसी प्रकार ब्राह्मण भी पूजित व सम्मानित होने से अवसाद ग्रस्त होते हैं।

"तस्यज्ञानमयं तपः" अर्थात् वह तप ज्ञानमय है, साधारण तप नहीं है।

ब्रह्मा जी को ज्ञान चाहिये था क्योंकि ज्ञान के विना सृष्टि ठीक नहीं वन सकती थी। सन्ध्या के मन्त्र में लिखा है कि :—

पूर्व कल्प में जो जिस योनि में था उसी में उत्पन्न होता है—

यथा पूर्वमकल्पयत् दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथोस्वः।

अर्थ = पृथिवी व स्वर्गादि लोक की सृष्टि पूर्व कल्प के अनुसार हुवा करती है। प्रलय के समय जो जिस योनि में रहकर लय हो जाते हैं, उनको संस्कार के अनुसार सृष्टि के समय उसी योनि में उत्पन्न करना पड़ता है। जो पूर्वकल्प में मनुष्य था, वह मनुष्य ही होकर आता है; जो पशु था, वह पशु होकर उत्पन्न होता है, जो वृक्ष था, वह वृक्ष होकर उत्पन्न होता है उसी प्रकार कर्म के अनुसार ठीक-ठीक सृष्टि ब्रह्मा जी तभी कर सकते हैं, जव उनमें ऐसा ज्ञान हो। नहीं तो सृष्टि में गड़बड़ हो सकता है। इसलिये ब्रह्माजी ने तप के द्वार ज्ञानरूपी सरस्वती को अपने भीतर से (शरीर से) उत्पन्न कर के उसको हृदय में धारण करके सृष्टि की, जैसा कि मत्स्यपुराण में वर्णन किया गया है। उन्नति बीजवृक्ष न्याय से है अर्थात् जिस प्रकार बीज के भीतर वृक्ष का समस्त "मसाला" रहता है, केवल उस मसाले को वाहर प्रकट कर देना ही उन्नति है; उसी प्रकार प्रत्येक चेतन पदार्थ ज्ञानमय भगवान् के रूप होने से ज्ञान की सव सत्ता प्रत्येक वस्तु में वीज में बृक्ष के सदृश पहले से ही रहती है; केवल उस ज्ञान को प्रकट (हो जाना) कर देना ही उन्नति है। इसलिये ब्रह्मा जी में जो ज्ञान शक्ति पहले ही से थी, उसको उन्होंने तपस्या के द्वारा सरस्वती रूप से अपने भीतर से प्रकट कर लिया। तत्पश्चात् उसी ज्ञान की सहायता से सृष्टि की। यही मत्स्य पुराण के उस वर्णन का रहस्य है।

ब्रह्मा विष्णु में श्रेष्ठ कौन गंगा को शिवमस्तक से निकलना—

इस प्रकार शिवपुराण में जो एक कथा आती है कि, नारायण जल के भीतर सोये हुये थे। उनके नाभि कमल से ब्रह्मा जी प्रकट हुये फिर दोनों में इस वात पर लड़ाई होनें लगी कि, कौन बड़े हैं। उनकी लड़ाई हो रही थी। इतने में उनके वीच में शिव जी का प्रचण्ड ज्योतिर्लिङ्ग प्रकट हुवा, जिसका पता लगाने के लिये ब्रह्मा जी ऊपर की ओर और विष्णु जी नीचे की ओर

गये, परन्तु किसी को पता नहीं चला, जिससे उन लोगों को मालूम हुवा कि, उन दोनों से भी वड़ा तीसरा कोई है, इस बात को जानकर दोनों ने विवाद छोड़ दिया, इत्यादि-इत्यादि। इस लौकिक भाषारूपी वर्णन का तात्पर्य यह है कि, विराट्रूपी श्रीभगवान् के अनादि अनन्तस्वरूप के द्वारा ही उनके अचिन्त्य ब्रह्मस्वरूपका अनुभव होता है; अर्थात् यह अनादि अनन्त शरीरधारी विराट् पुरुष ही सच्चिदानन्दमय ब्रह्म का लिङ्ग है। लिंग शब्द का अर्थ चिन्ह है; अर्थात् जिस स्थूल चिह्न के द्वारा किसी पदार्थ का बोध हो, उसको लिङ्ग कहते हैं। यह कथा शिव पुराण की है, और पुराण जव भाव प्रधान ग्रन्थ है, तो पूर्व सिद्धान्त के अनुसार शिवपुराण के शिवजी साधारण शिव नहीं हैं, परन्तु परमात्मा हैं। शिवजी मनुष्य की तरह शरीरधारी नहीं हैं, उनका शरीर और प्रकार का हैं। लिङ्ग उसे कहते हैं, जिससे किसी वस्तु का लक्षण मालूम हो; अर्थात लिङ्ग लक्षण का वाचक है, जैसा कि, न्यायदर्शन में लिखा है कि "इच्छा द्वेष सुख दुःख" आत्मा के लिङ्ग हैं, इससे यह न समझना चाहिये कि, आत्मा कोई स्थूल वस्तु है और उसके ऊपर इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख आदि कोई मनुष्य की इन्द्रियों के सदृश पदार्थ हैं। परन्तु इसका तात्पर्य यह है कि, वे सव न्याय-दर्शन के अनुसार आत्मा के लक्षण हैं। ठीक उसी प्रकार शिव पुराण में जो शिवरूपी परमात्मा का लिङ्ग प्रकट हुवा उससे यह आध्यात्मिक भाव वताया गया है कि परमात्मा का क्या लक्षण है और उनको कौन जान सकता है। शिवपुराण में शिवजी की मुख्यता और परमात्मा का भाव होने से परमात्मा का लिङ्ग अर्थात् लक्षण अनादि अनन्त है, जिसको जीवकी तो बात ही क्या, परञ्च ब्रह्मा विष्णु तक भी पता नहीं लगा सकते हैं। इस-लिये सर्व शक्तिमान् सर्वव्यापक परमात्मा के राज्य में किसी को अहंकार नहीं करना चाहिये कि हम वड़े हैं। यही आध्यात्मिक भाव लौकिक भाषा के द्वारा प्रकट किया गया है। इसमें जो जल की वात लिखी है सो स्थूल जल नहीं है परन्तु कारण वारि अर्थात् समष्टि जीवों का कर्म-संस्कार है। उन्हीं कर्म संस्कारों के वीज में संस्कारों से सृष्टि करने के लिये चेतन शक्ति नारायण रहते हैं। उन्हीं की चेतना शक्ति से समष्टि संस्कार जवफलाभिमुखीन होते हैं; तभी विकारहीन अर्थात् अव्याकृत प्रकृति में विकार की सूचना अर्थात् व्याकृतावस्था होती है। उसी व्याकृतावस्था प्रकृति को ही कमल कहा गया है और वह विष्णुजी की केन्द्रीभूत चेतन शक्ति का ही फल है। इसलिये विष्णुजी की नाभि से ही कमल की उत्पत्ति कही गयी है, जिसमें ब्रह्माजी उत्पन्न होते हैं। यह शिव पुराण में वर्णित उस लौकिकभाषा का आध्यात्मिक तत्त्व है। इन वातों के सिवाय और जो वहुत सी वातें अर्वाचीन पुरुषों ने इस कथा के साथ मिला दी हैं, वह सव उनकी मिथ्या कपोल कल्पना है। इन सव लौकिकभाषा की वर्णन शैलीरूप कथावों के द्वारा विचारवान् पुरुष समझ सकते हैं कि, ऋषियों ने किन-किन गम्भीर भावों को किस प्रकार सरलता और मनोहरता के साथ लौकिक भाषा में वर्णन किया है। विद्वानों की विद्वत्ता यह है कि, अपनी वुद्धि को स्थिर धीर और संयत करके इन तत्त्वों को विचार कर देखें और इनका आनन्द लेवें। इन के उड़ा देने में कोई योग्यता का परिचय नहीं है। श्री गंगा जी की उत्पत्ति के विषय में जो कहीं हिमालय से, कहीं शिवजी के मस्तक से और कहीं विष्णु जी के चरण से उत्पन्न होना पुराणों में वर्णन किया गया है। वह गंगा जी का आधि भौतिक अर्थात् स्थूल स्वरूप, आधिदैविक अर्थात् सूक्ष्म शक्तिमय दैवीस्वरूप और आध्यात्मिक अर्थात् ज्ञानस्वरूप वर्णन करने के लिये ही है। स्थूल गंगा हिमालय की कन्दरा से निकलती हैं, यह वात सत्य है क्यों कि प्रत्यक्ष है। ऋषियों ने गंगा जी को हिमालय से निकलती हुई देखने पर भी जो शिव

के मस्तक से गंगा जी का निकलना वर्णन किया है, इस में गंगा जी की आधि भौतिक और आधि दैविक दोनों महिमावों को देखकर दिखाना ही उन लोगों का उद्देश्य था। जिस प्रकार परमात्मा निराकार होने पर भी अनन्त कोटि ब्रह्माण्डमय यह संसार उनका स्थूल विराट स्वरूप है, जिसका दर्शन अर्जुन को मिला था, उसी प्रकार शिव का भी विराट् रूप तत्त्वों के विचार से पृथिवी कही जा सकती है, क्यों कि शास्त्रों में प्रमाण मिलता है कि:—

पञ्चतत्त्व के देवता विष्णु आदि—

नभसोऽधिपति विष्णुरग्नेश्चैव महेश्वरी।
वायोः सूर्यः क्षितेरीशो जीवनस्य गणाऽधिपः॥

अर्थ = आकाशतत्त्व के देवता विष्णु, अग्नितत्त्व की देवता महेश्वरी, वायुतत्त्व के सूर्य, पृथिवी तत्त्व के देवता शिव और जलतत्त्व के देवता गणेश हैं। इसलिये तत्त्वों के विचार से भाव के अनुसार अधिदैव शिव और अधिभूत पृथिवी है शिवजी को जो मूर्ति श्वेतवर्ण, व्याघ्राम्वरधारी, श्मशानवासी व भुजङ्ग भूषण है, सो उनकी भावमयी मूर्ति है, जो उनके निराकार स्वरूप के साथ भाव के सम्वन्ध से वनी हुयी है। इसी भावमय मूर्ति को भक्त लोग भाव के अनुसार देख सकते हैं। परन्तु जिस मूर्ति के साथ गंगाजी की उत्पत्ति का सम्बन्ध रक्खा गया है, वह शिवजी की भावममी मूर्ति नहीं है किन्तु तत्त्वों के अनुसार विराट् मूर्ति है। पृथिवी तत्त्व के अधिदैव शिवजी हैं, इसलिये शिवजी का आधिभौतिक स्वरूप अर्थात् स्थूल विराट् मूर्ति है, तो इस विचार से हिमालय शिवजी का मस्तक है क्योंकि मस्तक शरीर के सव अङ्गों से ऊँचा अङ्ग होता है और हिमालय पृथिवी में सवसे ऊँचा अङ्ग है। इसीलिये हिमालय से गंगा जी का निकलना और शिवजी की जटा से गंगाजी का निकलना दोनों एक ही वात है। इस प्रकार स्थूल गंगा हिमालय से निकलने पर भी हिमालय को केवल हिमालय न कहकर ऋषियों ने जो शिव जी के विराट् भाव के सम्वन्ध से गङ्गाजी की उत्पत्ति वर्णन की है, इसका तात्पर्य यह है कि यदि ऋषि लोग आजकल के पाश्चात्य विद्याभिमानी मनुष्यों की तरह दृष्टि सम्पन्न होते, तो प्रत्येक वस्तु को केवल स्थूल भाव से ही निश्चय करके उसके सूक्ष्म और आध्यात्मिक भाव को उड़ा देते, यदि गंगाजी को और जलाशय की तरह जलाशय मात्र ही समझते, तो केवल हिमालय से ही उनकी उत्पत्ति वताते परन्तु ऋषि लोग आस्तिक थे। वे सभी वस्तुवों में तीन भाव देखते थे। वे तीनों भावों की पूर्णता से ही पूर्णता मानते थे। इसलिये गंगाजी को केवल जलाशय न समझ कर, वे उनको देवी समझते थे। गंगाजी में दैवी शक्ति ऋषियों को देखने में आती थी। इसी दैवी शक्ति का प्रकाश शिवजी के आश्रम से हुवा था, क्योंकि शिवजी महाशक्ति के पति हैं। इसलिये दैवी शक्ति के आधार हैं, उनके मस्तक से निकलती हुवी गंगाजी में अनन्त दैवी शक्तियाँ भरी हुयी हैं, जिससे गंगाजी त्रिलोक तारिणी पतितपावनी हैं, जिनके स्पर्श से सगर वंश के शापग्रस्त मनुष्यों का उद्धार हो गया था। वही महान् देवता, शिवजी के मस्तक से दैवी गंगा के निकलने का रहस्य है। इस प्रकार से शिवजी के विराट् रूप से स्थूल गंगा और शिवजी की दैवी सत्ता के आश्रय से शक्तिमयी दैवी गंगा प्रकट हुयीं। इसीलिये ऋषि लोगों ने गंगाजल की इतनी स्तुति की है कि :—

वैद्य राज नारायण स्वरूप गंगा जल श्रेष्ठ औषधि—

शरीरे जर्जरीभूते व्याधिग्रस्ते कलेवरे।
औषधं जाह्नवीतोयं वैद्यो नारायणो हरिः ॥

अर्थ=शरीर के जर्जर हो जाने पर और व्याधियों से ग्रस्त हो जाने पर गंगा जल ही औषध है और श्रीमन्नारायण ही वैद्यराज हैं। गंगाजल ही श्रेष्ठ औषधि है यह सब कहना गंगाजल में जड़शक्ति का लक्षण है। इस जड़ शक्ति की मूल स्वरूपिणी चेतना शक्ति संसार में गंगादेवीरूप से प्रसिद्ध हैं, जिनकी शक्ति की महिमा समस्त हिन्दुशास्त्रों में वर्णन की गयी है। यथा गंगा के स्पर्श से, यहाँ तक कि स्मरण से भी पाप दूर होते हैं। ऋग्वेद में भी स्तुति की है कि :—

इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वती शुतुद्रि स्तोमं सचत।

अर्थ=हे गंगे, यमुने, सरस्वती, शुतुद्रि, तुम मेरे यज्ञ को सेवन करो। यहाँ गंगा आदि अधिष्ठात्री देवियों का आवाहन किया गया है। रामायण में सीता जी की उक्ति है कि :—

त्वंहि त्रिपथगे। देवि। ब्रह्मलोकसमक्षमे।
सा त्वां देवि। नमस्यामि प्रशंसामि च शोभने ॥

अर्थ=हे देवि। तुम स्वर्ग, मर्त्य पाताल, तीनो लोकों में तीन रूप से जाने वाली व ब्रह्मलोक प्राप्त कराने वाली हो, तुमको प्रणाम करती हूँ और तुम्हारी स्तुति करती हूँ। संसार में शक्ति की ही पूजा हुवा करती है, रक्त मांस की नहीं। शक्ति ही दूसरे के चित्त पर प्रभाव डाल सकती है। शक्तिमान् पुरुष ही अपनी वाणी और कार्य के द्वारा सब का चित्त आकर्षण करते हैं। जिनमें शक्ति नहीं है, उनके वश में कोई नहीं होते हैं। आध्यात्मिक गंगा, जिसको ज्ञान गंगा वोलते हैं, जिसके लिये श्रीभगवान् शङ्कराचार्य जी ने कहा है कि :—

ज्ञानप्रवाहा विमलाऽऽदिगङ्गा।

अर्थ="ज्ञानरूप प्रवाहवाली गंगाविमला आदि गंगा है,, ऐसी स्तुति की है, उनकी उत्पत्ति भगवान् विष्णु से है। विष्णु जी परमात्मा की चित्सत्ता अर्थात् ज्ञान सत्ता के केन्द्ररूप हैं, इसलिये उनसे ही ज्ञान गंगा का निकलना विज्ञान सिद्ध है। इसी को ही किसी-किसी पुराण में वर्णन किया है कि, शिवजी के नृत्य को देखकर विष्णु द्रवित हो गये और उसी से गंगा निकली। यह सब उसी भाव का वर्णन है, इसीलिये गंगा का नाम ब्रह्मद्रवा है। जिस विष्णु पद से गंगा निकली हैं, उसका तात्पर्य बहुत ही सुगम है। ब्रह्म पद कहने से जिस प्रकार ब्रह्म भाव रूप तात्पर्य समझा जा सकता है; उसी प्रकार विष्णु पद कहने से सर्वव्यापक चिन्मय विष्णु भगवान् का विष्णु भाव समझा जायगा; अर्थात् पद शब्द यहाँ भाव बोधक है। यही गंगाजी का आध्यात्मिक स्वरूप है। अब विचारने योग्य है कि मनुष्यों के लिये साध्यवस्तु क्या क्या है। नीतिशास्त्र में कहा है कि :—

धर्मादि चार प्रकार का साधन—

धर्माऽर्थकाममोक्षाणां यस्यैकोऽपि न विद्यते।
अजागलस्तनस्येव तस्य जन्मनिरर्थकम् ॥

अर्थ=सूक्ष्म विचार द्वारा भी यही निष्पन्न होता है कि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के विचार से चार प्रकार की इच्छा जीवों में हुवा करती है। मनुष्य की यावन्मात्र इच्छावों को इन्हीं चार विभागों में विभक्त कर सकते हैं। पुनः जब साध्य चार प्रकार का होना सम्भव है, तो साधन भी चार ही प्रकार का होगा, इसमें सन्देह नहीं। शास्त्रकारों ने साधन के चार भेद वर्णन किये हैं। यथा :—विद्या, बल-धन और धर्म्म। एवं जब चार प्रकार का साधन और चार प्रकार का साध्य हुवा करता है, तो चार प्रकार का कर्त्ता होना भी सम्भव है। इस अभ्रान्त नियम के अनुसार शास्त्रकारों ने चार प्रकार के कर्त्तावों का भी वर्णन किया है यथा :—कर्त्ता, अनुकर्त्ता, उपकर्त्ता और अधिकर्त्ता। साध्य साधन और साधकरूप त्रिपुटी मिलाकर फल की सिद्धि हुवा करती है।

• २५—पचीसवाँ कर्मरहस्य विज्ञान प्रकरण समाप्त •

वैराग्य और साधन प्रकरणम्

अविद्यादि के कारण मृत्यु काल में क्लेश—

पतञ्जलिजी ने संसार के पञ्च क्लेशों का वर्णन करते समय इस भय को भी जीवराज्य का एक अवश्य भोग्य क्लेश कहा है यथा—

"अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः"

अर्थ=अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश, ये संसार के पाँच क्लेश हैं। अब जीव को मृत्यु के समय यह क्लेश कैसे उत्पन्न होता है बताया जाता है। मृत्युकाल में स्थूल शरीर के साथ सूक्ष्मशरीर, कारण शरीर और आत्मा का विच्छेद होता है। जिस वस्तु के साथ बहु दिनों तक घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है उसके साथ विच्छेद में अवश्य ही दुःखबोध होगा। दृष्टान्त रूप से समझ सकते हैं कि यदि दो खण्ड कागजों को गोंद से साट दिया जाय तो पुनः उन दोनों का पृथक् करना बड़ा ही कठिन हो जाता है और बहुत बार तो वह कागज ही फट जाता है। ठीक उसी प्रकार पञ्चकर्मेन्द्रिय, पञ्चज्ञानेन्द्रिय, मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार और आत्मा जब विषय वासनारूपी गोंद के द्वारा स्थूल शरीर के साथ बहुत दिनों तक फँसे हुवे थे तो स्थूल शरीर से पृथक् होते समय जीव के अन्तःकरण में भीषण दुःख बोध होगा इसमें संदेह ही क्या है। इसी दुःख का नाम मृत्यु यातना है जिससे समस्त जीव डरते रहते हैं और जिसका पूर्वजन्मार्जित संस्कार सूक्ष्म शरीर में रह जाने के हेतु जीव को मृत्यु के नाम से ही डर लगता है। यही मृत्यु के समय का प्रथम दुःख है जो धीर योगी के सिवाय विद्वान् अविद्वान् सभी को होता है। धीर भक्त योगी का सूक्ष्म शरीर और आत्मा विषय वासना रूप निर्यास (गोंद) से स्थूल शरीर के साथ सम्बन्ध न होकर भक्तिरूपी निर्यास द्वारा भगवान् के चरण कमल के साथ लगा हुवा होता है इसलिये मृत्यु के समय उनको कोई कष्ट नहीं होता है।

एवं कुटुम्बभरणे व्यापृतात्मा जितेन्द्रियः।
म्रियते रुदतां स्वानामरुवेदनयास्तधीः॥ (श्रीमद्भागवते)

अर्थ=मुमूर्षु विषयी पुरुष का तृतीय दुःख अनुतापजन्य है। मृत्यु के समय विषयी जीव को निजजीवन के कुकर्मों का स्मरण होकर अनुपात जनित अत्यन्त दुःख प्राप्त होता है। हाय मैंने शास्त्र की आज्ञा जानने पर भी विषयमदोन्मत्त होकर कुछ भी धर्मानुष्ठान नहीं किया, स्त्री-पुत्रादि के लिये कितनी चोरी, मिथ्या भाषण, प्रवञ्चानादि की है, जिनके लिये इतना पाप किया था उनमें से कोई भी मेरे साथ नहीं जायगा, केवल मुझ ही एकाकी भीषण नरक में पतित होकर समस्त पापों का फल भोग करना पड़ेगा। पापी को मृत्यु काल में अनेक जीव देख पड़ते हैं, श्रीमद्भागवते--

यमदूतौ तदा प्राप्तौ भीमौ सरभसेक्षणौ।
सदृष्ट्वा त्रस्तहृदयः सकृन्मूत्रं विमुञ्चति॥

अर्थ=भीषण क्रोध से रक्त लोचन यमदूतों को मृत्यु समय में देख कर भयभीत मुमूर्षुगण भय से मल-मूत्र त्याग कर डालते हैं। ये सब अधो लोक स्थित जीव भीषण मूर्ति के साथ पापी मुमूर्षु के सम्मुख आकर खड़े हो जाते, कोई विकट रूप दिखाते, कोई नरक का वीभत्स दृश्य दिखाते कोई यम दण्ड हाथ में लेकर सताया करते और उसको वलात् आकर्षण करने लगते हैं। वे पापी अत्यन्त भयभीत होकर चिल्लाने लगते या मूर्छित हो जाते हैं।

पूर्व शरीर को त्यागते अन्य शरीर की प्राप्ति का निर्णय—

कहीं-कहीं शास्त्र से ऐसा प्रमाण मिलता है कि पूर्व शरीर को त्यागते ही जीव को दूसरा शरीर मिल जाता है। यथा श्रुति में लिखा है कि :—

"तद् यथा तृण जलौका तृणस्यान्तं गत्वाऽन्यमाक्रममाक्रम्यात्मान मुपसंहरत्येवमेवाय मात्मेदं शरीरं निहत्याऽविद्यां गमयित्वाऽन्यमाक्रममाक्रम्यात्मानमुपसंहरति।" (श्रुतिः)

देहे पञ्चत्वमापन्नेदेहीकर्मानुगोऽवशः।
देहान्तरमनुप्राप्य प्राक्तनं त्यजते वपुः॥
व्रजंस्तिष्ठन् पदैकेन यथैवैकेन गच्छति।
तथा तृणाजलौकेव देही कर्मगतिंगतः॥ (श्रीमद्भागवते)

अर्थ=एक स्थूल शरीर के मृत होने पर अन्य स्थूल शरीर प्राप्त करके जीव पूर्व देह को छोड़ देता है। जिस प्रकार जोंक आगे के तृण को पकड़कर पश्चात् पूर्व तृण को छोड़ देती है उसी प्रकार जीव भी आगे के शरीर तैयार होने पर पूर्व शरीर को त्याग देता है; परन्तु इस प्रकार पूर्व शरीर त्यागते ही अन्य शरीर-प्राप्ति तभी सम्भव हो सकती है जब जीव को विषय कल्पना आदि के फल से प्रेतयोनि प्राप्त न हो अथवा अन्य लोक में सूक्ष्म शरीर द्वारा भोग्य कोई प्राक्तन कर्म न हों, अन्यथा जब तक प्रेतत्व रहता है या सूक्ष्म शरीर द्वारा स्वर्ग-नरकादि में भोग्य अन्य कर्म रहता है तब तक पुनः इस लोक में देह-प्राप्ति नहीं हो सकती है। इस प्रकार से सूक्ष्म शरीर की मूर्छा द्वारा प्रेतत्व प्राप्त जीव, जिस वासना के द्वारा प्रेतत्व प्राप्ति हुयी है उसको प्रेतयोनि में भी नहीं छोड़ सकता है। वह वासना मुग्ध चित्त होकर पागल की तरह घूमता रहता है। अज्ञानमय यह दीन दशा प्रेतत्व प्राप्त जीव के लिये बड़ा कष्ट कर है; क्योंकि जिस तीव्र वासना के द्वारा उसका अन्तःकरण अभिभूत होने से उसे प्रेतयोनि प्राप्त हुवी है उसका दुःख तुषाग्नि की तरह प्रेत के हृदय में जलता रहता है

जिससे प्रेत चारोओर तड़फता रहता है। उसको कहीं भी शान्ति नहीं मिलती है। फिर गर्भवास होता है। दशमास पूर्ण होते ही जीव गर्भ से निकलता है। यथा—

एवं कृतमतिर्गर्भे दशमास्यः स्तुवन्नृषि।
सद्यः क्षिपत्ववाचीनं प्रसूत्यै सूतिमारुतः॥
तेनावसृष्टः सहसा कृत्वा वाक्शिर आतुरः।
विनिष्क्रामति कृच्छ्रेण निरुच्छ्वासो हतस्मृतिः॥
पतितोभुव्यसृङ् मिश्रो विष्टाभूरिव चेष्टते।
रोरूयतिगते ज्ञानेविपरीतां गतिं गतः॥ (श्रीमद्भागवते)

अर्थ= इस प्रकार से प्रसव के पूर्व काल पर्यन्त श्री भगवान् के पास प्रार्थना करते-करते हठात् प्रसववायु किसी दिन प्रवल होकर गर्भस्थ शिशु को घुमा कर निम्नमुख उद्ध्र्वपद कर देती है जिससे वह शिशु उसी वायु के पीड़न द्वारा उसी प्रकार, उद्ध्र्वपद अधोमुख होकर योनियन्त्र के द्वार के द्वारा दवाये जाकर अत्यन्त क्लेशित और स्मृतिभ्रष्ट हो गर्भ से निकलता हैं। रक्तमय देह और भूमि पर पतित वह जीव विष्ठाकृमि की तरह हिलने लगता है और गर्भस्थ समस्त ज्ञान को भूल कर इस प्रकार विपरीत गति की प्राप्ति के कारण रोने लगता है।

गर्भोपनिषद् में भी लिखा है कि :—

अथ योनिद्वारं संप्राप्तो यन्त्रणापीडयमानो महता दुःखेन जातमात्रस्तु वैष्णवेन वायुना संस्पृशतदा न स्मरति जन्ममरणानि न च कर्म शुभाशुभं विन्दति।

अर्थ=प्रसव वायु द्वारा सञ्चालित हो योनिद्वार में आकर योनियन्त्र के द्वारा अत्यन्त पीडित हो महान् दुःख के साथ भूमिष्ठ होते-होते ही वैष्णवी वायु के द्वारा संस्पृष्ट हो कर वह जीव गर्भस्थ कोई भी वात और पूर्व कर्म और जन्म का कोई भी विषय अथवा शुभाशुभ कर्म नहीं स्मरण कर सकता है। संसार में देखा जाता है कि किसी कठिन रोग या दुःख के होने से प्रायः लोग अनेक पूर्व घटनावों को भूल जाते हैं और आगामी नवीन घटना तथा नवीन जीवन के नवीन परिवर्तन के द्वारा भी प्राचीन संस्कार चित्ताकाश से लुप्त होकर अन्तःकरण के गम्भीर तल देश में प्रच्छन्न हो जाते हैं। ठीक इसी तरह से गर्भाशय से निकलते समय अत्यन्त कष्ट होने से तथा नवीन दृश्य के नवीन परिवर्तन के भीतर आ जाने से गर्भस्थिति की अवस्था की प्राचीन जीवन की सभी बातें जीव को विस्मृत हो जाती हैं। जिस वैष्णवी मोहनी माया के द्वारा जगत् मुग्ध हो रहा है उसका तमो मय आवरण जीव के अन्तःकरण पर पड़ जाने से जीव पूर्व विषयों को कुछ भी स्मरण नहीं कर सकता है। केवल जो धीर योगी प्रसव काल के कठिन क्लेश में भी धैर्यच्युत नहीं होते हैं और जिनपर वैष्णवी माया का भी विशेप प्रभाव नहीं होता है वे ही जातिस्मर होते हैं। वामदेव आदि महर्षि इसी प्रकार से जातिस्मर हुवे थे।

• २६—छब्बीसवाँ वैराग्य और साधन प्रकरण समाप्त •

ओंकार-महिमा प्रकरणम्

ओंकार की प्रथम द्वितीय तृतीय आदि मात्रा के ध्यान का फल निर्णय—

प्रश्नोपनिषद् में ओंकार की इन मात्रावों के ज्ञान तथा इनकी उपासना के विशेष फल वताये गये हैं यथा :—

एतद् वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म पदोंकारः ।
तस्माद्विद्वानेतेनैवायतनेनैकतर मन्वेति ॥

अर्थ=ओंकार पर ब्रह्म तथा अपर ब्रह्म उभयस्थानीय है। इसी कारण ओंकार के ही अवलम्बन से पर ब्रह्म या अपर ब्रह्म की उपासना होती है।

स यद्येकमात्रमधिध्यायीत स तेनैव सवेदितस्तूर्णमेव जगत्यामभिसंपद्यते ।
समृचोमनुष्यलोकमुपनयन्ते स तत्र तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया सम्पन्नो महिमानमनुभवति ।

अर्थ=ऋग्वेदरूपा ओंकार की प्रथम मात्रा का जो ध्यान करता है वह उससे सम्बोधित होकर शीघ्र मनुष्य लोक को प्राप्त हो जाता है और:वहाँ उत्तम ब्राह्मण कुल में जन्म लाभ कर के तपस्या, ब्रह्मचर्य तथा श्रद्धा के द्वारा सम्पन्न होकर विभूति को अनुभव करता है। यही ओंकार की प्रथम मात्रा के ध्यान का फल है।

अथ यदि द्विमात्रेण मनसि सम्पद्यते सोऽन्तरिक्ष यजुभिरुन्नीयते सोमलोकम् ।
स सोमलोके विभूतिमनुभूय पुनरावर्त्तते ॥

अर्थ=यजुर्वेद रूपी द्वितीय मात्रा के ध्यान से सोम लोक प्राप्त होता है। वहाँ पर विभूति के अनुभव होने के अनन्तर मृत्य लोक में पुनरावृत्ति होती है। यही ओंकार के द्वितीय मात्रा ध्यान का फल है।

यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत से तेजसि सूर्यसम्पन्नः ।
यथा पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यत एवं ह वै सपाप्मनाविनिमुक्तः स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकं स
एतस्माज्जीवघनात्परात्परं पुरिशयंपुरुषमीक्षते ॥

अर्थ=जो त्रिमात्रा से युक्त 'ओं' इस अक्षर के द्वारा सूर्य मण्डल मध्य वर्त्ती परम पुरुष का ध्यान करता है वह सूर्यरूपी तृतीय मात्रा के द्वारा सूर्य में ही सम्पन्न हो जाता है। और जिस प्रकार सर्प कञ्चुक से मुक्त हो कर नवीन शरीर धारण करता है उसी प्रकार तृतीय मात्रा का उपासक सकल पाप से मुक्त होकर सामवेद रूपी तृतीय मात्रा के प्रभाव से पुनरा वृत्तिहीनहिरण्यगर्भ लोक अर्थात् ब्रह्मलोक को प्राप्त कर लेता है। लिङ्गात्मारूप हिरण्यगर्भ में समस्त जीव ग्रथित रहने के कारण वे जीवघन कहलाते हैं, वह उस जीवघन की कृपा से सकल शरीर विहारी परात्पर परम पुरुष ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेता है। यही ओंकार के मात्रा त्रय ध्यान का वेदवर्णित अलौकिक फल है। इसी प्रकार शिवाथर्वशीर्षोपनिषद् में भी लिखा है कि :—

या सा प्रथमा मात्रा ब्रह्मदैवत्या रक्ता वर्णेन यस्तां ध्यायते नित्यं स गच्छेद ब्रह्म पदम् ।
या सा द्वितीयामात्रा विष्णु दैवत्या कृष्णा वर्णेन यस्तांध्यायते नित्यं स गच्छेद् वैष्णवंपदम्

या सा तृतीया मात्रा ईशानदैवत्या कपिला वर्णेन यस्तां ध्यायते नित्यं स गच्छेदैशानं पदम् । या साऽर्धं चतुर्थी मात्रा सर्वदैवत्याऽव्यक्तीभूता खं विचरति शुद्धा स्फटिकसन्निभा वर्णेन यस्तां ध्यायते नित्यं स गच्छेत्पदमनामयम् ।

अर्थ=ओंकार की जो प्रथमा मात्रा है उसका वर्ण लाल है, देवता ब्रह्मा हैं, जो उसका ध्यान करता है उसको ब्रह्मा का पद प्राप्त होता है। द्वितीय मात्रा का वर्ण कृष्ण है, देवता विष्णु हैं, उसके ध्यान से विष्णु का पद प्राप्त होता है। तृतीय मात्रा का वर्ण कपिल है, देवता रुद्र हैं, उसके ध्यान से रुद्र का पद प्राप्त होता है। ओंकार की तुरीया आधी मात्रा अव्यक्तरूपिणी स्फटिक तुल्य निर्मल है ब्रह्मा विष्णु आदि सभी उसके देवता हैं, उसके ध्यान से अनामय शाश्वत परब्रह्म पद प्राप्त होता है। वेद में ओंकार को उद्गीथ कहा गया है, यथा— छान्दोग्योपनिषद् में लिखा है कि:—

ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत ओमिति ह्युद्गायति तस्योपव्याख्यानम् ।

अर्थ=ओं इस उद्गीथ अक्षर की उपासना करनी चाहिये। ओंकार इस शब्द को मुख्य रखकर ही भगवान् की स्तुति होती है, इसलिये ओंकार का नाम उद्गीथ है। भगवान् शंकराचार्य जी ने भी लिखा है कि:—

ओंइत्यारम्भहि यस्माद् उद्गायति अतः उद्गीथ ओंकार इत्यर्थः ।

भगवान् पतञ्जलि जी ने ओंकार को ईश्वर का वाचक कहा है, योग दर्शन में लिखा है कि:—

ईश्वर का वाचक ओ३म् है—

"तस्य वाचकः प्रणवः"
"तज्जपस्तदर्थभावनम्"
"ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च"

अर्थ=ओंकार ईश्वर का वाचक है, ओंकार का जप तथा अर्थभवाना के द्वारा ईश्वर प्राप्ति तथा विघ्नविनाश हुवा करता है। इसी के अनुसार श्री भगवान् शङ्कराचार्य जी ने लिखा है कि:—

"तस्मिन् हि प्रयुज्यमाने स प्रसीदति प्रियनामग्रहणेनेव लोकाः ॥

अर्थ=जिस प्रकार प्रिय नाम लेकर पुकारने से लोग प्रसन्न होकर उत्तर देते हैं उसी प्रकार श्री भगवान् का प्रिय नाम ओंकार उच्चारण करके उनको बुलाने से भगवान् भी प्रसन्न होकर दर्शन देते हैं। ओंकार ही ईश्वर का मन्त्र है,

"मन्त्राणां प्रणवः सेतुः" (शास्त्र में कहा गया है)

अर्थ=प्रणवमन्त्रों का सेतु है अर्थात् जिस प्रकार सेतु के आश्रय मनुष्य नदी पार होते हैं उसी प्रकार प्रत्येक मन्त्र के साथ ओंकार को मिलाकर उच्चारण करने से मन्त्र अपनी व्यापक शक्ति को प्राप्त कर सकता है इसलिये छान्दोग्योपनिषद् में वर्णित है कि :—

"तद्यथा शंकुना सर्वाणि पर्वाणि सन्तृणान्येवमोङ्कारेण सर्वा वाक् संतृणा ओंकार एवेदं सर्वमोंकार एवेदं सर्वम्"

अर्थ=जिस प्रकार पत्र नाल द्वारा समस्त पत्रगुथे हुये रहते हैं, उसी प्रकार ओंकार के साथ समस्त मन्त्र शब्द गुथे हुये रहते हैं, ओंकार ही सब हैं। ओंकार में समस्त मन्त्रों को सिद्धि प्रदान करने की शक्ति रहने से ही ओंकार परम मङ्गल कर कहा गया है, यथा—

स्मृति में :—

माङ्गल्यं पावनं धर्म्म्यं सर्वकामप्रसाधनम् ।
ओंकारः परमं ब्रह्म सर्व मन्त्रेषु नायकम् ।।
आद्यमन्त्रोऽक्षरं ब्रह्म त्रयी यस्मिन् प्रतिष्ठिता ।
सर्वमन्त्रप्रयोगेषु ओमित्यादौ प्रयुज्यते ।।
तेन संपरि पूर्णानि यथोक्तानि भवन्तिहि ।
सर्वमन्त्राधियज्ञेन ओंकारेण न संशयः ।।

इति षष्ठः परिच्छेदः समाप्तः

अर्थ=परब्रह्मरूप ओंकार समस्त मन्त्रों का नायक, परम पवित्र, मंगलमय तथा सकल कामनावों का साधक है। तीनों वेदों की प्रतिष्ठा इसी आदि मन्त्र में है और सकल मन्त्रों के प्रयोग में ओंकार का प्रयोग प्रथम होता है। अन्य मन्त्रों के साथ प्रथम ओंकार का उच्चारण होने से मन्त्रों का फल यथावत् प्राप्त होता है।

● २७—सत्ताईसवां ओंकार-महिमा प्रकरण एवं षष्ठ परिच्छेद समाप्त ●

सनातन धर्म मार्तण्डः

सप्तमः परिच्छेदः

राजयोग प्रकरणम्

सब योगों में श्रेष्ठ राज योग है—

'राजत्वात्सर्वयोगानां राजयोग इतिस्मृतः'

अर्थ=सर्व योगों का राजा या सब योगों में श्रेष्ठतम होने से ही इसका नाम राजयोग है; ऐसा कहकर योगशास्त्र में राजयोग की सर्वोत्कृष्टता बतायी गयी है।

योग शास्त्रों में वर्णित लक्षण—

सृष्टिस्थितिविनाशानां हेतुता मनसि स्थिता।
तत्साहाय्यात्साध्यतेयो राजयोग इति स्मृतः॥
अन्तः करणभेदास्तु मनो बुद्धिरहङ्कृतिः।
चित्तञ्चेति विनिर्दिष्टाश्चत्वारो योगपारगैः॥
तदन्तःकरणं दृश्यमात्मा द्रष्टा निगद्यते।
विश्वमेतत्तयोः कार्यकारणत्वं सनातनम्॥

अर्थ=सृष्टि, स्थिति और लय का कारण अन्तःकरण ही है, उसकी सहायता से जिसका साधन किया जाता है उसको, राजयोग, कहते हैं। मन बुद्धि, चित्त और अहंकार ये अन्तःकरण के चार भेद हैं। अन्तःकरण दृश्य और आत्मा द्रष्टा है। अन्तःकरण रूपी कारण दृश्य से जगत् रूपी कार्य दृश्य का कार्य-कारण सम्बन्ध है। दृश्य से द्रष्टा का सम्बन्ध स्थापित होने पर सृष्टि होती है।

यमः— सर्वं ब्रह्मेति विज्ञानादिन्द्रियग्रामसंयमः।
यमोऽय मितिसम्प्रोक्तऽभ्यसनीयो मुहुर्मुहुः॥

अर्थ=समस्त जगत् ब्रह्म है—ऐसा जानकर इन्द्रिय संयम को यम कहते हैं। इसका निरन्तर अभ्यास करना चाहिये।

नियमः—सजातीयप्रवाहश्चा विजातीयतिरस्कृतिः।
नियमो हि परानन्दो नियमात्क्रियते बुधैः॥

अर्थ=स्वजातीय प्रवाह और विजातीय तिरस्कृति अर्थात् चेतन रूपी सद्भाव का ग्रहण और जड़ रूपी असद्भाव का त्याग करने योग्य विचार को नियम कहते हैं।

त्यागः—त्यागः प्रपञ्चरूपस्य चिदात्मत्वावलोकनात्।
त्यागो हि महतांपूज्यः सद्यो मोक्षमयोमतः॥

अर्थ=चिदात्मभाव के अवलोकन से प्रपञ्च स्वरूप के त्याग को त्याग कहते हैं। महात्मा लोग इस साधन का वहुत ही आदर करते हैं। क्योंकि इससे शीघ्र मोक्ष की प्राप्ति होती है।

सहजावस्था ही मौन है—

मौनम्—यस्माद् वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।
यन्मौनं योगिभिर्गम्यं तद्भवेत्सर्वदा वुधः॥
वाचो यस्मावन्निर्त्तन्ते तद्वक्तुं केन शक्यते।
प्रपञ्चो यदि वक्तव्यः सोपि शब्दविवर्जितः॥
इति वा तद्भवेन्मौनं सतां सहज संज्ञितम्।
गिरामौनं तु वालानां प्रयुक्तं ब्रह्मवादिभिः॥

अर्थ=जिसको वाणी और मन नहीं प्राप्त कर सकते हैं और जिसका अनुमान केवल योगी लोग ही कर सकते हैं ऐसे परम ब्रह्मपद की ही मौन संज्ञा है। उस भाव को लाभ करने के लिये पण्डितों को सदा प्रयत्न करना चाहिये। जिसके वर्णन में वाक्शक्ति थक जाती है—अर्थात् जिस पद का कोई भी वर्णन नहीं कर सकता—यदि प्रपञ्च का ही वर्णन किया जाय तो भी वर्णन में शब्द समर्थ नहीं हो सकता। अतः साधुवों की यह सहजावस्था ही मौन कहाती है। वाणी रोकने को जो मौन कहा जाता है वह ब्रह्मवादियों के अर्थ में वालक का खेल ही है।

विषयों के वीच आत्म तत्त्व को देखने से स्वरूप स्थिति—

देशः—आदावन्ते च मध्ये च जनो यस्मिन्न विद्यते।
येनेदं सततं व्याप्तं स देशो विजनः स्मृतः॥

अर्थ=जिस देश के न तो आदि में, न मध्य में और न अन्त में जनता का सम्बन्ध पाया जाय, जो देश सदा परमात्मा से व्याप्त रहता हो वही संसार सम्वन्ध शून्य देश विजन देश कहाता है।

कालः—कलनात्सर्वभूतानां ब्रह्मादीनां निमेषतः।
कालशब्देन निर्दिष्टश्चाखण्डानन्द अद्वयः॥

अर्थ=जिसके निमेष मात्र में ब्रह्मादि से लेकर सव भूतों के सृष्टि स्थितिलय हुवा करते हैं वही, अखण्डा नन्द रूप अद्वितीय भाव काल कहाता है।

प्रत्याहारः—विषयेष्वात्मतां दृष्ट्वा मनसश्चितिमज्जनम्।
प्रत्याहारः स विज्ञेयोऽभ्यसनीयो मुमुक्षुभिः॥

अर्थ=विषयों के वीच आत्म तत्त्व को देखते हुवे मन को चैतन्य स्वरूप में लगाने से प्रत्याहार कहाता है, मुमुक्षुगण को इस प्रत्याहार क्रिया का अवश्य साधन करना उचित है।

धारणा—यत्र यत्र मनो याति ब्रह्मणस्तत्र दर्शनात्।
मनसो धारणं चैव धारणा सा परा मता ॥

अर्थ=जहाँ जहाँ मन जाय, वहाँ वहाँ ही ब्रह्मस्वरूप दर्शन करते हुवे जो मन की स्थिरता का साधन है उसी को सर्वोत्तम धारणा कहते हैं।

आत्मध्यानम्:—ब्रह्मैवास्मीति सद्वृत्या निरालम्बतया स्थितिः।
ध्यान शब्देन विख्याता परमानन्ददायिनी ॥

अर्थ=मैं ब्रह्म हूँ, इस प्रकार सद्वृत्ति के द्वारा निरालम्व रूप से जो स्थिति है उसे ध्यान कहते हैं। इसमें परमानन्द की प्राप्ति होती है।

समाधिः—निर्विकारतया, वृत्त्या ब्रह्माकारतया पुनः।
वृत्तिविस्मरणं सम्यक् समाधिर्ज्ञान संज्ञकः ॥
उद्ध्र्वपूर्णमधः पूर्णं मध्य पूर्णं तदात्मकम्।
सर्वपूर्णं स आत्मेति समाधिस्थस्य लक्षणम् ॥

अर्थ=निर्विकार चित्त हो अपने आपको ब्रह्म स्वरूप ज्ञान करके सम्पूर्ण वृत्ति सहित सृष्टि भाव से रहित हो जाने को समाधि कहते हैं। जो उद्ध्र्व पूर्ण, अधः पूर्ण, मध्यपूर्ण और सर्व पूर्ण अर्थात् सकल स्थान में पूर्ण रूप से विराजमान हैं वही परमात्मा हैं। उन्हीं को जान लेने से साधक समाधि को प्राप्त हो जाता है और उनका वह पूर्णभाव ही समाधि का लक्षण है।

राजयोग के उन्नततम अधिकार को समझने के लिये योग शास्त्र में योग के अङ्ग तथा उपाङ्गों के ये सब लक्षण वर्णन किये गये हैं। राजयोग के स्वरूप की उपलब्धि के लिये योगाचार्यों का इस प्रकार से प्रयत्न है। मन्त्र योग, हठयोग और लय योग ये तीनों साधनावस्था के योग हैं और राजयोग सिद्धावस्था है।

योग दर्शन में——योग के सामान्य लक्षण

'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।'

अर्थ=चित्त की वृत्तियों का निरोध को ही 'योग' नाम से कहा गया है।

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्।

अर्थ=जव चित्त की वृत्तियों का निरोध हो जाता है, उस समय द्रष्टा (आत्मा) की अपने स्वरूप में स्थिति हो जाती है; अर्थात् वह कैवल्य-अवस्था को प्राप्त हो जाता है।

पाँचवृत्तिः—प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः।

अर्थ=इन पाँचो के स्वरूप का वर्णन स्वयं सूत्रकार ने आगे किया है।

प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि।

अर्थ=प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम (ये तीन) प्रमाण हैं।

अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा।

अर्थ=जिस समय मनुष्य को किसी भी विषय का ज्ञान नहीं रहता, केवल मात्र

ज्ञान के अभाव की ही प्रतीत रहती है, वह ज्ञान के अभाव का ज्ञान जिस चित्त वृत्ति के आश्रित रहता है, वह निद्रा वृत्ति है।

अनुभूतविषयासम्प्रमोषःस्मृतिः।

अर्थ=अनुभव किये हुवे विषय का न छिपना अर्थात् प्रकट हो जाना स्मृति है।

अभ्यास और वैराग्य से वृत्तियों का निरोध—

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः।

अर्थ=चित्त की वृत्तियों का सर्वथा निरोध करने के लिये अभ्यास और वैराग्य—ये दो उपाय हैं। चित्त की वृत्तियों का प्रवाह परम्परागत संस्कारों के बल से सांसारिक भोगों की ओर चल रहा है, उस प्रवाह को रोकने का उपाय वैराग्य है और उसे कल्याण मार्ग में ले जाने का उपाय अभ्यास है।

ईश्वरप्रणिधानाद्वा।

अर्थ=ईश्वर की भक्ति यानी शरणागति का नाम 'ईश्वरप्रणिधान' है; क्योंकि ईश्वर सर्वसमर्थ है, वे अपने शरणापन्न भक्त पर प्रसन्न होकर उसके भावानुसार सब कुछ प्रदान कर सकते हैं।

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुष विशेष ईश्वरः।

अर्थ=क्लेश, कर्म, विपाक और आशय-इन चारों से; जो सम्बन्धित नहीं जो समस्त पुरुषों से उत्तम है, वह, ईश्वर है।

व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्यविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः।

अर्थ=व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्तिदर्शन, अलब्ध भूमिकत्व और अनवस्थितत्व-ये नव चित्त के विक्षेप ही अन्तराय (विघ्न) हैं।

चित्त को निर्मल बनाने का सुगम उपाय—

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुख दुःख पुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्।

अर्थ=सुखी मनुष्यों में मित्रता की भावना करने से, दुःखी मनुष्यों में दया की भावना करने से पुण्यात्मा पुरुषों में प्रसन्नता की भावना करने से और पापियों में उपेक्षा की भावना करने से चित्त के राग, द्वेष, घृणा, ईर्ष्या और क्रोध आदि मलों का नाश हो कर चित्त शुद्ध-निर्मल हो जाता है। अतः साधक को इसका अभ्यास करना चाहिये।

स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा।

अर्थ=स्वप्न और निद्रा के ज्ञान का अवलम्बन करने वाला चित्त, भी (स्थिर हो सकता है)

पातञ्जल योग दर्शन साधन पाद—

तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः।

अर्थ=तप: अपने वर्ण आश्रम धर्म का पालन करना परिस्थिति और योग्यता के अनुसार और उसके पालन में जो शारीरिक या मानसिक अधिक-से-अधिक कष्ट प्राप्त हो, उसे सहर्ष सहन करना-इसका नाम 'तप है। व्रत, उपवास आदि भी इसी में आ जाते हैं। निष्काम भाव से इस तप का पालन करने से मनुष्य का अन्तःकरण अनायास ही शुद्ध हो जाता है,

अविद्या का स्वरूप निर्णय—

अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या।

अर्थ=अनित्य, अपवित्र, दुःख और अनात्मा में नित्य पवित्र, सुख और आत्मभाव की अनुभूति अविद्या है।

रागनामक क्लेश—सुखानुशयी रागः।

अर्थ=प्रकृतिस्थ जीव को जब कभी जिस किसी अनुकूल पदार्थ में सुख की प्रतीति हुयी या होती है, उसमें और उसके निमित्तों में उसकी आसक्ति (प्राप्ति) हो जाती है, उसी को 'राग' कहते हैं। अतः इस राग नामक क्लेश को सुख की प्रतीति के साथ-साथ रहनेवाला कहा गया है।

द्वेषनामक क्लेश का स्वरूप—

दुःखानुशयी द्वेषः।

अर्थ=मनुष्य को जब कभी जिस किसी प्रतिकूल पदार्थ में दुःख की प्रतीति हुयी या होती है, उसमें और उसके निमित्तों में उसका द्वेष हो जाता है; अतः यह द्वेषरूप क्लेश दुःख की प्रतीति के पीछे यानी साथ-साथ रहनेवाला है। जिन कर्मों से अन्त में दुःख,—

परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः।

अर्थ=परिणाम दुःख, ताप दुःख और संस्कार दुःख—ऐसे तीन प्रकार के दुःख सब में विद्यमान रहने के कारण; और तीनों गुणों की वृत्तियों में परस्पर विरोध होने के कारण; विवेकी के लिये; सबके-सब (कर्मफल) दुःख रूप ही हैं।

उक्त योगाङ्गों के नाम और संख्या निर्णय—

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि।

अर्थ=यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा ध्यान और समाधि; ये आठ (योग के) अङ्ग हैं।

यमों का वर्णन—

अहिंसासत्यास्तेय ब्रह्मचर्यापरिग्रह यमाः।

अर्थ=अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी का अभाव) ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह (संग्रह का) अभाव) —ये पाँच, यम हैं।

नियमों का वर्णन—

शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानिनियमाः।

अर्थ=शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर–शरणागति (ये पाँच) नियम हैं।

अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः।

अर्थ=अहिंसा की दृढ स्थिति हो जाने पर, उस योगी के निकट; सब प्राणी वैर का त्याग कर देते हैं। (सभी जीव मात्र)

सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्।

अर्थ=सत्य की दृढ स्थिति हो जाने पर (योगी में) क्रिया–फल के आश्रय का भाव। (आ जाता है)

अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्।

अर्थ=चोरी के अभाव की दृढ स्थिति हो जाने पर (उस योगी के सामने) सव प्रकार के रत्न प्रकट हो जाते हैं।

ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः।

अर्थ=ब्रह्मचर्य की दृढ स्थिति हो जाने पर; सामर्थ्य का लाभ होता है।

अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्ता संबोध:।

अर्थ=अपरिग्रह की स्थिति हो जाने पर; पूर्वजन्म कैसे हुवे थे। इस बात का भली भाँति ज्ञान हो जाता है।

शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः।

अर्थ=शौच के पालन से; अपने अङ्गों में वैराग्य; (और) दूसरों से संसर्ग न करने को इच्छा (उत्पन्न होती है)

सन्तोषादनुत्तमसुखलाभः।

अर्थ=संतोष से; जिससे उत्तम दूसरा कोई सुख नहीं है–ऐसे सर्वोत्तम सुख का लाभ होता है।

स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः।

अर्थ=स्वाध्याय से; इष्टदेवता की भली भाँति प्राप्ति (साक्षात्कार) हो जाती है।

स्थिरसुखमासनम्।

अर्थ=निश्चल (हलन-चलन आदि से रहित) सुख पूर्वक वैठने का नाम आसन है।

ततो द्वन्द्वानभिघात:।

अर्थ=उस (आसन की सिद्धि) से (शीत-उष्ण आदि) द्वन्द्वो का आघात नहीं लगता।

धारणा का स्वरूप—

देशवन्धश्चित्तस्य धारणा।

अर्थ=(वाहर या शरीर के भीतर कहीं भी) किसी एक देश में चित्त को ठहराना; धारणा है।

ध्यान का रूप—

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ।

अर्थ=जहाँ चित्त को लगाया जाय) उसी में; वृति का एकतार ठहरना ध्यान है।

नाना प्रकार की सिद्धियाँ एवं कैवल्य का स्वरूप—

जन्मौषधिमन्त्रतपः समाधिजाः सिद्धयः ।

अर्थ=जन्म से होने वाली, ओपधि से होने वाली, मन्त्र से होने वाली, तप से होने वाली और समाधि से होनेवाली (ऐसे पाँच प्रकार की) सिद्धियाँ होती हैं।

कैवल्य का स्वरूप—

पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यम् स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्ते रिति ।

अर्थ=जिनका पुरुष के लिये कोई कर्तव्य शेष नहीं रहा, ऐसे; गुणों का; अपने कारण में विलीन हो जाना कैवल्य है; अथवा यों कहिये कि; द्रष्टा का, अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाना। (कैवल्य है)

● २४—अट्ठायिसवाँ राजयोग प्रकरण समाप्त ●

हठयोग प्रकरणम्

प्राणायामस्य फलम्—

योगसिद्धोभवेद्योगी　　वायुजिद्विजितेन्द्रियः ।
अल्पाशीस्वल्पनिद्रश्च तेजस्वी वलवान्भवेत् ॥

अर्थ=योग जिसका सिद्ध हो जाता है उसे योगी तथा प्राण अपानादि वायु को जीतनेवाला जितेन्द्रिय थोड़ा खाने वाला, कम सोने वाला तेजस्वी और वलवान् होते हैं।

अपमृत्युमतिक्रम्य　　दीर्घमायुमवाप्नुयात् ।
प्रस्वेद जननं यस्य प्राणायामस्तु सोऽधमः ॥

अर्थ=प्राणायाम से अपमृत्यु का नाश होता तथा दीर्घ आयु प्राप्त होती है किन्तु जिस प्राणायाम में पसीना आजाय वह अधम माना गया है।

कंपनंवपुषो　यस्यप्राणायामेषु　　मध्यमः ।
उत्थानोवपुषो यस्य स उत्तमः उदाहृताः ॥

अर्थ=जिसके शरीर में प्राणायाम से कंपन होता है वह मध्यम तथा जिस प्राणायाम से शरीर का उत्थान होता है वह उत्तम प्राणायाम कहा गया है। इसमें शरीर हल्की हो जाती है।

अधमेऽव्याधिपापानां नाशःस्यान्मध्यमे पुनः ।
पापरोगमहाव्याधि　　नाशःस्यादुत्तमे　पुनः ॥

अर्थ =अधम प्राणायाम में भी व्याधि और पाप का नाश तथा मध्यम में भी पाप का नाश। उत्तम प्राणायाम करने से पाप, रोग और महाव्याधि का नाश हो जाता है।

अल्पमूत्रोऽल्पविष्ठश्च लघुदेहोमिताशनः।
पट्विन्द्रियः पटुमतिः कालत्रय विदात्मवान् ॥

अर्थ =उत्तम प्राणायाम करने से अल्प मूत्र, अल्पविष्ठा होने लगता है शरीर हलकी होती है, भोजन कम हो जाता है। इन्द्रियां वश में हो जाती हैं बुद्धि तीव्र हो जाती है तथा वह तीनों काल वर्तमान भूत, भविष्य को जानने वाला हो जाता है।

रेचकं पूरकं मुक्त्वा कुम्भी करण मेव यः।
करोतुत्रिषु कालेषु नैव तस्यास्ति दुर्लभम् ॥

अर्थ=रेचक (सांस को निकालना) पूरक (वायु को खीचना) को छोड़कर जो कुम्भक क्रिया (वायु रोकने) को तीनों समय करता है उसके लिये कुछ भी दुर्लभ नहीं है।

नाभिकन्देच नासाग्रे पादाङ्गुष्ठे च यत्नवान्।
धारयेन्मनसाप्राणान् सन्ध्या कालेषु वा सदा ॥

अर्थ=कुम्भक क्रिया द्वारा नाभि भाग में, नासिका के अग्रभाग में तथा पैर के अंगूठे में जो यत्न पूर्वक सन्ध्या काल में मन से ध्यान करता है।

सर्वरोगैर्विनिर्मुक्तो जीवेद्योगी गतक्लमः।
कुक्षिरोग विनाशः स्यान्नाभिकन्देषुधारणात् ॥

अर्थ=वह सभी रोगों से मुक्त होकर योगियों की तरह जीवित रहता है पेट के रोग का विनाश होता है जो केवल नाभि भाग में वायु को धारण करता है।

नासस्यधारणाद्दीर्घमायुः स्याद्देहलाघवम्।
ब्राह्मे मुहूर्त्तेसंप्राप्तेवायुमाकृष्य जिह्वया ॥

अर्थ=ब्राह्म मुहूर्त में उठकर जो जिह्वा को काक चोंच की तरह बनाकर वायु को खींचकर नासिका के अग्र भाग का ध्यान करता है वह दीर्घ आयु वाला तथा हलके शरीर वाला हो जाता है।

पिवतस्त्रिषुमासेषु महारोगविनाशनम्।
अभ्यासतश्चषड्मासान् वाक सिद्धिर्महतोभवेत् ॥

अर्थ=जो उक्त विधि से तीन माहतक करता है वह महारोग से मुक्त हो जाता है। और अभ्यास से यदि छः माह तक कर लेता है तो वाक् सिद्धि पूर्णतया हो जाती है।

यत्र यत्र धृतोवायुरङ्गे रोगादिदूषिते।
धारणादेव मरुतस्तत्तदारोग्यमश्नुते ॥

अर्थ=रोग से दूषित जिस अंगपर वायु को कुम्भक द्वारा धारण किया जाता है उसके धारण मात्र से वह रोग समाप्त हो जाता है।

मनसोधारणादेवपवनोधारितो भवेत् ।
मनसः स्थापने हेतुरुच्यते द्विजपुङ्गव ।। इति ।

अर्थ=हे द्विज श्रेष्ठ । अब मन से जहां पर वायु को धारण किया जाता है उस मन के स्थापन का हेतु अब कहा जा रहा है ।

अष्ट कुम्भिका विधि फलम्—

सहितः सूर्यभेदश्च उज्जायी शीतली तथा ।
भस्त्रिका भ्रामरी मूर्च्छा केवलीचाष्टकुम्भिका ।।

अर्थ=सहित, सूर्य भेद, उज्जायी शीतली, भस्त्रिका, भ्रामरी, मूर्च्छा और केवली ये आठ प्रकार की कुम्भिक प्राणायाम शास्त्रों में वताये गये हैं ।

सहितोद्विविधः प्रोक्तः प्राणायामं समाचरेत् ।
सगर्भो बीजमुच्चार्य निगर्भो वीजवर्जितः ।।

अर्थ=सहित दो प्रकार की है अतः उसी प्रकार प्राणायाम करना चाहिये । सगर्भ वीज का उच्चारण प्रशस्त तथा निगर्भ वीज का उच्चारण वर्जित है ।

साधमा जायते घर्मं मेरुकं पंचमध्यमात् ।
उत्तमा च भूमि त्यागस्त्रिविधं सिद्धिलक्षणम् ।।

अर्थ=प्राणायाम सिद्धि के तीन प्रकार के लक्षण हैं । अधमसिद्धि वह है जिसमें देह में पसीना तथा मेरु (रीढ) में कम्पन हो, मध्यम वह है जिसमें पंचवायु का उत्थान तथा उत्तम में भूमि से ऊपर देह का उठना ये तीन प्रकार के सिद्धि के लक्षण हैं ।

पूरयेत्सूर्यनाड्या च यथाशक्ति वहिर्मरुत् ।
धारयेत् बहुयत्नेन कुम्भकेन जलन्धरैः ।।

अर्थ=अपनी शक्ति के अनुसार दाहिनी नाक के छिद्र से बाहर की वायु को खींच कर कुम्भक क्रिया के द्वारा प्रयत्नपूर्वक धारण किये रहे । शनैः-शनैः करके अभ्यास बढावे ।

यावत् स्वेद नखकेशाभ्यां तावत् कुर्वन्तु कुम्भकम् ।
सर्वेते सूर्यं संभिन्ना नाभिमूलात् समुद्धरेत् ।।

अर्थ=कुम्भक क्रिया तब तक किये रहे जब तक नख और केश से पसीना न निकले । तदनन्तर नाभि मूल से उस वायु को शनैः२ वाहर निकाल दे ।

ई उ या रेचयेत् पश्चाद्धैर्येणा खण्ड वेगतः ।
पुनः धार्येण चा कृष्य कुम्भयित्वा यथाविधि ।।

अर्थ=ईश का ध्यान करते हुये धैर्य के साथ अखण्ड वायु को वेग से, पुनः धैर्य पूर्वक खींचकर कुम्भक क्रिया करे यही इसकी विधि है ।

रेचयित्वासाधयेन्तु क्रमेण च पुनः पुनः ।
कुम्भकात्सूर्यभेदस्तु जरामृत्यु विनाशकः ।।

अर्थ=पुनः पुनः वायु को क्रम से निकालता रहे तथा खींचता रहे इस प्रकार नाड़ी भेद से जरा तथा मृत्यु का विनाश होता है।

वोधयेत्कुण्डलीं शक्तिं देहानल विवर्धनः।
नासाभ्यां वायु माकृष्य वायु वक्रेण धारयेत्॥

अर्थ=शरीर की अग्नि को वढानेवाली कुण्डलिनी शक्ति को जागृत करके दोनों नासिकावों से वायु खींचकर मुख से धारण करे।

हृद्गलाभ्यां समाकृष्य ,मुखमध्ये च धारयेत्।
मुखं प्रक्षाल्य सम्वेद्य कुर्य्याज्जालन्धरं ततः॥

अर्थ=हृदय और गला से वायु खींचकर मुख के मध्य में धारण करे तथा वायु से मुख धोकर जालन्धर बन्ध करे।

आशक्ति कुम्भकं कृत्वाधारयेदविरोधतः।
उज्जायीकुम्भकं कृत्वासर्वकार्याणि साधयेत्॥

अर्थ=शक्ति पूर्वक लगातार कुम्भक क्रिया द्वारा वायु को धारण करे। पुनः उज्जायी (जोनासिका चलती हो) कुम्भक द्वारा सभी कार्य सिद्ध हो जाते हैं।

न भव कफरोगं च क्रूर वायुर जीर्णकम्।
आमवातं क्षयं कासंज्वरप्लीहा न विद्यते॥

अर्थ=उक्त क्रिया द्वारा शरीरिक कफ, रोग क्रूर एवं अजीर्ण वायु शरीर का पीला पड़ना, राजयक्ष्मा, श्वास की वीमारी ये सब नष्ट हो जाते हैं।

जरामृत्युविनाशाय चोज्जायीसाधयेन्नरः।
जिह्वयावायु मा कृष्य उदरे पूरयेच्छनैः॥

अर्थ=जिह्वा के द्वारा वायु को खींचकर धीरे से पेट में धारण करे इस उज्जायी क्रिया की सिद्धि से बृद्धावस्था एवं (अकाल) मृत्यु का भय दूर हो जाता है।

क्षणं च कुम्भकं कृत्वा नासाभ्यां रेचयेत्पुनः।
सर्वदासाधयेद्योगीशीतली कुम्भकं शुभम्॥

अर्थ=दोनों नासिकावों के द्वारा थोड़ी देर कुम्भक करके फिर रेचक (श्वास वाहर निकालना) करे योगियों को इसका अभ्यास करना चाहिये यह शीतली सिद्धि शुभकारी होती है।

अजीर्णं कफ पित्तं च न च तस्य प्रजायते।
भस्त्रैव लौह काराणां यथा क्रमेणसंभ्रमेत्॥

अर्थ=जिस प्रकार लोहार धौकनी को जल्दी-जल्दी धौकता है उसी प्रकार उक्त क्रिया करने से अजीर्णता, कफ, पित्त आदि नष्ट हो जाते हैं।

यथावायुं च नासाभ्यामुभाभ्यांचालयेच्छनैः।
एवं विंशति वारं च कृत्वा कुर्य्याच्च कुम्भकम्॥

अर्थ=दोनों नासिकावों से वायु को धीरे-धीरे वीस बार भस्त्रिका तव बाद में कुम्भक क्रिया करनी चाहिये यह भस्त्रिका का विधान है।

तदन्ते चालभेद्वायुं पूर्वोक्तं च यथा विधि।
त्रिवारं साधयेदेनं भस्त्रिकां कुम्भिकां सुधीः॥

अर्थ=उसके बाद पूर्वोक्त विधि से वायु को तीन वार खींचे रोके तथा निकाले ऐसा करने से बुद्धिमान् होता है।

न च रोगं न च क्लेशमारोग्यं च दिने दिने।
अर्धरात्रिगतेयोगी जन्तूनां शब्दवर्जिते॥

अर्थ=आधी रात को जब जन्तुवों का शब्द न सुनाई पड़े तव यह क्रिया योगी को करनी चाहिये उसके करने से रोग, क्लेश का नाश तथा आरोग्य दिन दिन होते जाते हैं।

कर्णौपधाय हस्ताभ्यां कुर्य्यात् पूरक कुम्भकम्।
श्रुणुयाद्दक्षिणेकर्णे नादमन्तर्गतं शुभम्॥

अर्थ=हाथों से दोनों कान, नाक, नेत्र और मुख को वन्द करके कुम्भक करे तब दाहिने कान में एक प्रकार का वाजावों के शब्द सुना जाता है। अंगूठे से कान तर्जनी से नेत्र, मध्यमा से नाक बन्द करना चाहिये।

प्रथमं झिंझि नादं च वंशी नादं ततः परम्।
मेघनादं मृदङ्गादि भ्रामरी चापि दुन्दुभिः॥

अर्थ=पहले झिनझिनाहट के शब्द उसके वाद वंशी की ध्वनि फिर बादल की तरह घड़घडाहट फिर मृदङ्गादि की ध्वनि पुनः भौंरा की तरह शब्द सुनायी देगा, वाद में नगाड़े की ध्वनि सुनायी देगी।

एवं नानाविधंनादं जायते नित्यमभ्यसात्।
अनाहतस्यशब्दस्य तस्य शब्दस्य पाऽध्वनिः॥

अर्थ=अनाहत नाद तथा उन शब्द की ध्वनि अभ्यास करने से सदा अनेक प्रकार की ध्वनि सुनायी देगी जिसका कोई आहत (आघात) नहीं है वह एक क्षण भी वन्द नहीं होता।

ध्वनेरन्तर्गते ज्योतिर्ज्योतिरन्तर्गते मनः।
तन्मनोविलयं याति तत्सद्विष्णो अलंपदम्॥

अर्थ=उस ध्वनि के अन्दर एक ज्योति दिखायी देगी, उसमें मन विलीन होगा, वही विष्णु का श्रेष्ठ पद है। (तद्विष्णोः परमं पदम्)

एवं च भ्रामरी सिद्धिः समाधिचापि आप्नुयात्।
सुखेन कुम्भकं कृत्वामनश्चैव भ्रुवोऽन्तरम्॥

अर्थ=इस प्रकार भ्रामरी सिद्धि द्वारा समाधि लगावे। सुख पूर्वक कुम्भक करके मन को भौंह के वीच में लगावे ध्यान करे।

सन्त्यज्य विषयान्सर्वान् मनोमूर्च्छा सुखप्रदम् ।
आत्मानिर्मनसो योगादा नन्दो जायतेध्रुवम् ॥

अर्थ=सभी विषयों को त्याग करके मन को सुख प्रदान करे इस प्रकार आत्मा मन से अलग होगी तब निश्चय ही उसे आनन्द प्राप्त होगा ।

हकारेण वर्हिर्यिन्त सकारेणविशेत्पुनः ।
षट् शतानि दिवारात्रोसहस्राण्येक विंशतिः ॥

अर्थ="सोऽहम्" शब्द से हकार कहता हुवा वायु को बाहर निकाले, खींचे, सकार कह कर पुनः वायु को खींचे इस प्रकार रात दिन में २१६०० श्वांस रात दिन में चलते हैं ।

अजपा नाम गायत्री जीवो जपति सर्वदा ।
केवली च जपा संख्या द्विगुणा च मनोन्मनी ॥

अर्थ=इसी अजपा नामक गायत्री का जप जीव सदा करता रहता है । जप करने से केवल जप मात्र का फल तथा मदोन्मनी अजपा से दूना फल ध्यानपूर्वक जपने से अक्षय फल होता है ।

नासाभ्यां वायुमा कृष्य केवलं कुम्भके चरेत् ।
एकाधिक चतुः षष्टि धारयेत्प्रथमे दिने ॥

अर्थ=एकादिक् (एक दिशा) में बैठकर प्रथम दिन नासिका से वायु को खींच कर कुम्भक क्रिया ६४ बार करे । १६ से वायु खींचे ६४ से रोके तथा ३२ से बाहर निकाले इस प्रकार ३ बार करने से एक प्राणायाम होता है । इत्यष्टकुम्भिका ॐ शान्तिः ३ ।

सप्त चक्रवेधन क्रिया एवं विश्वात्मा विराट् के सप्ताङ्गानि—

१—भूः—	मूलाधार	'४'	व से स,	पृथिवी, गुदा ।
२—भुवः—	स्वाधिष्ठान	'६'	ब से ल,	जल, लिङ्ग ।
३—स्वः—	मणिपूरक	'१०'	ड से फ,	अग्नि, नाभि ।
४—महः—	अनाहत	'१२'	क से ठ,	वायु, हृदय ।
५—जनः—	विशुद्धि	'१६'	अ से अः,	आकाश, कण्ठ ।
६—तपः—	आज्ञा	'२'	क्ष और ह,	मनस्तत्त्व, भ्रूमध्य ।
७—सत्यं—	सहस्रार	'१०००)	ॐ ,	महत्तत्त्व, शिर ।

१—स्वर्लोक —,	मूर्धा, है ।	५—आकाश,	धड़, है ।
२—सूर्य ,	नेत्र, हैं ।	६—समुद्रादिजल,	मूत्र स्थान, है ।
३—हवनाग्नि ,	मुख, है ।	७—पृथिवी,	पाद है ।
४—वायु ,	प्राण, है ।		

• २९—बत्तीसवां हठयोग प्रकरण समाप्त •

यतिधर्म प्रकरणम्

संन्यास निर्णयः—

तत्र ब्रह्मचर्यं कृत्वा समावर्तनान्ते कृतदारः पुत्रानुत्पाद्य यज्ञैरिष्ट्वा
वानप्रस्था श्रमं च कृत्वा संन्यसेदित्या श्रमसमुच्चयपक्षः।
ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद् गृहाद्वा वनाद्वा।
अथ पुनरव्रती वा व्रती वा स्नातको वाऽस्नातको वोत्सन्नाग्निरनग्निको वा
यदहरेव विजरेत्तदहरेव प्रव्रजेदित्याश्रम विकल्प पक्षः। (धर्म सिन्धुः)

अर्थ=उसमें ब्रह्मचर्य करके समावर्तन के अन्त में विवाह करके पुत्रों को पैदा कर यज्ञों और वानप्रस्थाश्रम को करके संन्यास करे, यह आश्रमों का समुच्चय पक्ष है। ब्रह्मचर्य ही से या गृहस्थाश्रम से या वानप्रस्थाश्रम से संन्यास ग्रहण करे। फिर अव्रती या व्रती, स्नातक या अस्नातक, अग्नि का त्यागी या अग्निहोत्र सहित पुरुष जिस दिन विराग हो जाय उसी दिन संन्यास ले ले, यह आश्रम विकल्प पक्ष है। आतुर हो या दुःखी विद्वान् पुरुष ब्रह्मचर्य या गृहस्थाश्रम से या वानप्रस्थाश्रम से संन्यास ग्रहण करे। इस वाक्य में आतुर का अर्थ है मरने की इच्छा करने वाला, दुःखित का अर्थ है चोर बाघ आदि से डरा हुवा।

याज्ञवल्क्य ने कहा है किः—

आश्रम समुच्चय पक्ष निर्णय—

वनाद् गृहाद्वा कृत्वेष्टिं सार्ववेदसदक्षिणाम्।
प्राजापत्यां तदन्ते तानग्नीनारोप्य चात्मनि॥
अधीतवेदा जपकृत्पुत्रवानन्नदोऽग्निमान्।
शक्त्या च यज्ञ कृन्मोक्षे मनः कुर्यात्तु नान्यथा॥

अर्थ=वानप्रस्थ अथवा गृहस्थाश्रम के उपरान्त सम्पूर्ण वेद से संवद्ध दक्षिणा वाली प्रजापति देवता की इष्टि करके और उसके अन्त में उन्हीं अग्नियों का अपने आत्मा में समारोप करके, वेदों का अध्ययन करके जप परायण होकर, पुत्रवान् होने पर, (दीन दुःखियों को) यथा—शक्ति अन्नदेकर, अग्नि में होम और शक्ति के अनुसार यज्ञ करके मोक्ष प्राप्ति की (संकल्पपूर्वक) इच्छा करे अन्यथा (ऐसा न होने पर) मोक्ष की इच्छा न करे।

आतुर संन्यास के विषय में निर्णय—

आतुराणां च संन्यासे न विधिर्नैव च क्रिया।
प्रेषमात्रं समुच्चार्य संन्यासं तत्र कारयेत्॥
संन्यासे दण्ड ग्रहणादिरूपे विविदिषाख्ये विप्रस्यैवाधिकारः।
विद्वत्संन्यासे तुक्षत्रिय वैश्ययोरपि।
कलियुगे संन्यासनिषेधस्त्रिदण्डि संन्यास पर इति प्राञ्चः।

अर्थ=आतुरों के संन्यास में न विधि है न तो कोई क्रिया। प्रेषमात्र उच्चारण

कराके उसे संन्यास करा दे। आत्मज्ञानेच्छारूप तथा दण्ड ग्रहण आदि रूप संन्यास में ब्राह्मण का ही अधिकार है। विद्वत्संन्यास में तो क्षत्रिय और वैश्य का भी अधिकार है। कलियुग में संन्यास का निषेध त्रिदण्डि संन्यास के लिये है, ऐसा प्राचीन लोग कहते हैं।

संन्यासश्चतुर्धा एवं संन्यास के समय परिवार को आशीर्वाद—

कुटीचको वहूदको हंसः परमहंसश्चेति।
अत्रोत्तरोत्तरः श्रेष्ठः।

अर्थ=वह संन्यास चार प्रकार का है—कुटीचक, वहूदक, हंस और परम हंस। इनमें उत्तरोत्तर (बाद वाद वाले) श्रेष्ठ होते हैं। (परमहंस तो शिखायज्ञोपवीत रहित एक दण्डी होता है)

संन्यास के समय परिवार को आशीर्वाद—

सर्वे भवन्तु वेदाढ्याः सर्वे भवन्तु सोमपाः।
सर्वे पुत्रमुखं दृष्ट्वा सर्वे भवन्तु भिक्षुकाः॥ (धर्म सिन्धुः)

१—इति पुत्रादिभ्य आशिषं दत्वा न मे कश्चिन्नाहं कस्यचित् पुत्रादीनुक्त्वाविसृजेत्।

अर्थ= सब वेद से सम्पन्न हों, सब सोम के पीने वाले हों, सब पुत्र के मुख देखकर संन्यासी हों, इस प्रकार पुत्र आदि को आशीर्वाद देकर न मेरा कोई है न मैं किसी का हूँ, ऐसा कहकर पुत्र आदि को त्याग दे।

सर्व ईषणावों का त्याग—

पुत्रगृहं न गच्छेत्। संन्यासाश्रमे तिष्ठेत्।
स्वस्थः सन् गुरुमुपगम्य महावाक्योपदेशं लब्ध्वा
संन्यासविध्युक्ताचरणेन वर्त्तेत॥ (संन्यास पद्धति)

अर्थ=संन्यासी को चाहिये कि वह अपने पूर्व आश्रम (जन्मस्थान) पुत्र के घर न जाय। संन्यासाश्रम में ही स्थित रहे। अपने स्वरूप में स्थित रहता हुवा गुरु के निकट जाकर महावाक्य का उपदेश ग्रहण करे। तथा संन्यास विधि में कहे गये आचरण के अनुसार ही व्यवहार करे।

पुत्रैषणाया वित्तैषणाया लोकैषणायाश्च।
व्युत्थितोऽहं भिक्षाचर्यं चरामीति जले जलं जुहुयात्॥
सर्वेषणामया परित्यक्ता अभयं सर्वभूतेभ्योस्तत: स्वाहा।

अर्थ=पुत्र की इच्छा धन की इच्छा तथा लोक की इच्छा निवृत्त हुवा मैं भिक्षा चरण करूंगा, इस प्रकार जल का जल में होम करे। सर्व प्राणियों से अभय अभीष्ट है।

कपालंवृक्षमूलानि कुचैलमसहायता।
समता चैव सर्वस्मिन्नेतन्मुक्तस्य लक्षणम्॥ (मनुस्मृति)

अर्थ=खप्पर (भोजन के लिये) वृक्ष के जड़ (रहने के लिये) मोटा पुराना कपड़ा (पहनने के लिये) किसी सहायक का न रहना और सर्वत्र समभाव रखना, यह मुक्त पुरुष का लक्षण है।

दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं वस्त्रपूतं जलं पिवेत्।
सत्यपूतां वदेद्वाचं मनः पूतं समा चरेत्।

अर्थ=आँख से जमीन को देख कर पैर रक्खे, वस्त्र से छानकर जल पीये सत्य वचन बोले और पवित्र मन से कार्य कारे।

क्रुद्धयन्तं प्रति न क्रुद्धेयदाक्रुष्टः कुशलं वदेत्।
सप्तद्वारावकीर्णां च न वाचमनृतां बदेत्॥

अर्थ=क्रोध में भरे हुये मनुष्य का जबाव क्रोधित होकर न दे, कोई निन्दा करे तो भद्र बचन ही कहे। (पाँच ज्ञानेन्द्रिय मन और बुद्धि) इन सात द्वारों से ग्रहण किये जाने वाले विषयों की चर्चा न करे। (केवल ब्रह्म विषयक सत्व वचन बोले)

क्लृप्तकेशनखश्मश्रुः पात्री दण्डी कुसुम्भवान्।
विचरेन्नियतो नित्यं सर्वभूतान्यपीडयन्॥ (मनुस्मृतिः)

अर्थ=सिर के केश, दाढी, मूंछ और नखों को कटाना चाहिये। भिक्षापात्र और दण्ड कमण्डलु साथ रखने चाहिये। और सभी प्राणियों को बिना दुःख दिये नित्य नियम पूर्वक भ्रमण करना चाहिये।

दण्ड त्यागने में दोष एवं संन्यासी के पात्र निर्णय—

दण्डात्मनोस्तु संयोगः सर्वथा तु विधीयते।
न दण्डेन विना गच्छेदिषुक्षेपत्रयं बुधः॥ (संन्यासोपनिषद्ः)

अर्थ=दण्डी स्वामियों के दण्ड एवं शरीर का सदैव अभेद सम्वन्ध होता है। इसलिये उनको चाहिये कि क्रमशः तीन वाणों के प्रक्षेप (फेंकने) की दूरी से वाहर दण्ड के बिना न जायें (वाँण प्रक्षेप की दूरी से, तात्पर्य प्रथम द्वितीय तृतीय बार पहुँचे हुये स्थान से फेंकने या छोड़ने से है)

बिभृयाच्चेन्मुनिर्वासः कौपीनाच्छादनं परम्।
त्यक्तं न दण्डपात्राभ्यामन्यत् किंचिदनापदि॥ (श्रीमद्भागवते)

अर्थ=दण्डी यति कौपीन से अतिरिक्त वस्त्र न धारण करे यदि आवश्यकता हो तो कौपीन ढकने के लिये कटिवस्त्र पहिने तथा यदि आपत्ति न हो तो दण्ड कमण्डलु के अलावाँ सामग्री न रखे (आवश्यकता पड़ने पर शरीर यात्रार्थ उचित सामग्रियाँ रखी जा सकती हैं)

अतैजसानि पात्राणि तस्य स्युर्निर्व्रणानि च।
तेषामद्भिः स्मृतं शौचं चमसानामिवाध्वरे॥

अर्थ=संन्यासियों के भिक्षापात्र धातु के न हों और न उनमें छिद्र ही हों। इन पात्रों की शुद्धि यज्ञ चमसों की भाँति जल से ही होती है।

अलावुं दारुपात्रं च मृन्मयं वैदलं तथा।
एतानि यतिपात्राणि मनुः स्वायंभुवोऽब्रवीत्॥ (मनुस्मृतिः)

अर्थ=संन्यासी का भिक्षा पात्र कद्दू के फल का, काठ का, मिट्टी का, या बाँस के पोले का बना होना चाहिये, यह स्वायम्भुव मनु ने कहा है।

यतिपात्राणि मृद्वेणुदार्वलांबुमयानि च।
सलिल शुद्धिरेतेषां गोवालैश्चावघर्षणम् ॥ (याज्ञवल्क्यस्मृतिः)

अर्थ=मिट्टी, वांस, काठ और अलांबु (लौकी) के वने हुये संन्यासियों के पात्रों की शुद्धि जल से और गोवाल (गऊ के गोबर) द्वारा मलने से होती है।

यति भिक्षा नियम्—

भिक्षां चतुर्षु वर्णेषु विगर्ह्यान् वर्जयंश्चरेत्।
सप्तागारानसंक्लृप्तांस्तुष्येल्लब्धेन तावता ॥ (श्रीमद्‌भागवते)

अर्थ=संन्यासी को चाहिये कि जातिच्युत और गोघाती आदि पतितों को छोड़कर चारों वर्णों की भिक्षा ले। केवल अनिश्चित सात घरों से जितना मिल जाय, उतने से ही सन्तोष कर ले।

ऋषय ऊचुः ॥ सदाचारं श्रावयाशु येन लोकाञ्जयेद्‌वुधः।
धर्मा धर्ममयान् ब्रूहि स्वर्गनारकदांस्तथा ॥

सूतउवाच ॥ सदाचारयुतो विद्वान्ब्राह्मणो नाम नामतः।
वेदाचारयुतो विप्रो ह्येतैरेकैकवान्द्विजः ॥
अल्पाचारोऽल्पवेदश्च क्षत्रियो राजसेवकः।
किंचिदाचारवान्वैश्यः कृषिवाणिज्यकृत्तथा ॥
शूद्रब्राह्मण इत्युक्तः स्वयमेव हि कर्षकः।
असूयालुः परद्रोही चाण्डालद्विज उच्यते ॥(शिवपुराणे)

अर्थ=ऋषि वोले—हे सूत जी! अब आप हमको सदाचार श्रवण कराइये जिससे यह प्राणी लोकों को जय करता है वह धर्म और अधर्म कौन से आचरणों से होता है। कौन से स्वर्ग और कौन से नरक देने वाले हैं। सूतजी वोले सदाचार युक्त विद्वान् ब्राह्मण वेदाचार होने से आगे कहे हुये एक-एक गुणों से द्विज कहलाता है। अल्पाचार थोड़ा वेद पढा हुवा राजसेवक ब्राह्मण क्षत्रिय ब्राह्मण है और कुछ आचार वाला खेती वाणिज्य करने वाला वैश्य ब्राह्मण कहाता है। और जो स्वयं हल जोते वह शूद्र ब्राह्मण है, निन्दा करने वाला और पराया द्रोह करने वाला चाण्डाल ब्राह्मण है। (ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्यों की सेवा करने वाला शूद्र तुल्य है यति को चाहिये कि इन सव की भिक्षा ले ब्राह्मण वृत्ति से जीवकोपार्जन करने वाला स्वधर्मावलम्वी उत्तम क्षत्रिय वृत्ति से मध्यम वैश्य वृत्ति से कनिष्ठ हलग्राही ब्राह्मण अधम, चाण्डाल वृत्ति वाले को त्याग दे गलित एवं श्वेत कुष्ट वाले तथा रोगी मनुष्यों के हाथ की भिक्षा अग्राह्य है।)

एककालं चरेद्भैक्षं न प्रसज्जेतविस्तरे।
भैक्षे प्रसक्तोहि यतिर्विषयेष्वपि सज्जति ॥

अर्थ=एक वार भिक्षा माँगनी चाहिये। भिक्षा का विस्तार न करे वहुत भिक्षा में आसक्त संन्यासी विषयों में भी आसक्त हो सकता है।

विधूमे सन्नमुसले व्यङ्गारे भुक्तवज्जने।
वृत्तेशरावसंपाते भिक्षां नित्यं यतिश्चरेत् ॥ (मनुस्मृतिः)

अर्थ=जब धुँवा न होता हो मूसल का शब्द न सुनायी देता हो, आग बुझ गयी हो, घर के सब लोग खा पी चुके हों, जूठे बर्तन अलग कर दिये गये हों, ऐसे समय संन्यासी भिक्षा के लिये नित्य गृहस्थों के घर जाय।

नियम विशेष—याज्ञवल्क्यस्मृतिः—

कर्तव्याशयशुद्धिस्तु भिक्षुकेण विशेषतः।
ज्ञानोत्पत्तिनिमित्तत्वात्स्वातन्त्र्यकरणाय च॥

अर्थ=संन्यासी को विशेषतया अन्तःकरण की शुद्धि (प्राणायाम द्वारा) करनी चाहिये क्योंकि वह ज्ञान उत्पन्न करने वाली और (आत्म ध्यान एवं धारणा आदि में) स्वतन्त्र बनाने वाली होती है।

अवेक्ष्या गर्भवासाश्च कर्मजा गतयस्तथा।
आधयो व्याधयः क्लेशा जरारूपविपर्ययः॥
भवो जाति सहस्रेषु प्रियाप्रिय विपर्ययः।

अर्थ=गर्भवास (के कष्टों) एवं (निषिद्ध) कर्म के करने से उत्पन्न होने वाली गतियों (महारौरव नरकादि) मानसिक कष्टों, शारीरिक रोगों, वृद्धावस्था, रूप के (लंगड़ा, कुबड़ा आदि होने से) बिगड़ने, क्षुद्र एवं गन्दे जीवों की जाति में जन्म, इष्ट की अप्राप्ति एवं अनिष्ट की प्राप्ति का विचार करना चाहिये।

शरीर ग्रहण प्रकार आत्मा की उपासना एवं विधि—

सर्गादौ स यथाकाशं वायुं ज्योतिर्जलं महीम्।
सृजत्येकोत्तरगुणांस्तथादत्ते भवन्नपि॥

अर्थ=जिस प्रकार सृष्टि के आरम्भ में वह परमात्मा आकाश, वायु, तेज, जल और पृथिवी की क्रमशः एक-एक अधिक गुण से युक्त बनाकर रचना करता है उसी प्रकार जीवन बन कर इन सबको धारण भी करता है। निष्काम कर्म के साथ-साथ उपासना और ज्ञान का भी अनुष्ठान संन्यासी को करना चाहिये। श्रुतियों में आज्ञा है कि आत्मा की उपासना करनी चाहिये।

आत्मानमुपासीत। ऋते ज्ञानान्नमुक्तिः।

अर्थ=आत्मा की उपासना करनी चाहिये। ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं होती है। उपासना के द्वारा उनकी चित्सत्ता की उपलब्धि होती है।

उपासना की विधि-मुण्डकोपनिषद् में कहा है किः—

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्य मुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्॥

अर्थ=ओंकार धनुष है, सोपाधिक आत्मा शर है और निरुपाधिक व्यापक ब्रह्म लक्ष्य है। जिस प्रकार धनुष की सहायता से शर के द्वारा लक्ष्य भेद होता है उसी प्रकार ॐकार

की सहायता से आत्मा परमात्मा में विलीन हो सकते हैं। प्रमाद हीन होकर लक्ष्य वेध करना चाहिये और शर के सदृश परमात्मा में तन्मय होना चाहिये।

यही उपलब्धि का उपाय है ईशोपनिषद् में लिखा है कि :—

यस्तुसर्व्वाणि भूतानि आत्मन्येवाऽनुपश्यति।
सर्व्वभूतेषु चाऽऽत्मानं ततो न विजुगुप्सते॥
यस्मिन् सर्व्वाणि भूतानि आत्मैवाऽभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥

अर्थ=जो सकल भूतों को आत्मा में और आत्मा को सकल भूतों में देखते हैं वे किसी को घृणा नहीं करते। जब समस्त संसार को अद्वितीय आत्मरूप से ही देखने लगें तो इस प्रकार के द्रष्टा ज्ञानी पुरुष किस के लिये शोक या मोह करेंगे। अद्वितीय ब्रह्म ज्ञान की दशा में शोक और मोह नहीं रहता है। उस समय उनकी हृदय ग्रन्थि भेदन हो जाती है, समस्त सन्देह जाल छिन्न होते हैं, सञ्चित और क्रियमाण समस्त कर्म क्षय हो जाते हैं और केवल प्रारब्ध मात्र भोग करने के लिये कुलाल चक्रवत् जीवन्मुक्त संन्यासी संसार में विचरा करते हैं। अपने में और सर्वत्र ही आत्मोपलब्धि होने से सर्वदा ही स्वस्वरूप उनके सामने भासमान रहता है।

यथा—मुण्डकोपनिषद् में लिखा है कि:—

वेदान्तविज्ञान सु निश्चिताऽर्थाः, संन्यासयोगाद्यतयः शुद्ध सत्त्वाः।
ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले, पराऽमृताः परिमुच्यन्ति सर्व्वे॥

अर्थ=महात्मा ऋषिलोग परब्रह्म को जान कर उसी ज्ञान में ही तृप्त, ब्रह्मभाव प्राप्त, विषयासक्ति शून्य व प्रशान्तचित्त हो जाते हैं। और इस प्रकार से युक्तात्मा होकर विदेह लय के समय उपाधिशून्य सर्व्व व्यापी परब्रह्म में विलीन होते हैं। वेदान्त विज्ञान के द्वारा पर तत्त्व जिनके निश्चित हो गये हैं ऐसे संन्यास योग से शुद्धात्मा यति लोग जीवित अवस्था में ही ब्रह्मभाव को प्राप्त होकर प्रारब्ध क्षय हो जाता है उस समय शरीर त्याग करके विदेह मुक्ति लाभ करते हैं। उनकी सत्ता अद्वितीय विभु ब्रह्मसत्ता में विलीन हो जाती है।

गेरू में रंगे वस्त्र धारण के अधिकारी निर्णय—

काषायं ब्राह्मणस्योक्तं नान्य वर्णस्य कस्यचित्।
मोक्षाश्रमेसदाप्रोक्तं धातुरक्तं तु योगिनाम्॥ (अत्रिस्मृति)

अर्थ=काषाय (गेरू) रंग का वस्त्र केवल चतुर्थाश्रमी ब्राह्मण को धारण करना चाहिये अन्य जाति (स्त्री शूद्रादि) को नहीं अधिकार है। मोक्षाश्रम में रहने वाले योगियों के लिये धातुरक्त वस्त्र धारण करना विहित है।

गेरू से वस्त्र रंगने का मन्त्र—

मेरुगर्भसमुद्भूतेगेरुकेवह्नि रूपिणि।
त्वया रंजितं वस्त्रं सद्योग सिद्धि करो तुमे॥

अर्थ=मेरु गर्भ से उत्पन्न वह्निस्वरूप गेरु के। तुम्हारे द्वारा रंगे गये इस वस्त्र को धारण करता हूँ आप योग पूर्वक सिद्धि को प्रदान करें।

स्कन्द पुराणे—

सचैवावभृथस्नातः स च गङ्गा जलप्लुतः।
विष्णु पादोदकं कृत्वा शङ्खे यः स्नाति मान वः ॥

अर्थ=शंख के जल से जो स्नान करता है वह अवभृथ स्नान, गंगाजल से स्नान तथा विष्णु के पादोदक के वरावर ही माना गया है।

दण्डी संन्यासी के चरण के जल का महत्व निर्णय—

यति पादोदकं राजन्हन्ति पापं पुरा कृतम्।
सप्तजन्मार्जितं सद्यः श्रद्धया शिरसा धृतम् ॥

अर्थ=श्रद्धापूर्वक यदि संन्यासियों के चरण जल को अपने सर पर धारण करे तथा पान करे तो वह सात जन्म के पापों को तुरन्त ही दूर कर देता है।

अत्रिस्मृतिः—

हितं मितं सदाऽश्नीयाद्यत्सुखे नैव जीर्यते।
धातुः प्रकुप्यते येन तदन्नं वर्जयेद्यतिः ॥

अर्थ=हितकर, थोड़ा, ही भोजन जिससे सुख पूर्वक जी सके वही भोजन संन्यासी को करना चाहिये। जिससे धातु का वर्धन हो वह अन्न यति को निषिद्ध है।

यातु पर्युषिता भिक्षा नैवेद्यादिषु कल्पिता।
तामभोज्यां विजानीयाद्दाता च नरकं व्रजेत् ॥

अर्थ=जो भिक्षा बासी, तथा नैवेद्यादि से दूसित है वह अभोज्य है तथा देने वाला भी नरक जाता है।

आयसे न तु पात्रेण यदन्नमुपदीयते।
भोक्ता विष्ठासमं भुङ्क्ते दाता च नरकं व्रजेत् ॥

अर्थ=लोहे के पात्र में जो व्यक्ति अन्न देता है, उसको खाने वाला विष्ठा के समान भोजन करता है। तथा दाता भी नरक गमी होता है।

भिक्षान्नं पञ्चगव्यं च पवित्राणि युगे युगे।
अब्बिन्दुं यः कुशाग्रेण मासि मसि समश्नुते ॥ (कण्वः)

अर्थ=जिस प्रकार कुश के अग्रभाग से छीटे गये जल से मनुष्य पवित्र हो जाता है। वैसे ही भिक्षान्न तथा पञ्च गव्य युग—युग तक पवित्र रखते हैं।

विष्णोर्नैवेद्यं संशुद्धं मुनिभिर्भोज्यमुच्यते।
अन्य देवस्य नैवेद्यं भुक्त्वा चान्द्रायणं चरेत् ॥

अर्थ=मुनियों एवं यतियों को विष्णु का नैवेद्य भक्षण करने का विधान है किन्तु

अन्य देवतावों के नैवेद्य भक्षण करने से चान्द्रायण व्रत करना चाहिये अर्थात् अन्यदेव का नैवेद्य भोज्य नहीं है।

शिला वस्त्र का निर्णय—

विधवां कञ्चुकोपेतां सधवां कञ्चुकं विना।
यतिं च कञ्चुकोपेतां दृष्ट्वा चक्षुर्निमीलयेत् ॥

अर्थ=विधवा को शिला वस्त्र, सधवा को कुर्ता से हीन तथा संन्यासी को कं चुकं (कुर्ता आदि) से युक्त देख कर नेत्र बन्द कर लेना चाहिये। विधवा व संन्यासी को कुर्ता का निषेध तथा सधवा को कुर्ता से युक्त रहना चाहिये।

प्रायश्चित्तं प्रयोगसारे—

मासिक धर्म व जनना शौचादि निर्णय—

वाचं विसृज्य चाऽऽभाष्य त्रीनेव तु विनिश्चयः।
पतेश्चैव सूतिकायाः रजस्वला पतेस्तथा ॥

अर्थ=सूतिका के पति तथा रजस्वला स्त्री के पति से भिक्षा न ले तथा वोलना प्रणामादि का निषेध है।

भाण्डस्पर्शन पर्यन्तं भिक्षार्थं वर्जयेद्गृहम्।
सूतिका पुत्र जननी विंशद्रात्रेण शुध्यति ॥

अर्थ=यति को सूतिका के घर में तव तक भिक्षा नहीं लेनी चाहिये जब तक वह भाण्डस्पर्श न करे क्योंकि पुत्र जननी सूतिका वीस रात्रि में शुद्ध होती है। (कन्या जननी तीस रात्रि में)

अत्रिः स्मृति में :—

ज्ञातीनां तु कुले भिक्षुर्न भिक्षेत् कथंचन।
आचरेत यदा भिक्षां तदा चान्द्रायणं चरेत् ॥

अर्थ=अपने कुल में भी सूतिका रहने पर किसी प्रकार यदि भिक्षा ले लेता है तो उसे चान्द्रायण व्रत करना चाहिये।

प्राणायामशतं कुर्याद् भुक्त्वा शूद्रान्नमापदि।
सगोत्रमसगोत्रं वा यद्गृहे सूतकम् भवेत् ॥

अर्थ=शूद्र के यहां, सगोत्री अथवा अगोत्री के घर में जहाँ सूतक हो, यदि आपत्ति काल में भिक्षा ली जाती है तो उसे १०० बार प्राणायाम करना चाहिये।

यति को भिक्षा कराने का फल निर्णय—

यतिर्यस्यगृहे भुङ्क्ते तस्यभुङ्क्ते स्वयं हरिः।
हरिर्यस्यगृहेभुङ्क्ते तस्य भुङ्क्ते जगत्रयम् ॥

अर्थ=जिसके घर में संन्यासी भोजन करता है उसके यहाँ साक्षात् भगवान् भोजन करते हैं, तथा हरि जिस घर में भोजन करते हैं वहाँ तीनों लोक भोजन करता है।

यति हस्ते जलं दद्याद् भिक्षांदद्यात्पुनर्जलम्
भैक्ष्यं पर्वतमात्रं स्यात्तज्जलं सागरोपमम् ॥

अर्थ=संन्यासी के हाथ में जल दे और भिक्षा दे तथा पुनः जल दे। यह भिक्षा पर्वत के समान और वह जल समुद्र के तुल्य है।

भगवान् के दो रूप यति व प्रतिमा—ग्राम में निवास तथा संन्यासी आदि को दान का फल निर्णय—

द्वे रूपेवासुदेवस्य चलं चाचलमेव च।
चलं संन्यासिनोरूपमचलं प्रतिमादिकम् ॥

अर्थ=वासुदेव के दो रूप बताये गये हैं चल और अचल। चल संन्यासी का स्वरूप है तथा अचल स्वरूप प्रतिमावों का कहा गया है। संन्यासी का स्वरूप ईश्वर तुल्य कहा गया है।

एकरात्रं वसेद् ग्रामे नगरे पञ्चरात्रकम्।
वर्षाभ्योऽन्यत्रवर्षासु मासांश्च चतुरो वसेत् ॥ (धर्म सिन्धुः)

अर्थ=वर्षा काल से भिन्न काल में संन्यासी गाँव में एक रात और शहर में पाँच रात निवास करे। वर्षा काल में तो चार मास एक ही स्थान में रहे। या चार पक्ष रहे एक स्थान में।

बासोवहूनां कलहो भवेद्वार्ता द्वयोरपि।
एकाकी विचरेद्विद्वान् कुमार्या इव कङ्कणः। (श्रीमद्भागवते)

अर्थ=बहुत में कलह, दो में वार्ता इससे विद्वान को अकेला ही विचरना चाहिये जैसा कुमारी के हाथ का कंकण।

अत्रि स्मृति में लिखा है कि:—

वटौ तु समदत्तं स्याद्गृहस्थे द्विगुणं स्मृतम्।
वानप्रस्थे शतगुणं यतौ दत्तमनन्तकम् ॥

अर्थ=ब्रह्मचारी को दान देने से बराबर गृहस्थ को दुगुना वानप्रस्थी को सौगुना तथा संन्यासी को दिया हुवा अनन्त रूप में प्राप्त होता है।

शिखासूत्र परित्यागी वेदान्तश्रवणं विना।
विद्यमानेऽपिसंन्यासे पतत्येव न संशयः ॥

अर्थ=शिखा सूत्र से रहित, वेदान्त का मनन चिन्तन न करने वाला, संन्यास के रहने पर भी वह पतित होता ही है इसमें कोई सन्देह नहीं है।

संन्यासाधिकारमाह—

ब्रह्मचारी गृहस्थो वा वानप्रस्थोऽपिवा पुनः।
विरक्तः सर्वकामेभ्यः पारिव्राज्यं समाहितः ॥

अर्थ=ब्रह्मचारी, गृहस्थी, वानप्रस्थी, अथवा, विरक्त हो उसे सभी कार्यों से विमुक्त होकर संन्यास ग्रहण कर लेना चाहिये।

हारीत संहिता में लिखा है किः—

यति को देख कर जो प्रणाम करता व नहीं करता एवं निन्दा करता है इन का फल निर्णय—

अष्टाक्षरेणमन्त्रेण यतयस्तु नमस्कृताः ।
स्मृतनारायण घ्नन्ति प्राणिनां पापपञ्जरम् ॥

अर्थ=अष्टाक्षर (ॐ नमो नारायणाय) से जो संन्यासी (दण्डी) को प्रणाम करता है उसके स्मरण मात्र से ही सम्पूर्ण पापों का पुञ्ज नष्ट हो जाता है । (स्त्रीशूद्रादि को नमो नारायणाय कहना चाहिये) और साधुभेष को देखकर आसन से उठ जाना ही प्रणाम हो जाता है दण्डी संन्यासी की पूजाषोडश प्रकार से लिखी है अन्य की नहीं ।

यत्र कुत्रापि यतिनं दृष्ट्वा यो दण्डवद्भुवि ।
न नमोदिति कायेन कल्पान्ते रौरवादयः ॥

अर्थ=जहां कहीं भी संन्यासी (दण्डी) को देखकर जो दण्डवत् हो कर प्रणाम नहीं करता वह कल्पों तक रौरव नरक में रहता है ।

जावाल जी ने लिखा किः—

आसनं शयनं यानं यतिं दृष्ट्वा न यस्त्यजेत् ।
समृतोऽपिहि दुष्टात्मा श्वयोनावेव जायते ॥

अर्थ=संन्यासी (दण्डी) को देख कर जो आसन, शयन तथा सवारी का त्याग नहीं कर देता वह दुष्टात्मा अन्त में कुत्ते की ही योनि में जन्म लेता है । और निचे आसन पर बैठना एवं सोना चाहिये सामने नहीं तो दोष होता है ।

दुर्वृत्ते वा सुवृत्ते वा यतौ निन्दां न कारयेत् ।
यतीन्वै दुषमाणस्तु नरकं याति दारुणम् ॥

अर्थ=संन्यासियों के सद्गुण अथवा दुर्गुण की निन्दा न करनी चाहिये । जो व्यक्ति निन्दा करता है वह घोर नरक में जाने का अधिकारी है ।

यति का द्रव्य लेने वाले को फल व पाञ्च प्रकार की भिक्षाओं का निर्णय—

यति हस्तगतं द्रव्यं गृह्णीयाज्ज्ञानतो यदि ।
अधः स नयते मूढः कुलानामेक विंशतिम् ॥

अर्थ=संन्यासी के हाथ में गये हुये द्रव्य को यदि व्यक्ति ज्ञान से भी ग्रहण करता है तो वह मूढ अपने इक्कीस कुल (पीढियों) को नरक में ले जाने वाला होता हैं सेवक प्रसाद का अधिकारी है ।

माधूकरमसंक्लृप्तं प्राक्प्रणीतमयाचितम् ।
तात्कालिकं चोपपन्नं भैक्षपञ्च विधस्मृतम् ॥

अर्थ=संन्यासियों के लिये मधुकरी (तीन, पांच, सात, घर की) संगृहीत (कच्चा अन्न का संग्रह) पहले से निमन्त्रित, विना मांगे (अपने आप कोई लेकर आ जाय) तथा तात्कालिक (एकाएक कोई बुलाने आजाय भिक्षा के लिये) इन पांच प्रकार की भिक्षावों का विधान है ।

ब्रह्मक्षत्रियवैश्यानां मेध्यानां भैक्षमाचरेत् ।
द्विजाभावे तु संप्राप्ते उपवास त्रये गते ॥

अर्थ=बुद्धिमान् ब्राह्मण, क्षत्रिय, तथा वैश्य के घर में भिक्षा करनी चाहिये। ब्राह्मण के अभाव में तीन दिन के उपवास के बाद ही। (सदाचारी के घर में पक्वान्न की भिक्षा पूड़ी आदि ले ले वंय)

फलं शूद्रादपि ग्राह्यं प्राणं रक्षेत्सदायतिः ।
यावदुदर पूर्तिः स्यात्तावद् भैक्ष समाचरेत् ॥

अर्थ=संन्यासी अपने प्राण के रक्षा के लिये शूद्र के घर का फल ग्रहण कर सकता है जब तक उदरपूर्ति न हो तब तक उसे फल कि भिक्षा करनी चाहिये।

पिता मातादिमरण स्त्री पशु आदि प्रसूतिका और अशौच निर्णय —

पितुरब्दं तुया शौचं तदर्धमातृपुत्रयोः ।
सपिण्डानान्तु सर्वेषां मासमेकं विवर्जयेत् ॥

अर्थ=पिता के मरने पर एक वर्ष का अशौच, माता के मरने पर भी वही एक वर्ष का अशौच, पुत्र और मयभा माता के मरने पर उसका आधा (छः महीना) तथा अन्य सपिण्डियों का एक मास का अशौच माना गया है। अतः वहां भिक्षा न करे (पशु के मरण में भी एक रात्र का अशौच)

मासत्रयंतु भार्याया मासैक्यं पुत्र जन्मनि ।
चत्वारिंशद्दिनं त्याज्यं कन्या जन्म हि यद्गृहे ॥

अर्थ=तीन माह तक स्त्री का अशौच, एक माह तक पुत्र के जन्म में तथा जिस घर में कन्या का जन्म हुवा हो उस घर में चालिस दिन तक भिक्षा लेना वर्जित है।

महिषी गौश्चमार्जारी शुनीवाजा प्रसूतिका ।
दशरात्रं न गृह्णीयाद्भिक्षा तस्य गृहेयतिः ॥

अर्थ=संन्यासी को चाहिये कि वह, भैंस, गौ, बिल्ली, कुतिया, घोड़ी आदि की प्रसूतिका जिसके घर में हो वहां दश रात्र तक भिक्षा ग्रहण न करे।

दृष्टचन्नन्नैवभोक्तव्यं संस्कारान्नं तथैव च ।
भिक्षा तत्र न कर्तव्या यत्र क्षौरविधिर्गृहे ॥

अर्थ=संन्यासी को देवतावों के हेतु निकला तथा संस्कारित संकल्पित अशुद्ध अन्न का भक्षण नहीं करना चाहिये तथा जिसके घर में कोई व्यक्ति क्षौर कर्म (बाल बनवा ले या अपने हाथ बनाये) है वहां भिक्षा न करे।

श्राद्धान्नं नैव गृह्णीयाद्यदिभक्षणमागतम् ।
कुक्षौ स्थितं यावदन्नंतावत्प्रेतत्वमाप्नुयात् ॥

अर्थ=भिक्षा में आये हुवे श्राद्धान्न का भक्षण न करे यदि करता है तो जब तक वह

अन्न पेट में रहता है तब तक वह प्रेतत्व को प्राप्त होता है। तथा जिसके यहाँ श्राद्ध कर्म हो उस दिन उस घर में संन्यासी को भिक्षा नहीं लेनी चाहिये।

यति सन्ध्या कमण्डलु पूजा दण्ड तर्पणादि विधि—

कमण्डलुपूजामन्त्र— ॐ कमण्डलुमहातीर्थं त्रिवेणी सङ्गमप्रभम्।
सर्वदाशुचितत्तोयं ब्रह्मरूपेण संस्थितम्॥

अर्थ=यह कमण्डलु पूजा का मन्त्र है—कमण्डलु में सभी तीर्थ निवास करते हैं कमण्डलु जल की महत्ता त्रिवेणी संगम जल के तुल्य ही है तथा यह ब्रह्म स्वरूप सर्वदा पवित्र रहता है।

जले अग्निः करे अग्निः ब्रह्माग्निस्तथैव च।
अग्नित्रयसमायोगाच्छुद्धोभव कमण्डलो॥

अर्थ=कमण्डलु के जल में ही अग्नि हाथ में अग्नि तथा ब्रह्माग्नि इन तीनों के संयोग से हे कमण्डलो। तुम पवित्र हो जावो।

दण्ड तर्पण मन्त्र :—

दण्डमूलं प्रणवेन द्वादशवारं तर्पयेत्।
पुनः मध्ये अग्रे च प्रति ग्रन्थिषु त्रिवारं एवं प्रतिपर्वषुमध्येद्विवारं॥
सुरास्तिष्ठन्ति दण्डाग्रेदण्ड मूलेतु पूर्वजाः।
प्रतिग्रन्थिषुगन्धर्वाः मध्ये तिष्ठन्ति मानवाः।
ते सर्वे तृप्तिमायान्तु दण्ड सम्बन्धिवारिणा॥
दण्डमूलेन जलं नवांकेनालोड्य द्वादश चक्रं कृत्वापादौप्रोक्ष्य।
दण्डाग्रेण सप्ताङ्केनालोड्य द्वादश चक्रं कृत्वा शिरसि प्रोक्षयेत्॥
दिग्वन्दनम्—प्रत्येक दिशावों को प्रणाम करना चाहिये।
दण्डपतनग्रहण मन्त्रः—उत्तिष्ठोत्तिष्ठ भगवन् नारायण जगत्पत।
दण्डरूपिन्महाविष्णोप्रसीद पुरुषोत्तम॥
मातृ पितृ समो दण्डो भ्रातरोगुरवस्तथा।
पथिसाधन हेतुश्च ब्रह्ममुद्रे नमोस्तुते।
विष्णु हस्तेयथा चक्रं शूलं शिवकरेयथा।
इन्द्रहस्तेयथावज्रं तथा दण्डभवाद्य मे॥
उत्तिष्ठोत्तिष्ठ देवेशदेवानां हित काम्यया।
देवस्यारि विनाशाय सदाममकरेभव॥

अर्थ=दण्ड यदि पृथ्वी पर गिर जाय तो उस के उठाने के प्रायश्चित स्वरूप उपरोक्त मंत्र पढ कर उसे उठा लेना चाहिये।

माता, पिता, भाई, गुरू के समान रक्षा करने वाला, मार्ग में चलने का साधन के स्वरूप जो दण्ड है उसे मैं नमस्कार करता हूं। विष्णु के हाथ में जिस प्रकार चक्र, शिव के हाथ में त्रिशूल, इन्द्र के हाथ में वज्र उसी प्रकार यह दण्ड मेरे हाथ में हो।

दण्ड उठाने का मन्त्र —

देवतावों के समान हित की कामना करने वाले हे दण्ड आप उठें तथा मेरी रक्षा करें और मेरे हाथ में स्थित हों।

आत्म सिद्ध—

षडङ्गयोगान्नतु नैव शुद्धं मनोविनाशान्नतु नैव शुद्धम्।
गुरूपदेशान्नतु नैव शुद्धं स्वयं च तत्त्वंस्वयमेव शुद्धम्॥
अनात्मरूपं च कथंसमाधिरात्मस्वरूपं च कथं समाधिः।
अस्तीति नास्तीति कथं समाधिः मोक्षस्वरूपं यदि सर्वमेकम्॥
आत्मवत्सर्वभूतानि पश्यन् भिक्षुश्चरेन्महीम्।
अन्धवत्कुब्जवच्चैव वधिरोन्मत्तमूकवत्॥

अर्थ=आत्मा स्वयं शुद्ध स्वरूप है वह छ योगों से भी शुद्ध नहीं हो सकता मन से भी शुद्ध नहीं किया जा सकता, गुरु के उपदेश से भी शुद्ध नहीं होती क्योंकि वह स्वयं शुद्ध है। जो अनात्मस्वरूप है उसमें भी समाधि नहीं हो सकती, जो आत्मस्वरूप है उसमें भी समाधि नहीं तथा जो "है" य "नहीं है" इस प्रकार का विषय है उस में भी समाधि नहीं वन सकती क्यों कि वह मोक्ष स्वरूप तथा एक ही है। भिक्षु यति को चाहिये कि वह अपनी आत्मा सम्पूर्ण प्राणियों में देखता हुवा अदृष्ट दर्शन में अन्धे की तरह, सर में लगने के भय से कुवड़े की तरह, कुवाच्यों को सुनने में वहिरे की तरह, भयावह स्थितियों में पागल की तरह, वाद विवाद के अवसर पर गूंगे की तरह कार्य करता हुवा पृथ्वी पर भ्रमण करे।

यति—विना प्रश्न किये व अनुचित प्रश्न पर भी न बोले उचित पर उत्तर दे।

नापृष्टः कस्यचिन्ब्रूयान्नचान्याये न पृच्छतः।
जानन्नपि च मेधावी जड़वल्लोक माचरेत्॥

अर्थ=विना प्रश्न किये (संन्यासी) किसी से न बोले, अन्याय (कटाक्ष) से पूछे गये प्रश्न का भी उत्तर जानता हुवा भी बुद्धिमान् व्यक्ति जड़ की तरह संसार में व्यवहार करे उचित प्रश्न का उत्तर दे।

योगियों के कुटुम्बी—

धर्मो यस्यपिताक्षमा च जननी शन्तिश्चिरं गेहिनी।
सत्यंसूनुरयंदया च भगिनी भ्रातामनः संयमः॥
एते यस्य कुटुम्बिनो वद सखे कस्माद् भयंयोगिनः॥ इति।

अर्थ=योगियों के कुटुम्वी निम्न हैं, धर्म ही उनका पिता क्षमा माता है, शान्ति ही स्त्री है, सत्य ही पुत्र है, दया वहिन, संयम नियम ही भाई है इतने परिवार के सदस्य जिस योगी के शरीर के साथ हैं उसे किस प्रकार का भय हो सकता है। अर्थात् उसे कभी भी भय किसी से नहीं रहेगा।

कलि में संन्यास का अवधि निर्णय—

यावद्वर्णविभागोऽस्ति यावद्वेदः प्रवर्तते।
संन्यासं चाग्निहोत्रं च तावत्कुर्यात्कलौयुगे॥ इति। (धर्म सिन्धुः)

अर्थ=जब तक वर्ण विभाग और जव तक वेद माना जाता है, तव तक संन्यास और अग्नि होत्र को कलियुग में करे।

यतिशरीरपूर्ण क्रिया का फल निर्णय—

यतिसंस्कारकरणे ऽश्वमेधसहस्रादिफलम्।
असंस्कृतं विशीर्येत यतेर्यत्र कलेवरम्॥
धर्मोलोपो भवेत्तत्र दुर्भिक्षंमरणं तथा।
दिवंगते गुरौ शिष्य उपवासं तदा चरेत्॥
नस्नानमाचरेद्भिक्षुः पुत्रादि निधने श्रुते।
पितृमातृक्षयं श्रुत्वा स्नानाच्छुद्धयति साम्बरात्॥

अर्थ=संन्यासी के संस्कार करने में हजार अश्व मेध यज्ञ करने का फल होता है। विना संस्कार किये संन्यासी का शरीर पड़ा जहाँ नष्ट हो जाय वहाँ धर्म का लोप दुर्भिक्ष एवं मरण होता है। गुरु के मरणे पर शिष्य उपवास करे। संन्यासी अपने पुत्र आदि का मरण सुन कर स्नान न करे। पिता माता का मरण सुन कर संन्यासी वस्त्र सहित स्नान कर के शुद्ध होता है।

• ३०—तीसवाँ यतिधर्म प्रकरण समाप्त •

आत्मतत्त्व प्रकरणम्

मैं कौन हूं ऐसा विचार—

'मैं कौन हूं, सर्वत्र दृश्यमान स्थूल प्रपञ्च से मेरा कोई प्रभेद है या नहीं, मेरी सत्ता पञ्चभूत विकारमय संसार के नाश के साथ ही नष्ट हो जाएगी अथवा इससे अतिरिक्त कोई अविनाशी भाव क्षण भंगुर विश्व के वीच में सदा ही विद्यमान रहेगा।

याज्ञवल्क्य जी ने कहा है किः—

इज्याचारदमाहिंसादानस्वाध्यायकर्मणाम्।
अयन्तु परमो धर्मो यद्योगेनात्म दर्शनम्॥

अर्थ=याग यज्ञ, आचार, दम; अहिंसा, दान, स्वाध्याय आदि धर्म कर्मों में से योग द्वारा आत्मदर्शन करना ही परम धर्म कार्य है।

सामवेदीय तलवकारोपनिषद् में लिखा है किः—

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति नो चेदिहावेदीन्महतिविनष्टिः।
भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः प्रेत्यास्माँल्लोकादमृता भवन्ति॥

अर्थ=यदि इस संसार में आकर आत्मा का साक्षात्कार लाभ हुवा तभी मनुष्य जन्म सार्थक है; अन्यथा जीव को जनन मरण चक्र में बहुत ही कष्ट उठाना पड़ेगा। इसलिये

धीर योगिगण सर्वत्र आत्मा की अद्वितीय सत्ता को उपलब्ध करके दृश्य प्रपञ्च से अतीत होकर अमृतत्व लाभ करते हैं।

श्री भगवान् शंकराचार्य ने कहा है कि :—

लब्ध्वाकथञ्चिन्नरजन्म दुर्लभं तत्रापिपुंस्त्वं श्रुतिपारदर्शनम्।
यः स्वात्ममुक्त्यै न यतेत मूढधीः स आत्महा स्वं विनिहन्त्यसद् ग्रहात्॥

अर्थ=अनेक कष्ट से दुर्लभ मनुष्य जन्म और उसमें भी पुरुष शरीर तथा वेद विद्या को प्राप्त करके जो मूढ बुद्धि मानव आत्मा के उद्धार के लिये प्रयत्न नहीं करता है वह आत्मघाती है।

नीतिशास्त्रकारों ने भी कहा है कि :—

त्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्॥

अर्थ=कुल की रक्षा के लिये एक को, ग्राम के लिये कुल को, देश के लिये ग्राम को और आत्मा के लिये पृथ्वी को त्याग करें।

क्योंकि श्रुति में कहा है कि :—

'तदे तत् प्रेयः पुत्रात्प्रेयो वित्तात्प्रेयोऽन्यस्मात्सर्वस्मादन्तरतरोयदयमात्मा'।

अर्थ=हृदय विहारी आत्मा पुत्र, धन, जन और संसार के समस्त वस्तुवों से प्रिय है।

श्रुति में कहा है कि :—

"नवा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियंभवति।"

अर्थ=सबके लिये सब प्रिय नहीं होता है; परन्तु आत्मा के लिये ही सब प्रिय होता है। विषय में प्रीति आत्मा के लिये ही होती है। यदि आत्मा न होता तो किसके लिये विषय में प्रीति होती ? इष्ट साधनता ज्ञान ही प्रवृत्ति का हेतु है। इससे मेरी इष्ट सिद्धि होगी, इस प्रकार ज्ञान न होने से किसी की किसी विषय में प्रवृत्ति नहीं होती है। इस ज्ञान में 'मेरी इष्ट सिद्धि' इस बात के द्वारा आत्मा का अस्तित्व प्रतिपन्न हो रहा है। आत्मा है।

वेद में परमात्मा को सत्, चित् और आनन्द रूप कहा गया है। तथा :—

"सच्चिदानन्दमयंपरं ब्रह्म"
"सर्वपूर्णस्वरूपोऽस्मि सच्चिदानन्दलक्षणः"

अर्थ=पर ब्रह्म सत्, चित् और आनन्दमय है। सत्, चित् और आनन्द लक्षण परमात्मा सर्वतः पूर्ण स्वरूप है।

कठोपनिषद् में लिखा है कि :—

न तत्र सूर्योभाति न चन्द्र तारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्त मनुभाति सर्वं तस्यभासा सर्वमिदं विभाति॥

अर्थ=परमात्मा के स्वरूप प्रकाश के लिये वहाँ पर सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र या विद्युत

किसी की ज्योति नहीं है, प्रत्युत उन्हीं की ज्योति के द्वारा सूर्य, चन्द्र आदि में ज्योति आती है और उसी से संसार आलोकित होता है।

श्रुति में कहा है कि :—

"स यथा सैन्धवघनो अनन्तरोऽबाह्या: कृत्स्नो: रसघन एवैवं वा अरे अयमात्मा अनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव।"

अर्थ=जिस प्रकार सैन्धवखण्ड भीतर बाहर सर्वत्र ही लवणमय है उसी प्रकार आत्मा भी भीतर बाहर सर्वत्र ज्ञानमय है। उसी की चित्सत्ता का आध्यात्मिक विलास ज्ञान रूप से वेद के द्वारा अधिदैव विलास शक्ति रूप से सूर्यात्मा के द्वारा और अधिभूत विलास स्थूल ज्योति रूप से सूर्य्यगोलक अग्नि तथा अन्यान्य ज्योतिष्क गण के द्वारा दृश्य संसार में विलसित है।

वृहदारण्यकोपनिषद् में लिखा है कि :—

अस्तमित आदित्ये याज्ञवल्क्य चन्द्रमस्यस्त मिते।
सान्तेऽग्नौ सान्तायां वार्पिकिं ज्योतिरेवायं पुरुष इत्यात्मैवास्य ज्योतिर्भव-तीत्यात्मनैवायं ज्योतिषाऽऽस्ते
पाल्ययते कर्म कुरुते विपल्ये तीति।

अर्थ=सूर्य और चन्द्र के अस्त हो जाने पर अग्नि की ज्योति से कार्य्य हो सकता है। अग्नि के भी शान्त हो जाने पर वाक्य की ज्योति से दिङ् निर्णय हो सकता है। परन्तु गम्भीर रजनी में स्वप्न दर्शन के समय सूर्य, चन्द्र, अग्नि अथवा किसी की भी ज्योति न होने पर जीव जो इस देश से उस देश में जाता रहता है और विचित्र स्वप्न-नगरी की शोभा को देखता रहता है, उसमें केवल हृदय गुहा में भासमान आत्मा की ही ज्योति कार्य कारिणी होती है, अन्य कोई भी ज्योति नहीं। अतः जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति दशा में आत्मज्योति ही सर्वथा जीवका एकमात्र अवलम्बन है, इसमें सन्देह नहीं। श्री भगवान् की यही स्वयं प्रकाश गुणातीत तथा देश काल और वस्तु के द्वारा अपरिच्छिन्नसत्, चित् और आनन्दसत्ता अघटन घटना पटीयसी त्रिगुणमयी माया के द्वारा विविध परिच्छिन्न और परिणामी रूप में समस्त दृश्य संसार में परिव्याप्त है। उनकी अद्वितीय सत्सत्ता ही माया के द्वारा नाना जीव सत्ता तथा जगत्सत्ता रूप में भासमान है।

"यथोर्णनाभिस्तन्तुनोच्चरेद् यथाग्नेः क्षुद्राः विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्त्येवमेवास्मादात्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति।"

अर्थ=जिस प्रकार ऊर्णनाभ (मकड़ी) से तन्तु निकलती है या अग्नि से स्फुलिंग निकलता है उसी प्रकार परमात्मा से समस्त प्राण, समस्त लोक, समस्त देवता और समस्त भूतगण उत्पन्न हुये हैं। इस प्रकार परमात्मा से स्वाभाविक रूप से समस्त सृष्टि केवल विकसित ही नहीं होती है अधिकन्तु उन्हीं में सबकी स्थिति और सबका लय होता है।

यथा तैत्तिरीय उपनिषद् में लिखा है कि :—

"यतो वा इमानिभूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति।"

अर्थ =परमात्मा से ही समस्त भूतों की उत्पत्ति होती है, परमात्मा के द्वारा ही परमात्मा में समस्त भूतों की स्थिति रहती है और परमात्मा में ही समस्त भूत लय हो जाते हैं।

और भी छान्दोग्योपनिषद् में लिखा है :—

"सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानीति शान्त उपासीत"

अर्थ =समस्त संसार ब्रह्ममय है और ब्रह्म में ही निखिल जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय हुवा करती है इसलिये ब्रह्म की ही उपासना करनी चाहिये। इस श्रुति में तज्जलान्, शब्द का अर्थ तज्ज, तल्ल और तदन् है अर्थात् उन्हीं से जगत् की उत्पत्ति, उन्हीं में जगत् की स्थिति और उन्हीं में समस्त संसार लय को प्राप्त होता है। यही माया के प्रभाव से सच्चिदानन्द मय परमात्मा में विश्वस्थिति का विराट् रहस्य है। जिस माया के प्रभाव से एकरस, अद्वितीय परमात्मा में निखिल प्रपञ्च का विस्तार होता है, वह माया क्या परमात्मा से पृथक् वस्तु है ? नहीं। वही विश्वप्रसावनी प्रकृति उन्हीं की शक्ति के रूप से उन्हीं से उत्पन्न होती है।

मुण्डकोपनिषद् में लिखा है कि :—

बृहच्च तद्दिव्यमचिन्त्यरूपं सूक्ष्माच्च तत् सूक्ष्मतरं विभाति।
दूरात्सुदूरे तदिहान्तिके च पश्यत्स्विहैव निहितं गुहायाम् ॥

अर्थ =परमात्मा वृहत्, दिव्यरूप तथा मन-बुद्धि के अगोचर हैं और अन्य पक्ष में सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर हैं। परमात्मा दूर से भी दूर है और अत्यन्त समीपवर्त्ती होकर हृदय गुहामे प्रच्छन्न भी रहते हैं जिनको अन्तर्दृष्टि परायण महात्मागण देख सकते हैं।

यथा पुरुषसूक्त में :—

"पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि"

अर्थ =परमात्मा के एक पाद में समस्त विश्व स्थित है और तीन पाद सृष्टि से अतीत और अमृत है।

अथ महावाक्य-विवेक :—

'प्रज्ञानं ब्रह्म' (ऐतरेयोपनिषद् ५-१); "अहं ब्रह्मास्मि" (वृ० १-४-१०)

'तत्त्वमसि' (छा० ६-८-७) 'अयमात्मा ब्रह्म' (वृ० २-५-१९) ये चार महावाक्य हैं। मुमुक्षु को मोक्ष के साधन ब्रह्मात्मैकता का ज्ञान इनसे ही होता है।

'प्रज्ञान' पद का अर्थ—

येनेक्षते शृणोतीदं जिघ्रति व्याकरोति च।
स्वाद्वस्वादु विजानाति तत्प्रज्ञानमुदीरितम् ॥

अर्थ =यह पुरुष, चक्षु द्वारा बाहर निकली अन्तः करण की वृत्ति से युक्त जिस चैतन्य से दर्शनयोग्य रूप आदि को देखता है; श्रोत्र द्वारा निकली अन्तःकरण की वृत्ति सहित जिस चैतन्य से शब्दों को सुनता है; नासिका द्वारा निर्गत अन्तःकरण की उपाधि सहित जिस चैतन्य से गन्धों को सूंघता है; वागिन्द्रिय से युक्त जिस चैतन्य से शब्दों का उच्चारण करता

है; रसना इन्द्रिय द्वारा निर्गत अन्तःकरण वृत्ति रूप उपाधि वाले जिस चैतन्य से स्वादु-अस्वादु दोनों प्रकार के रसों को चखता है; च-अर्थात् उक्तानुक्त सभी इन्द्रियों और अन्तःकरण की वृत्तियों से उपलक्षित जो चैतन्य है—वही यहाँ 'प्रज्ञान' शब्द से अभिधेय है।

ब्रह्म पद का अर्थ—

चतुर्मुखेन्द्रदेवेषु मनुष्याश्वगवादिषु।
चैतन्यमेकं ब्रह्मातः प्रज्ञानं ब्रह्म मय्यपि॥

अर्थ=ब्रह्मा, इन्द्र और देव आदि उत्तम, अधम मनुष्य, नीच गाय, घोड़ा आदि, सब देहधारियों और आकाश आदि भूत पदार्थों में जो जगत् के जन्म स्थिति और प्रलय का कारण भूत एक चैतन्य है, वह ब्रह्म है। इससे "एष ब्रह्म एष इन्द्रः" से लेकर "प्रज्ञा प्रतिष्ठिता' तक आत्मा के स्वरूप बतलाने वाले वाक्यों का अर्थ 'प्रज्ञानं ब्रह्म' इस सम्पूर्ण वाक्य का अर्थ बतलाते हैं सर्वत्र अवस्थित रहने वाला 'प्रज्ञान' ही 'ब्रह्म' है, इसलिये मुझमें भी जो 'प्रज्ञान' है वह भी 'ब्रह्म' है; क्योंकि मेरे और उनके 'प्रज्ञान' की प्रज्ञानता में कोई अन्तर नहीं है।

अहं ब्रह्मास्मि के 'अहं' पद का अर्थ—

परिपूर्णः परात्माऽस्मिन्देहे विद्याधिकारिणि।
बुद्धेः साक्षितया स्थित्वा स्फुरन्नहमितीर्यते॥

अर्थ=स्वभावतः देश, काल और वस्तु से अपरिच्छिन्न—परिपूर्ण परमात्मा, इस माया कल्पित जगत् में; शमादि साधनों से सम्पन्न होने से ब्रह्मविद्या को पाने की योग्यता वाले, श्रवण-मननाद्यनुष्ठान वाले इस मनुष्यादि देह में बुद्धि अर्थात् सूक्ष्म शरीर का साक्षी अर्थात् अविकारी अतएव अवभासक रूप में स्थित हो प्रकाशित होता हुवा लक्षणा से 'अहं' पद का लक्ष्य वनता है।

स्वतः पूर्णः परात्माऽत्र ब्रह्मशब्देन वर्णितः।
अस्मीत्यैक्यपरामर्शस्तेन ब्रह्म भवाम्यहम्॥

अर्थ=स्वतः परिपूर्ण अर्थात स्वभाव से देश-काल-वस्तु से अपरिछिन्न परमात्मा ही यहाँ–'अहं ब्रह्मास्मि' वाक्य में—ब्रह्म शब्द का लक्षणा से वाच्य है। और इस वाक्य में जो "अस्मि" पद है वह "अहं" और 'ब्रह्म' इन दोनों पदों को समानाधिकरण (एकार्थवाची) बतलाता है अतएव जीव और ब्रह्म दोनों की एकता का वोधक होता है। इस प्रकार इस वाक्य का सारांश यह है कि 'मैं ब्रह्म हूँ'।

सामवेद की छान्दोग्योपनिषद् के 'तत्त्वमसि' महावाक्य के 'तत्' पद का लक्ष्य अर्थ वतलाते हैं :—

एकमेवाद्वितीयं सन्नामरूपविवर्जितम्।
सृष्टेः पुराऽधुनाप्यस्य तादृक्त्वं तदितीर्यते॥

अर्थ=पहले स्वगतादि भेद रहित, नामरूपरहित जिस 'सत्' वस्तु का प्रतिपादन किया है, अव सृष्टि के पश्चात् भी, वह सद्वस्तु 'वैसी की वैसी ही है' यह वात विचार से ठीक प्रतीत होती है। 'तत्' शब्द उसी अविकृत सद्वस्तु की ओर निर्देश कर रहा है।

त्वंपद का अर्थ और वाक्य का अभिप्राय—

श्रोतुर्देहेन्द्रियातीतं वस्त्वत्र त्वंपदेरितम् ।
एकता ग्राह्यतेऽसीति तदैक्यमनुभूयताम् ।।

अर्थ=श्रवण आदि के अनुष्ठान से महावाक्य के अर्थ का निश्चय करने वाला श्रोता कहलाता है। उसके देह इन्द्रिय आदि स्थूल सूक्ष्म और कारण रूप तीन शरीरों से भिन्न उनकी साक्षीभूत जो सद्वस्तु है, इस महावाक्य के 'त्वत्' पद से वही अभिप्रेत है। इस वाक्यगत 'असि' पद से शिष्य को यह बोध होता है कि क्योंकि 'तत् त्वं' ये दोनों पद समानाधिकरण हैं अतएव ब्रह्म और आत्मा एक ही अर्थ के बोधक हैं।

'अयमात्मा ब्रह्म' के 'अयम्—और 'आत्मा' पदों का अर्थ—

स्वप्रकाशापरोक्षत्वमयमित्युक्तितो मतम् ।
अहंकारादिदेहान्तात्प्रत्यगात्मेति गीयते ।।

अर्थ=अथर्ववेद की माण्डूक्योपनिषद् के अन्तर्गत 'अयमात्मा ब्रह्म'(यह आत्मा ब्रह्म है) इस महावाक्य की व्याख्या करते हुये 'अयम्' और 'आत्मा' पदों के अर्थ क्रमशः स्पष्ट करते हैं :—'अयं' इस शब्द से साक्षी आत्मा की, स्वप्रकाश होने से, अपरोक्षता कही गयी है। अर्थात् यह तत्व (अदृष्ट धर्माधर्म) की न्याईं सदा परोक्ष भी नहीं है और घटादि की न्याईं दृश्य (पर प्रकाश तथा अपरोक्ष) भी नहीं है।

जो चेतन तत्त्व अहंकार से लेकर देह पर्यन्त संघात (अहंकार, प्राण, मन, इन्द्रिय और देहरूप संघात) से पृथक् अर्थात् उक्त संघात का अधिष्ठान एवं साक्षी अन्तरात्मा है, उसको इस महावाक्य में 'आत्मा' कहा गया है।

'ब्रह्म' पद का अर्थ और एकता रूप वाक्यार्थ—

दृश्यमानस्य सर्वस्य जगतस्तत्त्वमीर्यते ।
ब्रह्मशब्देन तद्ब्रह्म स्वप्रकाशात्मरूपकम् ।।

अर्थ=दृश्यमान अर्थात् दृश्य होने से मिथ्याभूत आकाशादि सकल जगत् का जो अधिष्ठान है एवं इस जगत् का बाध हो जाने पर भी जो शेष रह जाता है वह पारमार्थिक (वास्तविक) सच्चिदानन्दरूप तत्त्व ही 'ब्रह्म' शब्द का अर्थ है।

इस प्रकार इस महावाक्य का अर्थ यह हुवा कि उक्त लक्षण वाला ब्रह्म स्वप्रकाशात्म स्वरूप है जो मनुष्य का स्वयं प्रकाश आत्मा है, वही ब्रह्म है तथा जो ब्रह्म है। वह मनुष्य का यह स्वयं प्रकाश आत्मा ही है; इस आत्मा से भिन्न किसी को ब्रह्म नहीं समझना चाहिये।

मुमुक्षुजनों को चाहिये कि वे इन चार महावाक्यों के ब्रह्मात्मा के एकतारूप अर्थ को वेदान्त शास्त्र द्वारा तथा ब्रह्मनिष्ठ गुरु से जान और सुन कर, वाच्य एवं लक्ष्यार्थ के विचार द्वारा पदार्थ का शोधन कर, उसकी यथार्थता जानकर, श्रवण-मननादि से संशय-विपर्यय का निवारण करते हुये, दृढ-अपरोक्ष निष्ठा से अज्ञान तथा उसके कार्यरूप अनर्थ की निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्तिरूप जीवन्मुक्ति और विदेह मक्ति को अनुभव करें।

सगुण ब्रह्म ईश्वर के वेद शास्त्र सम्मत कुछ भावों का वर्णन किया जाता है। वेद में ईश्वर को अनन्त विश्व का सृष्टि स्थिति प्रलय कर्ता माना गया है।

"जन्माद्यस्य यतः"

अर्थ=इस सूत्र के द्वारा वेदान्त दर्शन ने भी समस्त संसार का जन्म स्थिति प्रलय ईश्वर से ही प्रमाणित किया है। जड़ माया ईश्वर की चेतन शक्ति के द्वारा ही चेतनता और क्रियाशीलता को पाकर समस्त विश्व संसार को प्रसव कर सकती है। ईश्वर की अनन्त शक्ति तीन भागों में विभक्त होकर अनन्त विश्व की उत्पत्ति स्थिति प्रलय क्रिया सम्पादन करती है। उनकी रजोगुणमयी सृष्टिकारिणी शक्तिमान् का नाम ब्रह्म, सत्वगुणमयी स्थितिकारिणी शक्तिमान का नाम विष्णु और तमोगुणमयी प्रलयकारिणी शक्तिमान् का नाम रुद्र है। यही संसार की सर्गस्थितभंगविधायिनी उनकी त्रिमूर्ति है।

यथा सूतसंहिता में लिखा है कि :—

"भक्ति चित्तसमासीनो ब्रह्मविष्णुशिवात्मकः"

अर्थ=भक्त के चित्त में विराजमान ब्रह्मा विष्णु और शिवरूपी उनकी तीन मूर्तियाँ हैं।

बृहदारण्यकोपनिषद् में लिखा है कि :—

"आत्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणिभूतानि व्युच्चरन्ति"

अर्थ=ईश्वर से समस्त प्राण, समस्त लोक, समस्त देवतागण और समस्त भूतों की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार से समस्त संसार और समस्त जीव तथा समस्त देवतावों को निजमहती शक्ति द्वारा उत्पन्न करके सर्व शक्तिमान् परमेश्वर देवतावों को विश्वनियमन के लिये पृथक्-पृथक् कार्य में नियुक्त करते हैं और समस्त भूतों का पालन करते हैं। उनकी अनुशासन शक्ति की महिमा के लिये,

कठोपनिषद् में लिखा है कि :—

भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः॥

अर्थ=उनके भय से अग्निदेव और सूर्यदेव ताप दान करते हैं; उनके भय से इन्द्र देव, पवनदेव और यमराज निज निज कर्तव्य पालन करते हैं।

तैत्तिरीयोपनिषद् में लिखा है कि :—

भीषास्माद् वातः पवते, भीषोदेदि सूर्यः।
भीषास्मादग्निश्चेन्द्रश्च, मृत्युर्धावति पञ्चमः॥

अर्थ=उन्हीं के शासन भय से पवनदेव प्रवाहित होते हैं, सूर्यदेव उदित होते हैं और अग्नि, इन्द्र और यमराजस्वकीय कर्त्तव्य का पूर्ण पालन करते हैं।

कठोपनिषद् में लिखा है कि :—

वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो वभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो वहिश्च॥

अर्थ=जिस प्रकार एक ही वायु संसार में प्रविष्ट होकर रूप रूप के अनुसार प्रति रूप होता है, उसी प्रकार अद्वितीय विश्वानुग परमात्मा रूप रूप के अनुसार प्रतिरूप होने पर भी संसार से निर्लिप्त अर्थात् विश्वातिग रहते हैं। यही सब विश्वकर्त्ता परमपिता परमेश्वर के विश्वानुग और विश्वातिग भावों का वर्णन है।

● —एकतीसवाँ आत्मतत्त्व प्रकरण समाप्त ●

जाति स्मर प्रकरणम्

जन्म लेते पूर्व शुभाशुभ कर्म भूल जाते हैं—

गर्भोपनिषद् में लिखा है कि:—

अथ योनिद्वारं संप्राप्तो यन्त्रेणापीडचमानो महताडुःखेन जातमात्रस्तु वैष्णवेन वायुना संस्पृष्टस्तदा न स्मरति जन्ममरणानि न च कर्म शुभाशुभं विन्दति।

अर्थ=प्रसव वायु द्वारा सञ्चालित हो योनिद्वार में आकर योनियन्त्र के द्वारा अत्यन्त पीडित हो महान् दुःख के साथ भूमिष्ठ होते होते ही वैष्णवी वायु के द्वारा संस्पृष्ट होकर वह जीव गर्भस्थ कोई भी बात पूर्व कर्म और जन्म का कोई भी विषय अथवा शुभा-शुभ कर्म नहीं स्मरण कर सकता है। संसार में देखा जाता है कि किसी कठिन रोग या दुःख के होने से प्रायः लोग अनेक पूर्व घटनावों को भूल जाते हैं और आगामी नवीन घटना तथा नवीन जीवन के नवीन परिवर्तन के द्वारा भी प्राचीन संस्कार चित्ताकाश के लुप्त होकर अन्तः गम्भीर तल देश में प्रच्छन्न हो जाते हैं। ठीक इसी तरह से गर्भाशय से निकलते समय अत्यन्त कष्ट होने से तथा नवीन दृश्य के नवीन परिवर्तन के भीतर आ जाने से गर्भस्थिति की अवस्था की प्राचीन जीवन की सभी बातें जीव को विस्मृत हो जाती हैं। जिस वैष्णवी मोहनी माया के द्वारा जगत् मुग्ध हो रहा है उसका तमोमय आवरण जीव के अन्तःकरण पर पड़ जाने से जीव पूर्व विषयों को कुछ भी स्मरण नहीं कर सकता है। केवल जो धीर योगी प्रसव काल के कठिन क्लेश में भी धैर्यच्युत नहीं होते हैं और जिन पर वैष्णवी माया का भी विशेष प्रभाव नहीं होता है वे ही जाति स्मर होते हैं वामदेव आदि महर्षि इसी प्रकार से जातिस्मर हुये थे।

यही मायामय संसा की आश्चर्य जनक वार्त्ता है जिसको धर्मराज युधिष्ठिर ने यक्ष राजके प्रश्न के उत्तर में कहा था।

महाभारत में लिखा है कि:—

अस्मिन् महामोहमये कटाहे सूर्याग्निना रात्रिदिवेन्धनेन।
मासर्तुदर्वीपरिघट्टनेन भूतानिकालः पचतीति वार्ता॥

अर्थ=महामोहमय इस ब्रह्माण्डरूप कटाह में समस्त जीवों को डाल कर काल नित्य उनको पकाता रहता है। इस कटाह में जीवों के पकाने के लिये अग्नि है सूर्य, इन्धन

है रात्रि और दिन, मास और ऋतुरूपी करछुल के द्वारा ब्रह्माण्डरूपी कड़ाह में जीवों को हिलाकर पकाया जाता है। यही ससार की वार्त्ता है। मूढ जीव निशि दिन इस तरह पकाये जाने पर भी काल की लीला और संसार के स्वरूप को नहीं जान सकते हैं। केवल विवेकी पुरुष ही जन्म जन्मान्तर के विचार से सभी दुःखमय जान कर संसार को त्यागकर के परम शान्ति मय परमात्मा के चरणकमलों की शरण ग्रहण करते हैं। विविधि दुःख पूर्ण घोर अन्धकारमय जीवन-रजनी के दुःखमय परिणाम को जानकर तत्त्व विचार द्वारा संसार से निज चित्तवृत्ति को धीरे धीरे उपराम करके साधनमार्ग में प्रवृत्त कर देते हैं। यही परम शान्ति प्रद वैराग्य की महिमा है।

सुख के वृद्धि की भावना एवं शीलवान्के पास सब जांय——

सर्वेभवन्तु सुखिन:, सर्वेऽपिसुखिन: सन्तु, सर्वेसन्तु निरामया: ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत् ।।

अर्थ=सभी व्यक्ति सुखी हों, सभीं क्लेश रहित हों, सभी कल्याण की ओर बढें तथा किसी को दुःख न हो सत्पुरुष सर्वदा यही कामना रखते हैं।

अपुत्राः पुत्रिणः सन्तु पुत्रिण: सन्तुपौत्रिणः ।
अधनाः सधनाः सन्तु जीवन्तु शरदां शतम् ।।

अर्थ=पहले यहाँ पुरुष की कामना ये थी पुत्र रहित पुत्र वाले हों, पुत्रवान् व्यक्ति पौत्र (नाती) से युक्त हों, निर्धन धनी हों तथा १०० सौ वर्ष तक जीवित रहें यह प्राचीन परम्परा थी किन्तु वर्तमान काल में इस का विपरीत ही हो रहा सभी पुत्रिण: अपुत्रा: सन्तु की भावना से भर गये हैं राजा प्रजा सभी कोई किसी की उन्नति नहीं देख पा रहा है यह सनातन धर्म एवं महा पुरुषों के साक्षात् विरुद्ध है।

धर्म: सत्यं तथा वित्तंवलं चैवतथाप्यहम् ।
शीलमूला महाप्राज्ञ सदा नास्त्यत्र संशय:.।।

अर्थ=शीलवान् व्यक्ति के पास धर्म, सत्य, धन तथा वल सभी विना बुलाये ही एक एक करके स्वयं ही उसके पास चले जाते हैं इसमें कोई संशय नहीं है। यथा —प्रहलाद के पास सभी एकत्रित थे।

अष्टा वक्र से जनक का प्रश्न——

अष्टावक्र गीता——

कथं ज्ञानमवाप्नोति कथं मुक्तिर्भविष्यति ।
वैराग्यं च कथं प्राप्तमेतद् ब्रूहि मम प्रभो ।।

अर्थ=हे स्वामिन् कैसे पुरुष ज्ञान को प्राप्त होता है और मुक्ति कैसे होवेगी और वैराग्य कैसे प्राप्त होवेगा इसको मेरे प्रति कहिये।

मुक्तिमिच्छसि चेत्तात विषयान् विषवत्त्यज ।
क्षमार्ज्जव दया तोष सत्यं पीयूषवद् भज ।।

अर्थ=हे प्रिय यदि मुक्ति को तू चाहता है, तो विषयों को विष के समान छोड़ दे और क्षमा, आर्जव, दया, सन्तोष और सत्य को अमृत के सदृश सेवन कर।

'श्रुति' से भी विरोध आता है—

आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुषः।
किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत्॥

अर्थ=यदि विद्वान् ने आत्मा को जान लिया कि यह आत्मा ब्रह्म मैं ही हूँ, तब किस की इच्छा करता हुवा और किस कामना के लिये शरीर को तपावेगा, किन्तु कदापि नहीं तपावेगा।

और 'गीता' में भी भगवान् ने इस को तामसी तप कहा है। इसी से साबित होता है कि नंगे रहने वाले का नाम वैराग्यवान् नहीं है, किन्तु केवल मूर्खों को पशु बनाने वास्ते नंगा रहना है। एवं सकाम इस तरह के व्यवहार को करता है, निष्कामी नहीं करता। तथा जड़ भरतादिकों को अपने पूर्व जन्म का वृत्तान्त याद था। एक मृगी के बच्चे के साथ स्नेह करने से, उनको मृग जन्म लेने पड़े थे, इसी वास्ते वह संगदोष से डरते हुये असंग होकर रहते थे।

पंचदशी में लिखा है—

न ह्याहारादि संत्यज्य भरतादिः स्थितः क्वचित्।
काष्ठपाषाणवत् किन्तु संगभीत्या उदास्यते॥

अर्थ=जड़ भरतादिक खान-पहरान आदिकों को त्याग करके कभी भी नहीं रहे हैं, किन्तु पत्थर और लकड़ी की तरह जड़ होकर संग से डरते हुये उदासीन हो करके रहे हैं। जब तक देह के साथ आत्मा का तदात्म्य अध्यास बना है, तब तक तो नंगा रहना दुःख का और मूर्खता का ही कारण है। जब अध्यास नहीं रहेगा, तब इसको नंगे रहने से दुःख भी नहीं होगा। आत्मा के साक्षात्कार होने से, जब मन उस महान् ब्रह्मानन्द में डूब जाता है, तब शरीरादिकों के साथ अध्यास नहीं रहता है, और न विशेष करके संसार के पदार्थों का उस पुरुष को ज्ञान रहता है। मदिरा करके उन्मत्त को जैसे शरीर की और वस्त्रादिकों की खबर नहीं रहती है, वैसे ही जीवन्मुक्त ज्ञानी की वृत्ति केवल आत्माकार रहती है। उसको भी शरीरादिकों की खबर नहीं रहती है ऐसी अवस्था जीवन्मुक्त की लिखी हुयी है। मुमुक्षु वैराग्यवान् की नहीं लिखी, क्योंकि उसको संसार के पदार्थों का ज्ञान ज्यों का त्यों बना रहता है। संसार के पदार्थों में दोष-दृष्टि और ग्लानि का नाम ही वैराग्य है, और खोटे पुरुषों के संग से डरकर महात्मावों का संग करने वाला क्षमा, कोमलता, दया और सत्य भाषणादिक गुणों को अमृतवत् पान करने अर्थात् धारण करने वाले का नाम वैराग्यवान् है और वही ज्ञान का अधिकारी है।

यदि देहं पृथक्कृत्य चिति विश्राम्य तिष्ठसि।
अधुनैव सुखी शान्तः बन्धमुक्तो भविष्यसि॥

अर्थ=अगर तू देह को अलग करके और चैतन्य आत्मा में विश्राम करके अर्थात् चित्त को एकाग्र करके) स्थित है, तो अभी तू सुखी और शान्त होता हुवा बन्धन से मुक्त हो जावेगा।

न त्वं विप्रादिको वर्णो नाश्रमी नाक्षगोचरः ।
असङ्गोऽसि निराकारो विश्वसाक्षी सुखी भव ॥

अर्थ=तू ब्राह्मण आदि जाति नहीं है और न (तू) (चारों आश्रमवाला है) और न (तू) आँख आदि इन्द्रियों का विषय है परन्तु तू असंग (एवं) निराकार विश्व का साक्षी है ऐसा जान करके सुखी हो ।

एको द्रष्टाऽऽसि सर्वस्य मुक्तप्रायोऽसि सर्वदा ।
अयमेव हि ते वन्धोद्रष्टारं पश्यसीतरम् ॥

अर्थ=सव का एक देखने वाला तू है और ही तेरा बन्धन है जो निरन्तर अत्यन्त मुक्त तू है यह ही तो बन्ध है कि तू द्रष्टा से इतर अपने को देखता है ।

जनक जी कहते हैं कि पूर्वोक्त अमृत को मैं कैसे पान करूँ इसके उत्तर कहते हैं—

एको विशुद्धबुद्धोऽहमिति निश्चय वह्निना ।
प्रज्वाल्याज्ञानगहनं बीतशोकः सुखी भव ॥

अर्थ=मैं एक अति शुद्ध वुद्ध रूप हूँ ऐसे निश्चय रूपी अग्नि से अज्ञान रूपी बन को जला करके शोक रहित हुवा तू सुखी हो ।

नाहं ब्राह्मणः, न क्षत्रियः ।

अर्थात् न मैं ब्राह्मण हूँ, न क्षत्रिय हूँ, न वैश्य हूँ, न शूद्र हूँ, शुद्धोऽहम् निरञ्जनोऽहम्, निराकारोऽहम्, निर्विकल्पोऽहम्'। अर्थात् मैं शुद्ध हूँ, माया मल से रहित हूँ, आकार से भी रहित हूँ, विकल्प से भी रहित हूँ और नित्य-मुक्त हूँ । वन्ध और मोक्ष ये सव मन के धर्म हैं । मुझ में ये सब तीनों काल में नहीं हैं, किन्तु मैं सब का साक्षी हूँ, ऐसे अभिमान वाला पुरुष नित्य-मुक्त है ।

देहाभिमानाद्यत्पापं नतद्गोबधकोटिभिः ।
प्रायश्चित्ताद्भवेच्छुद्धिर्नृणां गोवधकारिणाम् ॥

अर्थ=अर्थात् जो देह के अभिमान से पुरुषों को पाप होता है, वह पाप करोड़ों गौ के वध करने से भी नहीं होता है, क्योंकि करोड़ों गौ के वध करने वाले को शुद्धि के लिये शास्त्र में प्रायश्चित्त लिखा है, अर्थात् प्रायश्चित्त करके करोड़ों गौवों का वध करने वाला भी शुद्ध हो सकता है, परन्तु देहाभिमानी की शुद्धि के लिये शास्त्र में कोई भी प्रायश्चित्त नहीं लिखा है, इसी वास्ते जाति, वर्ण आदि जो देह के धर्म हैं, उन धर्मो को जो आत्मा में मानते हैं, वे देहाभिमानी कहे जाते हैं, और वे ही सदा वन्धायमान रहते हैं। और जो जाति और वर्णों के धर्मों को आत्मा में नहीं मानते हैं, किन्तु अपने आत्मा को असंग, नित्य-मुक्त और शुद्ध मानते हैं, वे नित्य ही मुक्त हैं, क्योंकि हे राजन् । शस्त्रों में दो दृष्टि कही गयी है–एक तो शास्त्र दृष्टि, दूसरी लौकिक दृष्टि । शास्त्र-दृष्टि से तो देहादि के चर्म के अभिमानी का नाम ही चमार है ।

देहाभिमानपाशेन चिरं बद्धोऽसि पुत्रक ।
बोधोऽहं ज्ञान खङ्गेन तन्निष्कृत्य सुखी भव ॥

अर्थ=हे पुत्र देह के अभिमान रूपी पाश से वहुत काल का वँधा हुवा तू है मैं वोध-रूप हूँ ऐसे ज्ञानरूपी तलवार से उसको यानी उस पाश को काट करके तू सुखी हो।

शुद्धोऽसि बुद्धोऽसि निरञ्जनोऽसि संसारमायापरि वर्जितोऽसि।
संसारस्वप्नस्त्यज मोहनिद्रां मन्दालसा वाक्यमुवाच पुत्रम्॥

अर्थ=अर्थात् हे तात, तू शुद्ध है, ज्ञान-स्वरूप है, माया-मल से तू रहित है, तू संसार रूपी असत् माया नहीं है, संसाररूपी स्वप्न मोहरूपी निद्रा करके प्रतीत हो रहा है, इस को तू त्याग दे। इस प्रकार माता के उपदेश से वे जीवनमुक्त हो गये।

एकं सर्वगतं व्योम वहिरन्तर्यथा घटे।
नित्यं निरन्तरं ब्रह्म सर्वभूतगणे तथा॥

अर्थ=जैसे सर्वगत एक आकाश वाहर भीतर घट में स्थित है वैसे ही नित्य निरंतर ब्रह्म सव भूतों के शरीर में तथा वाहर स्थित है।

अहो निरञ्जनः शान्तो बोधोऽहं प्रकृतेः परः।
एतावन्तमहं कालं मोहे नैव विडंबितः॥

अर्थ=मैं निर्दोष हूँ शान्त हूँ वोधरूप हूँ प्रकृति से परे हूँ आश्चर्य है कि मैं इतने काल पर्यन्त अज्ञान करके निःसन्देह ठगा गया हूँ।

यथैवेक्षुरसे क्लृप्तं तेन व्याप्तैव शर्करा।
तथा विश्वं मयि क्लृप्तंमया व्याप्तं निरन्तरम्॥

अर्थ=जैसे निश्चय करके इक्षु के रस में अध्यस्त हुयी शक्कर उसी करके व्याप्त है वैसे ही मुझ में अध्यस्त हुवा संसार मुझ करके सदा व्याप्त है।

अहो विकल्पितं विश्वमज्ञानान्मयिभासते।
रूप्यं शुक्तौ फणी रज्जौ वारि सूर्य करे यथा॥

अर्थ=आश्चर्य है कि कल्पित संसार अज्ञान से मेरे में ऐसा भासता है जैसे शुक्ति में चाँदी रस्सी में सर्प सूर्य की किरणों में जल भासता है।

मत्तो विनिर्गतं विश्वं मय्येव लयमेष्यति।
मृदि कुम्भोजले वीचिः कनके कटकं यथा॥

अर्थ=मुझ से उत्पन्न हुवा यह संसार मुझ में लय को प्राप्त होगा जैसे मिट्टी में घड़ा जल में लहर स्वर्ण में भूषण लय होते हैं।

निःस्पृहं मानसं यस्य नैराश्येऽपि महात्मनः।
तस्यात्मज्ञानतृप्तस्य तुलना केन जायते॥

अर्थ=जिस महात्मा का मन मोक्ष में भी इच्छा रहित है उस आत्म ज्ञान से तृप्त हुवे की वरावरी किस के साथ हो सकती है।

या माता सा पुनर्भार्या या भार्या जननीहि सा।
यः पिता स पुनः पुत्रो यः पुत्रः स पुनः पिता॥

अर्थ=अर्थात् पूर्व जन्म में जो माता होती है, वही पुत्र में स्नेह के कारण उत्तर जन्म में उसकी स्त्री बनती है। जो पूर्व जन्म में पिता होता है, वही उत्तर जन्म में पुत्र होता है। जो पूर्व जन्म में पुत्र होता है, वही उत्तर जन्म में पिता होता है।

नरस्य वन्धनार्थाय शृङ्खला स्त्री प्रकीर्तिता।
लोहबद्धोऽपि मुच्येत स्त्रीबद्धो नैव मुच्यते॥

अर्थ=पुरुष के वन्धन का हेतु स्त्री को वेड़ी रूप करके कहा है। एव लोहे की बेड़ी करके बाँधा हुवा पुरुष छूट जाता, परन्तु स्त्री के स्नेह-रूपी पाश करके बाँधा हुवा पुरुष कदापि छूट नहीं सकता है।

विहाय वैरिणं काममर्थं चानर्थसंकुलम्।
धर्ममप्येतयोर्हेतुं सर्वत्रानादरं कुरु॥

अर्थ=वैरी रूप काम को और अनर्थ से भरे हुये अर्थ को त्याग करके और उन दोनों के कारण रूप धर्म को भी छोड़कर धर्म अर्थ और काम के हेतु कर्मों को अनादर कर।

स्वप्नेन्द्रजालवत्पश्य दिनानि त्रीणि पञ्च वा।
मित्रक्षेत्रधनागारदाराभ्रातादि सम्पदः॥

अर्थ=मित्र, क्षेत्र, धन मकान, स्त्री, भाई आदि सम्पत्तियों को स्वप्न और इन्द्रजाल के समान तीन या पाँच दिनों तक तू देखा।

सर्वनामरूपात्मकप्रपंचाध्यासाधिष्ठानत्वं ब्रह्मत्वम्।

अर्थ=सम्पूर्ण नामरूपात्मक प्रपंच के अध्यास का जो अधिष्ठान होवे, उसी का नाम ब्रह्म है, उसी शुद्ध चेतन में सारा नामरूपात्मक जगत् अध्यस्त है।

न पश्यति च जन्मान्धः कामान्धो नैव पश्यति।
मदोन्मत्ता न पश्यन्ति ह्यर्थी दोषं न पश्यति॥

अर्थ=जन्म के अन्धों को, कामातुर को, मदिरा करके उन्मत्त को, और धन के अर्थी को कुछ भी नहीं दीखता है, इसलिये हे जनक। धनादि की इच्छा का भी त्याग ही करना विवेकी के लिये उत्तम है। क्योंकि संसार रूपी वन में भ्रमण करते हुये पुरुष का मन धर्म, अर्थ और काम करके व्याकुल होता हुवा कभी भी शान्त नहीं होता है।

भोगे रोग भयं कुले च्युतिभयं वित्ते नृपालाद्भयम्।
मानेदैन्यभयं बलेरिपुभयंरूपे जराया: भयम्॥
शास्त्रे वादभयं गुणे खलभयं कायेकृतान्ताद्भयम्।
सर्वं वस्तुभयान्वितं भुवि नृणां वैराग्यमेवाभयम्॥

अर्थ=भोग में रोग का भय, कुल बृद्धि से पतन का भय धर्म हीन धन रहने से राजा का भय, मान (इज्जत) रहने से दीनता का भय, बल रहने से शत्रु का भय, सुन्दर रूप होने से बृद्धावस्था का भय, शास्त्र ज्ञान में वादविवाद का भय, गुण रहने पर दुष्ट का भय, शरीर रहने पर यमराज का भय, इसी प्रकार इस भूमण्डल पर मानवों के लिये सम्पूर्ण

वस्तु भय से ही युक्त हैं केवल वैराग्य ही अभय पद है जिसमें कोई भय कदापि किसी वर्ण या अवस्था तथा आश्रम में भी नहीं है।

३२—बत्तीसवाँ जातिस्मर प्रकरण समाप्त

अथस्वरज्ञान प्रकरणम्

शिवस्वरोदयः—

अथमङ्गलाचरणन्—

महेश्वरं नमस्कृत्य शैलजां गणनायकम्।
गुरुं च परमात्मानं भजे संसारतारणम्॥

अर्थ=श्री शंकर जी, पार्वती जी, तथा गणेश जी को प्रणाम कर इस अनित्य विश्व से उद्धार करने वाले गुरु एवं परमात्मा का मैं भजन करता हूँ।

शिव उवाच—

तत्त्वाद्ब्रह्माण्डमुत्पन्नं तत्त्वेन परिवर्त्तते।
तत्त्वे विलीयते देवि तत्वाद् ब्रह्माण्ड निर्णयः॥

अर्थ=महादेव जी ने कहा—हे देवि, यह संसार तत्त्वों से उत्पन्न हुवा है और उन तत्वों के द्वारा ही इसका परिवर्तन, पालन एवं उन्हीं में नाश भी होता है इस प्रकार इस संसार के विषय में निर्णय उक्त तत्वों के द्वारा ही होता है।

निरंजनो निराकार एको देवो महेश्वरः।
तस्मादाकाशमुत्पन्नमाकाशाद्वायुसंभवः॥

अर्थ=महादेव जी ने कहा—कि जो एक निर्विकार नित्य एवं आकार रहित परमात्मा है उससे आकाश की उत्पत्ति हुयी और आकाश से वायु की

वायोस्तेजस्ततश्चापस्ततः पृथ्वीसमुद्भवः।
एतानि पंच तत्त्वानि विस्तीर्णानि च पञ्चधा॥

अर्थ=वायु से तेज (अग्नि) की उत्पत्ति हुयी और तेज से जल की एवं जल से पृथ्वी की उत्पत्ति हुयी इस प्रकार ये पाचों तत्व विभिन्न पांच प्रकार से इस संसार में फैले हैं।

सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरं ज्ञानं सुबोधं सत्यप्रत्ययम्।
आश्चर्यं नास्तिकेलोके आधारं त्वास्तिकेजने॥

अर्थ=यह स्वरोदय का ज्ञान यद्यपि सूक्ष्म से भी सूक्ष्म है, फिर भी यह जानने में सुलभ और सत्य का ज्ञान कराने वाला है। यह नास्तिकों के लिये आश्चर्य की वस्तु है और आस्तिकों को सहायता देने वाला है।

शिष्य लक्षणम्—

शान्ते शुद्धे सदाचारे गुरुभक्त्यैकमानसे।
दृढचित्ते कृतज्ञे च देयं चैव स्वरोदयम्॥

अर्थ=शिष्य का लक्षण—शान्त, शुद्ध, सदाचारी, गुरु का भक्त, दृढ चित्त और उपकारों को मानने वाले (कृतज्ञ) शिष्य को ही इस स्वरोदय का ज्ञान देना चाहिये।

स्वरे वेदाश्च शास्त्राणि स्वरे गान्धर्वमुत्तमम्।
स्वरे च सर्वत्रैलोक्यं स्वरमात्मस्वरूपकम्॥

अर्थ=इस स्वर में ही सम्पूर्ण वेद है। इसी में शास्त्र भी अन्तर्भूत हैं। इसी प्रकार संगीत विद्या भी इसी में विद्यमान है। इतना ही नहीं सम्पूर्ण त्रैलोक्य भी इसी स्वर में है और स्वर आत्म स्वरूप ही है।

स्वरहीनश्च दैवज्ञो नाथहीनं यथा गृहम्।
शास्त्रहीनं यथा वक्त्रं शिरोहीनं च यद्वपुः॥

अर्थ=इस स्वर ज्ञान से विहीन ज्योतिषी उसी प्रकार अपूर्ण विद्वान् होता है जिस प्रकार मालिक के विना घर, शास्त्र विहीन मुख और मस्तकरहित शरीर होता है। अर्थात् ज्योतिषी को स्वरज्ञान की बहुत आवश्यकता होती है।

न तिथिर्न च नक्षत्रं न वारो ग्रहदेवताः।
न च विष्टिव्यतीपातो वैधत्याद्यास्तथैव च॥

अर्थ=तिथि, नक्षत्र, वार, ग्रह, देवता, भद्रा, व्यतीपात, वैधृति आदि योगों से स्वर वल से होने वाले शुभफल का नाश नहीं होता।

कुयोगो नास्तिकोदेवि। भविता वाकदा चन।
प्राप्ते स्वरबले शुद्धे सर्वमेव शुभंफलम्॥

अर्थ=हे देवि। शुद्धस्वर का बल प्राप्त होने पर सभी शुभफल प्राप्त हो जाते हैं। इस स्वर शास्त्र में किसी भी प्रकार का कुयोग न था, न है और न कभी होगा ही।

इडायां तु स्थितश्चन्द्रः पिंगलायां च भास्करः।
सुषुम्ना शम्भुरूपेण शम्भुर्हंसस्वरूपतः॥

अर्थ=इडा नाडी में चन्द्रमा और पिंगला में सूर्य रहता है, सुषुम्ना में शिव हंस-रूप से रहते हैं। इसलिये सुषुम्ना को शिव-रूप ही कहा गया है।

श्वासे सकारसंस्थे तु यद्दानं दीयते बुधैः।
तद्दानं जीवलोकेऽस्मिन्कोटि कोटिगुणं भवेत्॥

अर्थ=विद्वान् लोगों द्वारा सकार युक्त वायें स्वर में जो दान दिया जाता है, उससे इस मर्त्यलोक में कोटि गुणित फल प्राप्त होता है।

अनेक लक्षयेद्योगी चैक चित्तः समाहितः।
सर्वमेवं विजानीयान्मार्गे वै चन्द्र सूर्ययोः॥

अर्थ=इस प्रकार एकाग्रचित्त और शान्त होकर योगी को देखना चाहिये और सभी पदर्थों को सूर्य और चन्द्र के अर्थात् पिंगला और इडा के मार्ग में देखना चाहिये।

मध्यमा भवति क्रूरा दुष्टासर्वत्र कर्मसु।
सर्वत्र शुभकार्येषु वामा भवति सिद्धिदा॥

अर्थ=शरीर के मध्य भाग में रहने वाली सुषुम्ना नाडी सब कार्यों के लिये क्रूर, दुष्ट अर्थात् विद्यातक है। सभी शुभ कार्यों में बायीं नाडी (इडा) सिद्धि प्राप्त करा देने वाली है।

निर्गमे तु शुभा वामा प्रवेशे दक्षिणा शुभा।
चन्द्रः समः सुविज्ञेया रविस्तु विषमः सदा॥

अर्थ=बाहर जाते समय बायीं नाडी (इडा) शुभ होती है। लौटते या प्रवेश करते समय दाहिनी (पिंगला) शुभ कही गयी है। चन्द्रमा को सदा सम और सूर्य को विषम जानना चाहिये।

आदौ चन्द्रःसिते पक्षे भास्करो हि सितेतरे।
प्रतिपत्तो दिनान्याहुस्त्रीणि त्रीणि कृतोदये॥

अर्थ=महीने के शुक्ल पक्ष में प्रतिपदा से तीन दिन तक पहले चंद्रस्वर (बायाँ) का और तीन दिन के हिसाब से आगे सूर्यस्वर का उदय होता है। इसके विपरीत कृष्ण पक्ष में पहले तीन दिनों में सूर्यस्वर (दाहिना) का उदय और बाद में चन्द्रस्वर का उदय होता है।

शुक्लपक्षेभवेद्वामा कृष्ण पक्षे च दक्षिणा।
जानीयात्प्रतिपत्पूर्वं योगी तद्गतमानसः॥

अर्थ=शुक्लपक्ष की प्रतिपदा को प्रारम्भ बायीं नाडी (इडा) के और कृष्ण पक्ष की प्रतिपदा को पहले दाहिनी नाडी (पिंगला) के प्रवाह को एकाग्र चित्त होकर योगी जानें। अर्थात् समय समय पर चन्द्र और सूर्यस्वर के प्रवाह को योगियों को जानना चाहिये।

शशांकं वारयेद्रात्रौ दिवा वारय भास्करम।
इत्यभ्यासरतो नित्यं स योगी नात्र संशयः॥

अर्थ=बुद्धिमान् व्यक्ति रात को चन्द्रस्वर को कभी भी न प्रवाहित करे। इसी प्रकार दिन को सूर्यस्वर को भी न चलावे। इस प्रकार नित्य अभ्यास करते रहने से प्रत्येक व्यक्ति योगी बन जाता है।

सूर्येण बध्यते सूर्यश्चन्द्रश्चन्द्रेण बध्यते।
यो जानाति क्रियामेतां त्रैलोक्यं वशगं क्षणात्॥

अर्थ=सूर्यस्वर से सूर्य और चन्द्र स्वर से चन्द्रमा वश होते हैं। इस प्रकार स्वरों के प्रवाहों की क्रिया जानने वाले को सम्पूर्ण जगत् एक क्षण में वशीभूत हो जाता है।

उदयं चन्द्रमार्गेण सूर्येणास्तमनं यदि।
तदा तैर्गुणसंघाता विपरीतं विवर्जयेत्॥

अर्थ=चन्द्रमा के स्वर से दिन का प्रारम्भ और सूर्य के स्वर से उसका अन्त यदि हो तो इस प्रकार के स्वरों के प्रवाह के द्वारा अनेक शुभफल उत्पन्न होते हैं। यदि इसके विपरीत प्रवाह रहा तो उस समय कोई भी शुभ कार्य न करे।

गुरुशुक्रबुधेन्दूनां वासरे वामनाडिका।
सिद्धिदा सर्वकार्येषु शुक्लपक्षे विशेषतः ॥

अर्थ=बृहस्पति, शुक्र, बुध और सोमवार को यदि वाम नाडी अर्थात् चन्द्रस्वर प्रवाहित हो तो सभी शुभ कार्यों में सिद्धि प्राप्ति होती है। खासकर यदि शुक्ल पक्ष में उक्त वारों में बायीं नाडी चले तो विशेष सिद्धि प्राप्त होती है।

अर्कांगारक सौरीणां वासरे दक्षनाडिका।
स्मर्त्तव्या चरकार्येषु कृष्णपक्षेविशेषतः ॥

अर्थ=यदि दाहिनी नाडी (पिंगला) रवि, मंगल और शनिवार को चले और उसका स्मरण कर यदि चरकार्य (क्रूर आदि कार्य) किया जाय तो सिद्धि प्राप्त होती है। वह कार्य कृष्ण पक्ष में उक्तवारों में हो तो सिद्धि निश्चित ही प्राप्त होती है।

प्रथमं वहते वायुर्द्वितीये च तथानलः।
तृतीयं बहते भूमिश्चतुर्थी वारुणो वहेत् ॥

अर्थ=सबसे पहले नाडियों के प्रवाह में वायु तत्व बहता है। इसके बाद अग्नि तत्व। उसके अनन्तर भूमि तत्व और उसके बाद जल तत्व प्रवाहित होता है सबके अन्त में आकाश तत्व भी प्रवाहित होता है।

अहोरात्रस्यमध्ये तु ज्ञेया द्वादश संक्रमाः।
वृषकर्कटकन्यालिमृगमीना निशाकरे ॥

अर्थ=दिवस और रात्रि में बारह संक्रान्तियाँ जानी जाती हैं। उनमें वृषभ, कर्क, कन्या, बृश्चिक, मकर और मीन राशियाँ चन्द्र की मानी जाती हैं।

मेषसिंहौ च कुंभश्च तुला च मिथुनं धनम्।
उदये दक्षिणे ज्ञेयः शुभाशुभ विनिर्णयः ॥

अर्थ=मेष, सिंह, कुम्भ, तुला, मिथुन, और धन राशियाँ सूर्य की होती हैं। दक्षिण-स्वर के उदय होने पर शुभ एवं अशुभ फल का निर्णय समझना चाहिये।

तिष्ठेत्पूर्वोत्तरे चन्द्रो भानुः पश्चिम दक्षिणे।
दक्षनाड्याः प्रसारे तु न गच्छेद्याम्यपश्चिमे ॥

अर्थ=चन्द्रमा पूर्व और उत्तर दिशा में और सूर्य पश्चिम तथा दक्षिण दिशा में रहता है। इसलिये दाहिनास्वर अथवा दक्षिण नाडी चलने पर पश्चिम और दक्षिण दिशा की ओर यात्रा न करनी चाहिये।

चन्द्रकाले यदा सूर्यः सूर्यश्चन्द्रोदये भवेत्।
उद्वेगः कलहो हानिः शुभंसर्वं निवारयेत् ॥

अर्थ=सूर्योदय के समय चन्द्रस्वर और चन्द्रोदय के समय सूर्यस्वर चलता हो तो उस समय कलह हानि अथवा दुःख आदि होते हैं। उस समय शुभ कार्य न करना चाहिये।

वामे वा दक्षिणे वापि यत्र संक्रमते शिवः।
कृत्वा तत्पादमादौ च यात्रा भवति सिद्धिदा॥

अर्थ=बायाँ अथवा दाहिना स्वर जिस समय प्रवाहित हो और उसके साथ शिव-स्वर (सुषुम्ना) भी यदि चलता हो, उस समय उस ओर का पाँव आगे रखकर प्रस्थान करना चाहिये। इससे सिद्धि प्राप्त होती है।

परदत्ते तथा ग्राहे गृहान्निर्गमनेऽपि च।
यदंगे वहते नाडी ग्राह्यं तेन करांध्रिणा॥

अर्थ=जिस ओर का स्वर चलता हो उसी ओर के हाथ से लेन देन एवं उस ओर का पांव आगे रखकर प्रस्थान करना उत्तम होता है। एवं कार्य की सिद्धि होती है।

न हानिः कलहो नैव कंटकैर्नापि भिद्यते।
निवर्त्तते सुखी चैवसर्वोपद्रववर्जितः॥

अर्थ=उक्त प्रकार के आचरण करने पर कलह, हानि, नाश (शत्रुवों द्वारा भय नहीं होते हैं) वह सभी कष्टों से मुक्त होकर सुख से अपने घर वापस आता है।

इडाफलम्—

स्थिरकर्मण्यलंकारे दूराध्वगमने तथा।
आश्रमे धर्मप्रासादे वस्तूनां संग्रहेऽपि च॥

अर्थ=इडा नाडी का फल-पूजन, तपस्या आदि स्थिर कार्य करने में आभूषणों को धारण करने में, दूर देशों में जाने में, ब्रह्मचर्य गृहस्थ आदि चार आश्रमों के धर्म को पालन करने में घर में रहने में और वस्तुवों का संग्रह करने में इडा नाडी का चलना उत्तम होता है।

वापी कूप तडागानां प्रतिष्ठा स्तंभदेवयोः।
यात्रादाने विवाहे च वस्त्रालंकारभूषणे॥

अर्थ=सरोवर, कुँवा तालाब आदि वनाना, खम्बे को गाड़ना, देवता की प्रतिष्ठा करना, यात्रा, दान, विवाह वस्त्र तथा अलंकार आदि धारण करना इडा नाडी के प्रवाह के समय करना चाहिये।

क्रूराणि सर्वकर्माणि चराणि विविधानि च।
तानि सिद्ध्यन्ति सूर्येण नात्रकार्या विचारणा॥

अर्थ=सभी प्रकार के क्रूर कार्य और विभिन्न प्रकार के छोटे बड़े कार्य सूर्य स्वर में सिद्ध होते हैं। इस में बिल्कुलशंका न करनी चाहिये।

अग्रे वामोर्ध्वं तश्चन्द्रोदक्षाधः पृष्ठतो रविः।
पूर्णरिक्त विवेकोऽयंज्ञातव्यो दैशिकैः सदा॥

अर्थ=चन्द्रस्वर का प्रवाह यदि आगे बायें और ऊपर की ओर हो तो उसे पूर्ण समझना चाहिये। इसके विपरीत यदि प्रवाह पीछे, दाहिने और नीचे की ओर हो तो उसे पूर्ण और इसके विपरीत शून्य समझना चाहिये।

ऊर्ध्वं वामाग्रतो दूतो ज्ञेयो वामपथि स्थितः।
पृष्ठे दक्षे तथाऽधस्तात्सूर्यवाहागतः शुभः ॥

अर्थ=चन्द्र स्वर के प्रवाह के समय यदि कोई दूत बायीं ओर, सामने अथवा ऊपर की ओर बैठे तो वह शुभ समझना चाहिये। इसी प्रकार सूर्य स्वर के प्रवाह के समय पीछे, दाहिने अथवा नीचे बैठा दूत शुभ होता है।

आपःश्वेताः क्षितिः पीता रक्तवर्णो हुताशनः।
मारुतोनील जीमूत आकाशः सर्ववर्णकः ॥

अर्थ=पृथ्वी का रूप पीला, जल का श्वेत, तेज तत्व का लाल, वायु तत्व का मेघ की तरह नीला और आकाश का रूप सभी रूपों का मिश्रण (चित्र रूप) होता है।

स्वाद से तत्वज्ञान—

माहेयं मधुरं स्वादं कषायं जलमेव च।
तीक्ष्णं तेजः समीरोऽम्ल आकाशं कटुकं तथा ॥

अर्थ=तत्वों के स्वाद-पृथ्वी तत्व का स्वाद मधुर, जल तत्व का कसैला, तेज का तीखा (तीता) वायु का खट्टा और आकाश तत्व का कड़ुवा होता है।

गति से तत्वज्ञान—

अष्टांगुलं बहेद्वापुरनलश्चतुरंगुलम्।
द्वादशांगुलमाहेयं वारुणं षोडशांगुलम् ॥

अर्थ=तत्वों की गतिः—वायु तत्व का प्रवाह आठ अँगुल तक रहता है। इसी प्रकार अग्नि तत्व का चार अँगुल तक, पृथ्वी तत्व का बारह अँगुल और जल तत्व का सोलह अँगुल तक प्रवाह होता है।

पृथिव्यां स्थिरकर्माणि चरकर्माणि वारुणे।
तेजसि क्रूरकर्माणि मारणोच्चाटनेऽनिले ॥

अर्थ=पृथ्वी तत्व के उदय काल में स्थिर कार्य, जल के उदय में चरकार्य, तेज तत्व के उदय में क्रूरकार्य और वायु तत्व में मारण उच्चाटन आदि कार्य सिद्धि जनक होते हैं।

चन्द्रे पृथ्वीजले स्यातां सूर्योऽग्निर्वा यदा भवेत्।
तदा सिद्धिर्न सन्देहः सौम्यासौम्येषु कर्मसु ॥

अर्थ=चन्द्रस्वर में पृथ्वी या जल तत्व के उदित रहने पर निःसन्देह शुभ कार्यों में सिद्धि प्राप्त होती है। सूर्यस्वर में अग्नि तत्व उदित होने पर क्रूर कार्यों में निश्चित सिद्धि मिलती है।

आयाति वारुणे तत्वे शत्रुरस्ति शुभं क्षितौ ।
प्रयाति वायुतोऽन्यत्र हानि मृत्युनभोऽनलः ॥

अर्थ=पृथ्वी तत्व में 'शत्रु स्थिर है' जल तत्व में 'शत्रु आ रहा है,' वायु तत्व में 'शत्रु कहीं दूसरी ओर जाता है, और अग्नि तत्व में 'शत्रु नाश करने और मारने के लिये आता है, ऐसा समझना चाहिये ।

पृथिव्यां मूर्लचितास्याज्जीवस्यजल वातयोः ।
तेजसा धातुचिन्तास्याच्छून्यमाकाशतो वदेत् ॥

अर्थ=प्रश्न करते समय यदि पृथ्वी तत्व का उदय हो तो प्रश्न कर्ता को मूल चिंता है ऐसा समझे । यदि उस समय जल या वायु तत्व उदित हो तो प्रश्न कर्ता को प्राणी विषयक चिन्ता होती है । तेज तत्व उदित हो तो धातु चिन्ता और आकाश तत्व उदित होने पर कोई चिन्ता नहीं है ऐसा समझना चाहिये ।

पृथिव्यां बहु पादाः स्युर्द्विपदस्तोयवायुतः ।
तेजस्येव चतुष्पादो नभसा पादवर्जितः ॥

अर्थ=यदि प्रश्न के समय पृथ्वी तत्व का उदय हो तो प्रश्न कर्ता को दो से अधिक पांव वाले जीवों की चिन्ता रहती है । जल या वायु तत्व का उदय होने पर मनुष्य की चिन्ता तेज तत्व के उदित रहने पर पशुवों की चिंता और आकाश तत्व उदित रहने पर विना पांव वाले जीवों की चिन्ता होती है ।

कुजो वह्नी रविः पृथ्वी सौरिरापः प्रकीर्तितः ।
वायुस्थानस्थितो राहुर्दक्षरंध्र प्रवाहकः ॥

अर्थ=सूर्य स्वर (दक्षिण पिंगला नाडी) में अग्नि, पृथ्वी, जल, और वायु तत्वों में क्रमशः मंगल, सूर्य, शनि और राहु रहते हैं ।

जलंचन्द्रो बुधः पृथ्वी गुरुर्वातः सितोऽनलः ।
वामनाड्यांस्थिताः सर्वेसर्व कार्येषु निश्चिताः ॥

अर्थ=चन्द्रस्वर में उदित जल, पृथ्वी, वायु और अग्नि तत्वों में क्रमशः चन्द्र, बुध, गुरु, और शुक्र रहते हैं । उक्त नवों ग्रह सव कार्यों में सिद्धि दायक हैं ।

पृथ्वी बुधो जलइन्दुः शुक्रोवह्नी रविः कुजः ।
वायू राहुशनी व्योम गुरुदेव प्रकीर्तितः ॥

अर्थ=पृथ्वी तत्व से बुध, जल तत्व से चन्द्र, अग्नि तत्व से रवि और मङ्गल, वायु तत्व से शनि और राहु और आकाश तत्व से गुरु कहे गये हैं ।

पूर्वस्यां पश्चिमे याम्ये उत्तरस्यां यथाक्रमम् ।
पृथिव्यानि भूतानि वलिष्ठानि विनिर्दिशेत् ॥

अर्थ=पूर्व, पश्चिम, दक्षिण और उत्तर दिशावों में क्रमशः पृथ्वी, जल, तेज और वायु तत्व प्रवल होते हैं ।

फूत्कारकृत्प्रस्फुटिता विजिर्णा पतिता धरा ।
ददाति सर्वकार्येषु अवस्थासदृशं फलम् ॥

अर्थ=फटी हुयी, फूत्कार करने वाली, जीर्ण और गिरी हुयी पृथ्वी अवस्था के अनुरूप फल सभी कार्यों में देती है ।

धनिष्ठा रोहिणी ज्येष्ठानुराधा श्रवणं तथा ।
अभिजिदुत्तराषाढा पृथ्वीतत्वमुदाहृतम् ॥

अर्थ=पृथ्वी तत्व के धनिष्ठा, रोहिणी, ज्येष्ठा, अनुराधा, श्रवण, अभिजित् और उत्तराषाढा ये सात नक्षत्र हैं ।

पूर्वाषाढा तथाश्लेषा मूलमार्द्रा च रेवती ।
उत्तराभाद्रपदा तोयतत्वं शतभिषक् प्रिये ॥

अर्थ=हे पार्वती । जल तत्व के पूर्वाषाढा, आश्लेषा, मूल, आर्द्रा, रेवती, उत्तरा-भाद्र पदा और शतभिषा ये सात नक्षत्र हैं ।

भरणी कृत्तिका पुष्योमघापूर्वा च फाल्गुनी ।
पूर्वाभाद्रपदा स्वाती तेजस्तत्वमितिप्रिये ॥

अर्थ=हे प्रिये । तेजतत्व के भरणी, कृत्तिका, पुष्य, मघा, पूर्वा फाल्गुनी, पूर्वा भाद्र पदा और स्वाती ये सात नक्षत्र हैं ।

विशाखोत्तरफाल्गुन्यौ हस्तचित्रे पुनर्वसु ।
अश्विनीमृगशीर्षे च वायुतत्वमुदा हृतम् ॥

अर्थ=वायु तत्व के विशाखा, उत्तरा फाल्गुनी, हस्त, चित्रा, पुनर्वसु, अश्विनी और मृगशिरा, ये सात नक्षत्र हैं ।

वहन्नाडीस्थितो दूतोयत्पृच्छति शुभाशुभम् ।
तत्सर्वं सिद्धमाप्नोति शून्ये शून्यं न संशयः ॥

अर्थ=प्रवाहित नाडी की ओर बैठ कर दूत शुभ व अशुभ कार्यों को यदि पूछता है तो वे सभी कार्य सिद्ध होते हैं । इसके विपरीत बैठने से कार्य सिद्ध नहीं होते इसमें सन्देह नहीं ।

वामचारे समं नाम यस्य तस्य जयो भवेत् ।
पृच्छको दक्षिणे भागे विजयी विषमाक्षरः ॥

अर्थ=चन्द्रस्वर में वायीं ओर से आकर जय के या अन्य कार्य के विषय में प्रश्न पूछे जाने पर उस प्रश्न के अक्षर यदि सम (२–४–६–) हों तो विजय और विषम् (१–३–५–) हों तो पराजय होती है ।

शंखवल्ली गवां दुग्धं पृथिव्यापो वहेद्यदा ।
भर्तुरेववदेद्वाक्यं गर्भं देहि त्रिभिर्वचः ॥

अर्थ=ऋतु स्नान के वाद पृथ्वी या जल तत्व के उदय में शंखवल्ली जड़ी गौ के दूध में मिलाकर पीने के वाद पति से सम्भोग की प्रार्थना तीन वार करनी चाहिये।

बिषमांके दिवारात्रौ लिषमांके दिनाधिपः।
चन्द्रनेत्राग्नि तत्त्वेषु वन्ध्या पुत्र माप्नुयात् ॥

अर्थ=ऋतु स्नान के वाद विषम दिनों में, पति के सूर्यस्वर में और स्त्री अग्नि तत्व युक्त चन्द्रस्वर में दिन या रात्रि में भोग करने से वन्ध्या स्त्री वो भी पुत्रवती होती है।

ऋत्वारंभे रविः पुसां स्त्रीणां चैव सुधा करः।
उभयोः सङ्गमे प्राप्ते वन्ध्या पुत्रमवाप्नुयात् ॥

अर्थ=ऋतु के आरम्भ में पति के सूर्य और स्त्री के चन्द्रस्वर में भोग करने से वन्ध्या को पुत्र होता है।

चन्द्रनाडी यदा प्रश्ने गर्भे कन्या तदा भवेत्।
सूर्यो भवेत्तदा पुत्रो द्वयोर्गर्भो विहन्यते ॥

अर्थ=सन्तति के विषय में प्रश्न करते समय यदि चन्द्रस्वर प्रवाहित हो तो कन्या, सूर्यस्वर हो तो पुत्र और सुषुम्ना चलती हो तो गर्भ नाश होगा यह समझना चाहिये।

पृथिव्यां पुत्री जले पुत्रः कन्यकातु प्रभंजने।
तेजसि गर्भपातः स्यान्नभस्यपि नपुंसकः ॥

अर्थ=प्रश्न करते समय पृथ्वी तत्त्व उदित हो तो कन्या; जल तत्त्व हो तो पुत्र, वायु तत्त्व में कन्या, अग्नि तत्त्वमें गर्भ नाश और आकाश तत्त्व में नपुंसक होता है।

संवत्सर फलम्—

चन्द्रोदयस्य वेलायां वहमानोऽथ तत्त्वतः।
पृथिव्यापस्तथा वायुः सुभिक्षं सर्वसस्यजम् ॥

अर्थ=चैत्र शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा को प्रातःकाल तत्त्वों के भेद से फल देखें। उस दिन सुवह चन्द्रस्वर में पृथ्वी, जल तत्त्व या वायु तत्त्व का उदित हो तो उस वर्ष बहुत अन्न उत्पन्न होता है।

रोग निर्णय—

महीतत्त्वे स्वरोगश्च चले च जलमातृतः।
तेजसि खेटवाटीस्थ शाकिनीपितृ दोषतः ॥

अर्थ=प्रश्न करते समय यदि पृथ्वी तत्त्व उदित हो तो पूर्व जन्म के पाप के द्वारा भया हुवा रोग, जल तत्त्व हो तो जल मातृ का रोग, अग्नि तत्त्व हो तो ग्राम या पहाड़ों में वार करने वाली शाकिनी का या पितरों का दोष समझना चाहिये।

आदौशून्यगतो दूतः पश्चात्पूर्णे विशेद्यदि।
मूर्छितोऽपि ध्रुव जीवेद् यदर्थं प्रतिपृच्छति ॥

अर्थ=पृच्छक पहले शून्य स्वर की ओर वैठे और वाद में पूर्ण स्वर की ओर बैठकर, यदि रोगी के वारे में प्रश्न करे तो मूर्छित रोगी अवश्य जीवित हो जाता है।

यस्मिन्नंगे स्थितो जीवस्तत्रस्थः परिपृच्छति।
तदा जीवित जीवोऽसौ यदि रोगैरुपद्रुतः॥

अर्थ=पूर्ण स्वर की ओर वैठकर यदि कोई रोगी के वारे में प्रश्न करता है या वह स्वयं रोगी है तो वह अनेक रोगों से ग्रसित रहने पर भी मर नहीं सकता उस समय। इति।

अन्धादि नक्षत्र एवं फल निर्णय—

मुहूर्त चिन्तामणौ—

अन्धादि नक्षत्र—अन्धाक्षं वसुपुष्यधातृजलभद्वीशार्यमान्याभिधम्,
मन्दाक्षं रविविश्वमित्रजलपाश्लेषाश्चचान्द्रं भवेत्।
मध्याक्षं शिवपित्रजैकचरणत्वाष्ट्रेन्द्र विध्यन्तकम्,
स्वक्षंस्वात्यदितिश्रवोदहनभाहिर्बुध्न्यरक्षोभगम्॥

अर्थ=धनिष्ठा, पुष्य, रोहिणी, पूर्वाषाढ, विशाखा; उत्तराफाल्गुनी, रेवती—ये अन्ध नक्षत्र हैं। हस्त, उत्तराषाढ, अनुराधा, शतभिष, आश्लेषा, अश्विनी, मृगशिरा—ये मन्दाक्ष हैं। आद्रा, मघा, पूर्वाभाद्रपद, चित्रा, ज्येष्ठा, अभिजित् और भरणी—ये मन्दाक्ष हैं। स्वाती, पुनर्वसु, श्रवण, कृत्तिका, उत्तरभाद्रपद, मूल और पूर्वाफाल्गुनी—ये सुलोचन हैं।

अन्धादि नक्षत्रों का फल निर्णय—

विनष्टार्थस्य लाभोऽन्धे शीघ्रं, मन्दे प्रयत्नतः।
स्याद्दूरे श्रवणं मध्ये श्रुत्याप्ती न सुलोचने॥

अर्थ=अन्धाक्ष नक्षत्रों में जो धनादि नष्ट (चोरी आदि) हो जाय तो शीघ्र मिलता है। मन्दाक्ष नक्षत्रों में धन नष्ट हो तो उपाय से मिलता है। मध्याक्ष में नष्ट हो तो दूर (बहुत दिनों के वाद) सुन पड़ता है। और सुलोचन नक्षत्रों में नष्ट हो तो न मिलता और न सुन पड़ता है।

धन के व्यवहार में निषिद्ध नक्षत्र आदि का निर्णय—

तीक्ष्णमिश्रध्रु वोग्रैर्यद् द्रव्यं दत्तं निवेशितम्।
प्रयुक्तं च विनष्टं च विष्टयां पाते च नाप्यते॥

अर्थ=तीक्ष्णसंज्ञक, मिश्रसंज्ञक, ध्रुवसंज्ञक, उग्रसंज्ञक नक्षत्रों में और भद्रा तथा व्यतीपात में जो द्रव्य किसी को दिया जाय, पृथ्वी में गाड़ा जाय या किसी व्यवहार में लगाया जाय अथवा चोरी आदि से नष्ट हो जाय तो फिर प्राप्त नहीं होता है।

धन (ऋण) देने और कर्ज लेने का मुहूर्त—

स्वात्यादित्यमृदुद्विदैवगुरुभे कर्णत्रयाश्चेच्चरे।
लग्ने धर्मसुताष्ट शुद्धि सहिते द्रव्यप्रयोगः शुभः॥

नारे ग्राह्यमृण संक्रमदिनेवृद्धौ करेऽर्केऽह्नि यत् ।
तद्वंशेषु भवेदृणं न च बुधेदेयं कदाचिद्धनम् ।।

अर्थ=स्वाती, पुनर्वसु, मृदुसंज्ञक, विशाखा, पुष्य, श्रवण, धनिष्ठा, शतभिषा और अश्विनी नक्षत्रों में, तथा नवम, पञ्चम, अष्टम इन स्थानो से शुद्धचर लग्न में ऋण देना शुभ है। मङ्गलवार को ऋण न ले। संक्रान्ति के दिन वृद्धियोग, हस्त नक्षत्र युक्त रविवार के दिन ऋण लेने से उनके वंश में ऋण रहता है। बुधवार को कदापि ऋण न देना चाहिये।

रोगारम्भ नक्षत्र फल निर्णय—

स्वातीन्द्र-पूर्वा-शिव-सार्प-भे मृतिर्ज्वरेऽन्त्यमैत्रस्थिरता भवे द्रुजः ।
याम्यश्रवोवारुणतक्षभे शिवा घस्रा हि पक्षोद्व्यधिपार्क वासवे ।।
मूलाग्निदास्रे नव पित्र्यभे नखाबुध्न्यार्यमेज्यादितिधातृभेनगाः ।
मासोऽब्जवैश्वेऽथ यमाहिमूलभे मिश्रेशपित्र्ये फणिदंशने मृतिः ।।

अर्थ=स्वाती, ज्येष्ठा, तीनों पूर्वा, आर्द्रा और आश्लेषा इन नक्षत्रों में यदि ज्वर आरम्भ हो तो मृत्यु होती है। रेवती, अनुराधा नक्षत्र में आरम्भ होने से रोग स्थिर होता है। भरणी, श्रवण, शतभिषा, चित्रा नक्षत्रों में होने से ११ दिन तक, और विशाखा, हस्त और धनिष्ठा नक्षत्रों में होने से १५ दिन तक रोग रहता है। मूल, कृतिका, अश्विनी इन नक्षत्रों में रोग हो तो ९ दिन तक मघा में रोग हो तो २० दिन तक, और उत्तर भाद्रपद, उत्तर फाल्गुनी, पुष्य, पुनर्वसु, रोहिणी नक्षत्रों में हो तो ७ दिन तक, मृगशिरा और उत्तराषाढ में हो तो ३० दिन तक रोग रहता है। तथा भरणी, आश्लेषा, मूल, मिश्र, संज्ञक (कृतिका विशाखा) आर्द्रा और मघा इन नक्षत्रों में यदि सर्प काटे तो मृत्यु होती है।

रोगारम्भ में शीघ्र मृत्यु कारक योग—

रौद्राहिशाक्राम्बुपयाम्यपूर्वाद्विदववस्वग्निषु पापवारे ।
रिक्ताहरिस्कन्ददिने च रोगेशीघ्रं भवेद्रोगिजनस्य मृत्युः ।।

अर्थ=आर्द्रा, आश्लेषा, ज्येष्ठा, शतभिषा, भरणी, तीनों पूर्वा, विशाखा, धनिष्ठा और कृत्तिका नक्षत्रों में और रवि, मङ्गल, शनिवार तथा ४।९।१४।१२।६ तिथि, इन नक्षत्र वार और तिथियों (तीनों के योग) में यदि रोग का आरम्भ हो तो रोगी की मृत्यु शीघ्र होती है।

तिथि नक्षत्र शुद्धि एवं वार तथा नक्षत्र शूल यात्रा विचार—

न षष्ठी न च द्वादशी नाऽष्टमी नो, सिताद्या तिथिः पूर्णिमाऽमानरिक्ता ।
हयादित्य-मैत्रेन्दुजीवान्त्यहस्त श्रवोवासवैरेव यात्रा प्रशस्ता ।।

अर्थ=षष्ठी, द्वादशी, अष्टमी, शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा तथा १५।३०।४।९।१४ इन तिथियों में यात्रा निषिद्ध है। और अश्विनी, पुनर्वसु, अनुराधा मृगशिरा, पुष्य, रेवती, हस्त, श्रवण, धनिष्ठा इन नक्षत्रों में ही यात्रा शुभ है।

वार तथा नक्षत्र शूल—न पूर्वदिशि शक्रभे न बिधु सौरिवारे तथा
नचाऽजपदभेगुरौ यमदिशीन दैत्ये ज्ययोः ।
न पाशिदिशि धातृभे कुजबुधोऽर्यमर्क्षे तथा न सौम्यककुभि व्रजेत्स्वजयजीवितार्थी बुधः ।।

अर्थ=ज्येष्ठा नक्षत्र और शनि, चन्द्रवार में पूर्व दिशा; पूर्वभाद्रपदा, गुरु-वार में दक्षिण; रोहिणी नक्षत्र, शुक्रवार-रविवार में पश्चिम; तथा उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र और मङ्गल बुधवारों में उत्तर दिशा को, जय तथा जीवन चाहने वाला कदापि न जाय।

सर्वाङ्क ज्ञान-योगिनी-विचार तथा आगन्तुक-प्रश्न :—

सर्वाङ्कज्ञान— तिथ्यक्षावारयुतिरद्रिगजाग्नितष्टा स्थानत्रयेऽत्रवियतिप्रथमेऽतिदुःखी।
मध्ये धनक्षतिरथो चरमे मृतिः स्यात् स्थानत्रयेऽङ्कयुजिसौख्य-जयौनिरुक्तौ॥

अर्थ=यात्रा समय के तिथि, नक्षत्र, वारों की संख्या को जोड़कर ३ स्थानों में स्थापित कर क्रम से ७-८-३ का भाग देना, प्रथम स्थान में शून्य बचे तो अति दुःखी हो, दूसरे में शून्य बचे तो धननाश, तीसरे में शून्य बचे तो मृत्यु और तीनों स्थानों में अंक बचे तो सुख और जय होती है। उदाहरण=जैसे, बैशाख शुक्ल ३, मङ्गलवार, रोहिणी नक्षत्र में तिथि ३, वार ३, नक्षत्र ४, इनके जोड़ (३+३+४)=१० हुये। इसे ३ जगह रखा, प्रथम १० में ७ का भाग दिया तो ३ बचे, द्वितीय १० में ८ का भाग दिया २ बचे, तीसरे १० में ३ का भाग दिया तो १ बचा। तीन स्थान में अङ्क बचे, इसका फल सुख विजय है। इसी प्रकार सर्वत्र जानना।

योगिनीविचार—

नवभूम्यः शिववह्नयोऽक्षविश्वेऽर्ककृताः शक्ररसास्तुरङ्गतिथ्यः।
द्विदिशोऽमावसवश्च पूर्वतः स्युस्तिथयः सम्मुखवागमा न शस्ताः॥

अर्थ=९ और १ तिथि में पूर्व में, ३, ११ में अग्नि कोण में, ५।१३ में दक्षिण में, ४।१२ में नैर्ऋति में, ६।१४ में; पश्चिम में, ७।१५ में वायव्य में, २।१० में उत्तर में; ८।३० में ऐशान्य में; योगिनी रहती है। यह सम्मुख और वाम हो तो शुभ नहीं होती है।

अथ आगन्तुक-प्रश्नः—

तिथि प्रहरसंयुक्ता तारकाबारमिश्रिता।
सप्तभिस्तु हरेद्भागं शेषं तु फल मादिशेत्॥
एकशेषे तथास्थाने द्वितीये पथि वर्तते।
तृतीये चार्धमार्गे तु चतुर्थे ग्राममादिशेत्॥
पञ्चमे पुनरावृत्तिः षष्ठे व्याधि युतं वदेत्।
शून्यं ज्ञेयं सप्तमेवै एतत्प्रश्नस्य लक्षणम्॥ इति॥

सप्तमः परिच्छेदः समाप्तः

अर्थ=तिथि; प्रहर, नक्षत्र और दिनों को जोड़कर ७ से भाग दे। यदि १ शेष बचे तो स्थान में, २ बचे तो रास्ते में, ३ बचे तो आधे रास्ते में, ४ बचे तो ग्राम में; ५ बचे तो पुनः आकर लौट जाना जाने, ६ बचे तो रोगी और सात बचे तो शून्य समझे 'मृत्यु हो गयी' यही प्रश्न का लक्षण है।

• ३३—तेतीसवाँ स्वर ज्ञान प्रकरण एवं सप्तम परिच्छेद समाप्त •

उपसंहार

परमाराध्य श्री गुरुदेव तथा करुणा वरुणालय श्री विश्वनाथ की अपार कृपा से। सनातन धर्म मार्तण्ड नामक यह विशाल ग्रन्थ समाप्त हुवा।

अनन्त शास्त्रं बहुवेदितव्यं स्वल्पश्च कालो बहवश्च विघ्नाः।
यत्सारभूतं तदुपासितव्यं हंसो यथा क्षीर मिवाम्बु मिश्रम्॥

अर्थ =ज्ञेय या जानने योग्य शास्त्र अनन्त (अपार) है समय थोड़ा और विघ्न बहुत से हैं इसलिये जो तत्व वस्तु है उसी को ग्रहण करना चाहिये जैसे हंस जल में मिले हुये दूध को जल से अलग कर ग्रहण करता है।

त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये।